पूर्वी उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता का विकास

(1890—1947)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
की डी.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डॉ. ललित जोशी
रीडर, इतिहास विभाग

प्रस्तुतकर्ता
अनिल कुमार सिंह
शोध छात्र (एस.आर.एफ.), इतिहास विभाग

मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
2001

माँ वीणापाणि के अनन्य उपासक,
आदर्श सारस्वत अनुष्ठाता, यशःशेष
गोलोकवासी पूज्य पितामह
श्रीयुत् सरयू सिंह के
दिव्य चरणों में सश्रद्ध समर्पित

...

पुरोवाक्

धर्मनिरपेक्षता के छद्म आवरण से आवेष्ठित, इतिहास एवं राष्ट्रवाद के अनगढ़ तथ्यों एवं तर्कों से संपोषित, साम्प्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है, जिसके समर्थक भी साम्प्रदायिक संज्ञा से सम्बोधित होना पसन्द नहीं करते। यही कारण है कि साम्प्रदायिकता के स्रोतों तथा इसकी सामाजिक स्वीकारोक्ति के सन्दर्भ सूत्रों की खोज करना एक जटिल प्रक्रिया हो जाती है। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान इसका अस्तित्व बना रहा तथा इससे राजनीतिक सूत्रों का संचालन होता रहा, किन्तु खुद इसका प्रयोग करने वाले परस्पर ऐसा न करने का दावा भी करते रहे क्योंकि उनके पास परम्परा एवं अतीत से जुटाये गये अपने तर्क थे। जिसके अनुसार वे अपनी समझ से स्थितियों का सही संचालन कर रहे थे। जो प्रवृत्ति आज भी दृष्टिगत होती है।

ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता जैसे विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य था, किन्तु इस विषय पर शोध करने की मेरी इच्छा ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। जबकि अभी समझ भी विकसित नहीं हुई थी, 1971 में मेरे गृह जनपद आजमगढ़ के फूलपुर कस्बे के समीपस्थ कुछ गाँवों में हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच शिव मन्दिर के जीर्णोद्धार के मुद्दे पर तनाव उत्पन्न हुआ, यद्यपि कि छिट–पुट लूट–पाट की घटनाओं के अलावा कोई हिंसक वारदात नहीं हुई और प्रशासनिक सक्षमता से अल्प समय में ही इस पर नियंत्रण स्थापित कर लिया गया, किन्तु बड़े लोगों द्वारा इस घटना का उल्लेख दंगे के रूप में किया जाता था। स्वाभाविक था जैसे–जैसे समझ विकसित होती गयी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट होता गया और जब अकादमिक सोपानों की यात्रा परास्नातक पर समाप्त हुई और शोध विषय चुनने का प्रश्न आया तो बचपन की यह स्मृति विषय चुनने में मेरी सहायक बनी।

शोध विषय के निर्धारण के बाद परम्परागत स्रोतों के अध्ययन क्रम में यह धारणा बलवती होती गयी कि इसके लिये कुछ नये सन्दर्भ सूत्रों की तलाश की जाय। ऐसी स्थिति में साहित्य में रुचि होने के कारण झुकाव उधर भी बढ़ता गया तथा इसे स्रोत के रूप में स्वीकार करने की इच्छा भी बलवती होती गयी। मेरी समझ में साहित्य भी इतिहास को पुष्ट करने का साधन है, क्योंकि यह प्रबुद्ध समुदाय द्वारा समकालीन समाज को अपने तरीके से देखने तथा उसे समस्या मुक्त करने की कोशिश भी है। यह और बात है कि साहित्य

की अपनी धारणायें एवं मानदण्ड होते हैं तथा परिवेशगत दबाव रचना निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

साहित्य इसलिये भी उपयोगी है कि इससे किसी समाज के विश्वास, विचार, परम्पराओं एवं लक्ष्यों का स्पष्ट निदर्शन भी होता है तथा यह सामाजिक दर्शन आधारभूत सांगठनिक प्रणाली, पद्धतियों एवं तथ्यों को घटनाओं एवं चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही देशकाल एवं परिवेश में विचार कर्म, और अनुभूति को नायकों, प्रतिनायकों एवं घटनाओं के माध्यम से प्रकट कर प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में स्थापित होता है। इसलिए इतिहास केवल राजनीतिक घटनाओं का लेखा–जोखा न बन जाये, इससे बचाने के लिए साहित्य एक उपयोगी स्रोत हो जाता है जब कि उसकी तथ्यात्मक पुष्टि अन्य स्रोतों से कर ली जाय।

इसी दृष्टि से इसका उपयोग शोध प्रबन्ध में किया गया है। अब जबकि शोध प्रबन्ध पूर्णता प्राप्त कर चुका है यह मेरे लिये सपनों के पूरा होने जैसा है। शोध कार्य की पूर्णता में श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ. ललित जोशी ने हर दृष्टि से महती भूमिका निभायी। बिना उनके इस शोध-सिन्धु का संतरण मेरे लिये संभव नही था। परास्नातक छात्र के रूप में प्रथम साक्षात्कार के समय से ही उनका व्यक्तित्व मुझे प्रेरणा देता रहा। शोध अवधि के दौरान उन्होंने विषय के सन्दर्भ में मेरी अन्तर्दृष्टि विकसित की तथा बराबर उत्साहवर्द्धन करते रहे। श्रद्धेय गुरूजी के प्रति आभार प्रकट करना धृष्टता होगी। मैं अपने विभागाध्यक्ष प्रो. एन.आर. फारुकी के प्रति आभारी हूँ क्योंकि शोध अवधि के दौरान मुझे उनसे बार–बार कार्य करते रहने की प्रेरणा मिली। विभाग के अन्य गुरुओं प्रो. वी.सी.पाण्डेय, प्रो. सुशील श्रीवास्तव, डॉ. रीता जोशी, डॉ. पी.एल. विश्वकर्मा, डॉ. हेरम्ब चतुर्वेदी, श्रीमती रंजना कक्कड़, डॉ. कल्पना द्विवेदी, डॉ. वन्दिता वर्मा एवं डॉ. संजय श्रीवास्तव से मुझे जो सहयोग एवं मार्गदर्शन मिला मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ।

मैं आदरणीय गुरुदेव श्री योगेश्वर तिवारी, जिन्होंने शोध कार्य के दौरान आये अवसाद के क्षणों से न केवल मुक्ति दिलायी बल्कि बार–बार कर्म के प्रति जूझने की प्रेरणा भी देते रहे, के प्रति आभार प्रकट करके ऋण–मुक्त नहीं हो सकता। डॉ. मोहम्मद असलम एवं डॉ. वी.के. राय के साथ मुस्लिम राजनीति एवं साम्प्रदायिकता पर हुई बहस का मैं सार्थक उपयोग कर सका हूँ। डॉ. राम मिलन सिंह, श्री सूर्य नारायण सिंह, एवं डॉ. शैलेश उपाध्याय से हिन्दी साहित्य एवं साहित्यकारों की भूमिका को लेकर हुई चर्चा से मैं लाभान्वित हुआ, इन सभी के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

ममतामयी माँ एवं परम पूज्य पिता श्री सत्य नारायण सिंह के आशीर्वाद से ही शोध कार्य पूर्ण हो सका है, उन्होंने मुझे सदैव आशावाद के मूलमन्त्र एवं कर्तव्य पथ पर डटे रहने की प्रेरणा दी। मैं अपने पितृव्य श्री हरिनारायण सिंह के सतत् संरक्षण एवं निर्देशन में अपने पथ, पाथेय और पथ की दिशा निश्चित कर सका, साथ ही उनके व्यक्तित्व से मुझे 'न दैन्यं न पलायनम्' की सीख मिली। पितृव्य श्री शिवमूर्ति सिंह की बार–बार की पूछ–ताछ मेरे लिये नयी ऊर्जा का संचार करता रहा। यह इन्ही लोगों के आशीर्वाद का सुफल है कि शोध-प्रबन्ध वर्तमान कलेवर प्राप्त कर सका। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिसदस्य रहे अग्रज श्री धर्मराज सिंह एवं श्री अरुण कुमार सिंह से इस कार्य क्षेत्र में जाने की प्रेरणा मिली। अग्रज श्री अरविन्द नाथ सिंह, श्री ज्ञान प्रकाश सिंह एवं डॉ. अशोक कुमार सिंह ने शोध कार्य करने के दौरान घरेलू उत्तरदायित्वों से मुक्त कर शोध कार्य को सम्भव बनाया। अनुज अनूप कुमार सिंह एवं आनन्द कुमार सिंह तथा भ्रातृज्य प्रमोद, प्रवीण एवं राघवेन्द्र किसी न किसी रूप में मेरे इस कार्य में सहायक रहे।

मैं अपने शुभेच्छुओं डॉ. उमाशंकर सिंह, डॉ. मनोज मिश्र, डॉ. मनीष कुमार, श्री आनन्द प्रताप नारायण सिंह, श्री संजय कुमार राय, श्री विजय सिंह, श्री दीपक चौबे, श्री आशुतोष सिंह, श्री सत्येन्द्र सिंह एवं श्री विनय प्रकाश सिंह का आभारी हूँ जो किसी न किसी रूप में मेरे शोधकार्य से जुड़े रहे। मैं अपने अति निकटस्थ सम्बन्धियों श्री अजय कुमार सिंह एवं श्री भूपेन्द्र बीर सिंह का ह्रदय से आभारी हूँ क्योंकि शोध कार्य के दौरान बार–बार पूछ–ताछ करके मुझे प्रोत्साहित करते रहे। मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा श्री अरविन्द उपाध्याय, श्री प्रशान्त कुमार सिंह, श्री प्रदीप कुमार सिंह एवं श्री दिनेश कुमार सिंह का जिनके लिये मेरा स्वर हमेशा आदेशात्मक ही रहा, इन सभी के प्रति आभार प्रकट कर मैं इनके सहयोग को न्यून नहीं करना चाहता। घर पर कार्य करने के दौरान मेरे आदेशात्मक स्वर से परिवार के छोटे सदस्य राहुल, रुद्र, प्रियम् एवं हर्ष भी बच नहीं सके और किताब लाओ ! कलम उठाओ ! जैसे आदेशों की पूर्ति करते रहे, उनका स्नेहाधिकार मेरे पास सदैव सुरक्षित है। इस सारस्वत साधना का एक तिहाई कार्य घर पर रह कर पूरा हुआ, स्वाभाविक है कि पूरा परिवार किसी न किसी रूप में मेरे इस कार्य से जुड़ा रहा। उन सभी के प्रति आभार प्रकट कर मैं उनका मूल्यांकन नहीं कर सकता।

स्रोत सामग्री के संचयन में मैंने विभिन्न पुस्तकालयों एवं सरकारी संस्थानों का उपयोग किया। इनमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद म्यूजियम, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग एवं गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान के पुस्तकालयों तथा क्षेत्रीय अभिलेखागार इलाहाबाद एवं राज्य अभिलेखागार लखनऊ में सुरक्षित दस्तावेजों का मैंने उपयोग किया। इनके अधिकारियों एवं कर्मचारियों के सहयोग के प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक मदद से ही यह कार्य सम्भव हो सका। इसके लिए मैं उसका आभारी हूँ।

गुरु–गृह में हमेशा मुझे पारिवारिक वातावरण मिला, मैं इसके लिए श्रीमती ममता जोशी जी का आभारी हूँ। परिणीता आराधना सिंह ने अपने दायित्वों का निर्वहन किया, इससे अधिक क्या अपेक्षा की जा सकती है।

मैं अपने टंककों आयडियल कम्प्यूटर के श्री विशाल बाजपेयी एवं उनके सहायकों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अल्प समय में शोध प्रबन्ध को टंकित किया।

17.12.2001
इलाहाबाद

अनिल कुमार सिंह
शोध छात्र (एस.आर.एफ.)
मध्य. एवं आधु. इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्रकृति द्वारा उद्भूत बाधाओं के निराकरण में मानव सदियों से अनवरत संघर्षरत रहा है। मनुष्य के इस प्रयास में धार्मिक विश्वास कर्मकाण्ड और रीति–रिवाजों का साधन के रूप में आविर्भाव एवं विकास हुआ। इसी प्रकार सामाजिक मुद्दों पर मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष में भी धर्म और कर्मकाण्ड उभरते और विकसित होते रहे हैं। यही कारण है कि जब भौतिक हितों की पूर्ति के लिये धर्म के नाम पर उसके अनुयाइयों को उभारा जाता है, तब साम्प्रदायिक भावना का उदय होता है। अपने सम्प्रदाय के हित एवं सुरक्षा के नाम पर दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को प्रताड़ित करना वस्तुतः साम्प्रदायिकता ही है।

आधुनिक भारतीय इतिहास की दो महत्वपूर्ण परिघटनायें राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता सामाजिक परिवर्तन के इतिहास की समान प्रक्रिया का परिणाम हैं। सॉथ ही औपनिवेशिक शासन के प्रभाव से भारत के रूपान्तरित होते समाज में विकसित हो रहे यथार्थ का प्रतिबिम्ब भी हैं। जिसे दूसरे रूप में औपनिवेशिक शासन से पूर्व की सामाजिक संरचना के उत्पाद के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों के देश भारत में अलग–अलग सम्प्रदायों द्वारा विस्तृत एकता और पहचान की खोज ने विभिन्न प्रकार की चेतनाओ का सृजन किया। इस प्रसार की प्रक्रिया में जाति, स्थानीयता, क्षेत्रीयता, धर्म एवं पंथ जैसी श्रेणियों का प्रयोग नयी विचारधारा एवं पहचान को विकसित करने में किया गया। इस तरह की चेतना से विचारधाराओं के परिष्करण के साथ ही राजनीतिक संगठनों के निर्माण की पृष्ठभूमि भी बनी।

अठारहवीं शताब्दी के पश्चात औपनिवेशिक शासन की परिस्थितियों में राष्ट्र की पहचान की चेतना उभरने लगी थी। यहाँ ध्यातव्य है कि वास्तविक जीवन में सामाजिक विविधता एवं अनेकता के रूप में धर्म की भूमिका विद्यमान थी और जब इसे ही राजनीतिक संगठन, आन्दोलन और अन्य क्रियाकलापों का आधार बनाया जाने लगा तो आन्तरिक अन्तर्विरोध विकसित होता गया। जब इस अन्तर्विरोध को व्यापक आयाम देते हुये सामाजिक–आर्थिक पहलू से जोड़ दिया गया तो धर्म इसके लिये मात्र उपादान रह गया। आर्थिक गतिरोध और

सामाजिक परिवर्तनों को अपने पक्ष में प्रयुक्त करने के लिये अतीत के आख्यानो के आधार पर नये मिथक गढ़े जाने लगे और इतिहास से उदाहरण जुटाकर मत–विभिन्नताओं का उपयोग साम्प्रदायिक भावनाओं को पुष्ट करने में किया जाने लगा।

इसी कारण इस (साम्प्रदायिकता) आधुनिक विचारधारा की खोज औपनिवेशिक शासन से पहले मध्ययुगीन अतीत में की जाने लगी। जैसा कि तुर्क सल्तनत की स्थापना के सन्दर्भ में रमेश चन्द्र मजूमदार का मत है – "अब तक के भारतीय इतिहास में पहली बार दो एकदम अलग–अलग लेकिन प्रमुख समुदाय एवं संस्कृतियाँ एक दूसरे से बिल्कुल रूबरू खड़ी थीं और भारत दो शक्तिशाली इकाइयों में स्थायी रूप से विभाजित हो गया था – जिनमें से प्रत्येक इकाई की अपनी विशिष्ट पहचान थी, जो दोनों के किसी भी प्रकार के विलयन या दोनों के बीच किसी भी तरह के घनिष्ठ स्थायी समन्वय के लिये उपयुक्त नहीं थी।"[1] इतना ही नहीं मजूमदार के अनुसार – "मुस्लिम हमलावरों एवं शासकों ने मन्दिरों एवं मठों का लगभग पूरी तरह विनाश किया। इस तरह उन्होंने हिन्दू संस्कृति को पोषित और पल्लवित करने वाले स्रोतों को नष्ट करके उसका लगभग सफाया ही कर डाला।"[2] किन्तु यदि तथ्यों का सर्वेक्षण किया जाय तो स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन से पहले भारत में साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिंसा कमोवेश अनुपस्थित ही थी।

सैद्धान्तिक रूप से इस्लाम एवं हिन्दुत्व की विविधताओं के बीच बन्धुत्व एवं एकता का विकास हो रहा था। इस्लाम में कई ऐसे पंथ थे, जिनका हिन्दुओं से बहुत कम अन्तर था, जबकि खुद इस्लाम के भीतर गंभीर धार्मिक विभेद देखने को मिलता है, जैसे शिया एवं सुन्नी के बीच। मुसलमानों के बीच अशरफ एवं अजलफ के रूप में जाति विभेद भी दृष्टिगत होता है। अशरफ वे हैं जिनकी उच्च जातीय प्रास्थिति है जो अपने आपको सैयद, शेख, पठान व मुगल कहते हैं, जिनके पूर्वज भारत के बाहर के थे। जबकि अजलफ हिन्दू धर्म से परिवर्तित हैं और बड़े पैमाने पर व्यवसायिक जातियों में विभाजित हैं।[3]

हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच यह विभेद क्षेत्रीय स्तर पर भी विद्यमान था। यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दुओं एवं मुसलमानों में आपसी सहिष्णुता नहीं थी और वे वर्ग, क्षेत्र एवं पंथ के आधार पर एक दूसरे से अलग मानते थे, लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी में 'दो राष्ट्र' नहीं था क्योंकि राष्ट्रवाद का विकास हुआ ही नहीं था। फिर भी 19वीं

शताब्दी के आते—आते आन्तरिक विभेद एवं धर्म के आधार पर अलग—अलग परिभाषित होने लगे थे। इस शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिन्दू एवं इस्लाम दोनों ही धर्मों के लिये सामाजिक एवं धार्मिक सुधार एवं परिष्कार का समय था। इस धार्मिक—सामाजिक चेतना के साथ ही राजनीतिक—सांगठनिक चेतना का उदय हुआ जिससे दोनों सम्प्रदायों के बीच विभेद विकसित हुआ जिसने बाद में एक—दूसरे के बीच प्रतियोगात्मक दक्षता को बढ़ावा दिया।

आर्य समाज आन्दोलन एवं हिन्दू राष्ट्रवादी लेखन जैसे बंकिम चन्द्र द्वारा हिन्दुओं को मुसलमानों के आगमन के पूर्व के गौरवशाली अतीत की याद दिलायी गयी तो मुस्लिम सुधारवादियों द्वारा मुसलमानों के प्राचीन मूल्यों, धरोहर तथा अखिल इस्लामवाद की भावना को बढ़ावा दिया गया। प्रारम्भ में हिन्दू एवं मुस्लिम पुनर्जागरणवादियों ने दोनों समुदायों के मध्य अन्तरों पर बल देने के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सहारा लिया जिससे दोनों के मध्य प्रतिद्वन्दिता का भाव पैदा हुआ, जो आगे चलकर अलगाववाद में परिणत हो गया। ध्यातव्य यह है कि उससे अलग—अलग राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात नहीं हुआ बल्कि दोनों धाराओं का प्रवेश राष्ट्रीय आन्दोलन में हुआ और इससे धार्मिक पहचान भी उभरी। जैसे बंगाली बंकिम चन्द्र से प्रभावित हुये, लाजपत राय आर्य समाज से होते हुये कांग्रेस में आये, तिलक ने हिन्दू उत्सवों का सहारा लिया, गाँधी ने गीता, रामराज्य एवं अहिंसा का समावेश किया तो दूसरी ओर अखिल इस्लामवाद एवं तुर्की खिलाफत की रक्षा का प्रश्न मुस्लिम नेतृत्व द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में जोड़ा गया।

औपनिवेशिक इतिहासकारों द्वारा भी स्थिति को उलझाने का प्रयास किया गया। 1880 के दशक के पूर्व साम्प्रदायिक दंगे नहीं के बराबर हुये किन्तु साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के इतिहासकार कूपलैण्ड बनारस में घटित हिंसक घटनाओं का उल्लेख इसी दृष्टि से करते हैं।[4] इसी तरह की घटनायें 1813 एवं 1877 में आजमगढ़ के मुबारकपुर में भी घटीं। ये हिंसक घटनायें इस बात का प्रमाण हैं कि लोगों के भीतर धार्मिक उद्वेलन विद्यमान था।

जहाँ तक साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रश्न है तो इसे आधुनिक सन्दर्भों में ही देखा जा सकता है। बिपन चन्द्र के अनुसार — साम्प्रदायिकता के एक आधुनिक विचारधारा के रूप में देखना चाहिये न कि औपनिवेशिक अतीत से पहले के अवशेष के रूप में जिसकी जड़ें मध्यकाल में हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले भारत में साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिंसा कमोवेश

नदारद थे। निःसन्देह धर्म उस समय के लोगों के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था। लोग धर्म के नाम पर लड़ते भी थे, धार्मिक उत्पीड़न भी होता था, परन्तु शासक वर्ग की राजनीति का आधार साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दू बनाम मुस्लिम नहीं था। जैसा कि राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में कहा जा सकता है, साम्प्रदायिकता भी औपनिवेशिक प्रभाव के तहत भारत के परिवर्तन का एक उत्पाद थी। यह आधुनिक राजनीति को एक नये दृष्टिकोण से देखने के कारण उत्पन्न हुई। यह धर्म की पुरानी पहचान का प्रयोग करके तथा नयी राजनीति में भागीदारी करने के लिये लोगों को संगठित करने का व्यापक प्रयास था।"[5]

वर्तमान परिवेश पर दृष्टि डालने पर साम्प्रदायिक जटिलता का एहसास होता है और इस जटिल स्थिति के लिये मुख्यतः हमारी असावधानी ही जिम्मेदार है। इसे रोकने के लिये न तो संवैधानिक स्तर पर कोई कोशिश की गयी और न ही सामाजिक स्तर पर किसी नये विकल्प की तलाश की गयी। राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये साम्प्रदायिकता का उपयोग होता रहा। सामान्य आदमी की समझ की परिधि में साम्प्रदायिकता का रूप यह है कि अगर वह हिन्दू है तो मुसलमान को साम्प्रदायिक मानता है और इसके पीछे क्या, क्यों, कैसे को समझने की कोई कोशिश नहीं करता है। यही स्थिति कमोवेश मुसलमानों के साथ भी है। असगर अली इंजीनियर का मानना है — "बदलता हुआ समाज बहुत ही जटिल समस्यायें उत्पन्न करता है, जिनमें एक है जातीय समस्या। भारत में साम्प्रदायिकता एक आधुनिक घटना है, इस अर्थ में कि ब्रिटिश शासन के उदय के साथ सामाजिक—आर्थिक संरचना और परिणामस्वरूप विभिन्न समुदायों के बीच और खासतौर से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक सम्बन्धों में बदलाव आने लगा। परिवर्तनशील बहुलतावादी समाज मुश्किल से साम्प्रदायिक या जातीय तनाव से मुक्त रह पाते हैं।"[6]

इस शोध प्रबन्ध में मैंने साम्प्रदायिकता जैसी आधुनिक सामाजिक परिघटना को उसकी सम्पूर्ण जटिलताओं के साथ समझने की कोशिश की है, क्योंकि किसी भी विचारधारा को तभी ठीक से समझा जा सकता है जबकि उससे जुड़े समस्त अवयवों पर दृष्टि डाली जाय। इसके लिये मैं शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उल्लेख/स्पष्टीकरण आवश्यक समझता हूँ। शोध प्रबन्ध के शीर्षक में प्रयुक्त 'उत्तर प्रदेश' शब्द के बारे में स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसका आशय वर्तमान उत्तर प्रदेश से है, जिसका यह नाम स्वतंत्रता

प्राप्ति के बाद 1947 में रखा गया। 1902 से 1947 तक इसे 'संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध' तथा 1902 से पहले 'उत्तर पश्चिम प्रान्त एवं अवध' के रूप में जाना जाता था।

शोध विषय का क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित है। यहाँ मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि विचारधाराओं के सन्दर्भ में भौगोलिक परिधि निर्धारित करना प्रायः दुष्कर होता है, क्योंकि घट रही घटनाओं के कारण एवं प्रभाव को चिह्नित सीमाओं के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता है। ऐसी घटनाओं की व्यापकता भौगोलिक सीमाओं से कम मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं से अधिक जुड़ी होती है ऐसी स्थिति में घटना विशेष के प्रभाव को सीमित करना मानवीय क्षमता के अन्तर्गत नहीं आता है। लेकिन सीमा की मर्यादा का पालन भी आवश्यक होता है नहीं तो तारतम्यता एवं सातत्यता टूटने का खतरा हमेशा उपस्थित रहता है। ऐसी स्थिति में इसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से तक सीमित करने की कोशिश की गयी है।

यही बात समय सीमा के साथ भी लागू होती है क्योंकि सामाजिक –सांस्कृतिक मुद्दों से जुड़ी घटनाओं को कालावधि में सीमित करना सम्भव नहीं होता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज एवं संस्कृति निर्बन्ध होते हैं। इसलिये सही विश्लेषण, तथ्यपरकता एवं तार्किकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये कहीं न कहीं सीमा रेखा खींचनी ही होती है। इसलिये यह जानते हुये भी कि इतिहास की कोई काल सीमा नहीं हैं तथा यह खण्डित नहीं बल्कि सतत गतिमान प्रक्रिया है, फिर भी सुविधा के लिए एक समय सीमा निर्धारित की गयी है। यह ऐसा समय था जब राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रवाद एवं सम्प्रदायवाद जैसी संवृत्तियाँ दस्तक दे चुकी थीं। इसी परिप्रेक्ष्य में मैंने यह समय चिह्न चुना है।

मैं यह भी स्पष्ट करना चाहूँगा कि स्रोत के रूप में साहित्यिक रचनाओं का व्यापक उपयोग किया गया है। साम्प्रदायिकता के अध्ययन की जो परम्परा रही है प्रायः राष्ट्रीय स्तर पर ही अधिक रही है। साथ ही इसमें नेतृत्व करने वाले उच्च वर्ग एवं सहभागी उच्च मध्यम वर्ग की भूमिकाओं का उल्लेख अधिक रहा है। ऐसी स्थिति में जन सामान्य का एक बड़ा हिस्सा जो इस विचारधारा एवं इसके परिणामों का शिकार होता रहा है, उसका जिक्र नहीं के बराबर या कुछ शब्दों तक सीमित रहा है। इस सीमा का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इतिहास की तलाश सरकारी आँकड़ो एवं अभिलेखों में होती रही है।

निश्चित रूप से इतिहास की पुष्टि का यह एक महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन मेरी दृष्टि में अन्तिम साधन नहीं है और जैसा कि प्रायः देखने में आता है कि अभिलेखों में दर्ज घटनाओं के तथ्य एवं परिणाम सामान्य लोगों की स्मृति एवं धारणाओं से प्रायः काफी भिन्न होते हैं। यह सरकारी परम्परा आज भी बदस्तूर जारी है।

इसलिये मैंने अपने शोध प्रबन्ध में उन साहित्यिक स्रोतों का अधिकाधिक प्रयोग करने की कोशिश की है, जिनमें तत्कालीन जनमानस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति अन्तर्निहित थी। प्रायः रचनाकार/साहित्यकार जनता से सीधे जुड़े हुये थे, उनकी भावनाओं से न केवल सम्बन्ध रखते थे अपितु उनके द्वारा किया गया वर्णन अधिक सहज था। यह इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि जहाँ सरकारी अभिलेख घटनाओं का ब्यौरेवार प्रस्तुतीकरण एवं गणितीय आँकड़ों का संग्रह होता है तथा कारण एवं परिणाम तक सीमित होता है, वहीं साहित्यिक स्रोतों से वैचारिकता के साथ ही घटना विशेष के पीछे छिपी भावना का पूरा ज्ञान हो जाता है तथा सामान्य जन की भागीदारी का सही आकलन भी होता है।

यहाँ मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसके पीछे मेरी यह धारणा कत्तई नहीं है कि मात्र साहित्य ही इतिहास का सही निदर्शन है, यद्यपि कि यह अति यथार्थवाद की ओर संकेत अवश्य करता है, किन्तु तमाम ऐसी स्थितियाँ होती हैं जहाँ साहित्यिक जरूरतों की पूर्ति में साहित्यकार कल्पना एवं परिकल्पना का समावेश भी कर लेता है। अतः ऐसी स्थिति में इतिहासकार का यह दायित्व है कि साक्ष्यों से पुष्टि करके ही तथ्यों का समावेश करे। यहाँ यह दृष्टिगत रखना होगा कि साहित्य मानव समाज की गतिविधियों की संवेदनशील प्रस्तुति है। अतः इसके महत्व को खारिज नहीं किया जा सकता। कालिंगवुड इतिहासकार की तुलना उपन्यासकार से करते हैं। दोनों का सम्बन्ध कल्पना से है और दोनों ऐसे दृश्य की रचना करते हैं, जो घटनाओं के वृतान्त, परिस्थितियों की विवेचना उद्देश्यों की अभिव्यक्ति और पात्र विश्लेषण पर निर्भर करते हैं।[7]

आज यह भी स्वीकार किया जाने लगा है कि साहित्यिक स्रोतों के प्रयोग से इतिहासकार को अतीत में झाँकने के लिये एक ऐसी खिड़की उपलब्ध हो जाती है जिसे परम्परागत स्रोतों से प्राप्त नहीं किया जा सकता।[8] आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में स्रोत सामग्री के रूप में साहित्य का प्रयोग करने की परम्परा नयी है। सामान्यतः किसी घटना/परिदृश्य पर परम्परागत

स्रोतों के मौन होने की स्थिति में साहित्यिक स्रोतों का प्रयोग किया जाता है। रिक्त स्थानों की पूर्ति या स्पष्टीकरण के रूप में पाद–टिप्पणियों में भी इसका उपयोग होता है। साहित्यिक स्रोतों को परम्परागत स्रोतों की दासता से मुक्ति दिलाने एवं प्रतिष्ठित करने की प्रथा नवीन है। सुधीर चन्द्र, पार्थ चटर्जी, सुमित सरकार तथा 'उपाश्रयी' अध्ययन से जुड़े शोध कर्ताओं ने अपनी रचनाओं में इसके लिए अलग–अलग विधाओं का प्रयोग किया है।[9]

इन नवीन अध्ययनों से विदित होता है कि वर्तमान परिवेश में परम्परागत स्रोतों (अर्थात शासक वर्ग द्वारा तैयार किये गये) के पुनर्पाठ की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नयी स्रोत सामग्री (जो शासित वर्ग द्वारा रची गयी हो) के खोज एवं पुनर्व्याख्या की। औपनिवेशिक काल में शासकीय कर्मचारियों, धर्म प्रचारकों एवं लेखकों द्वारा भारत को अन्धकारमय प्रदेश के रूप में व्याख्यायित करते हुये औपनिवेशिक शासन काल को नवजागरण काल के रूप में स्थापित किया गया। इसी काल में नवजागरण के उपादानों के रूप में गजेटियरों, मानचित्रों, शासकीय इतिहासों एवं अन्य वृन्तातों का निर्माण हुआ। सुशासन, शान्ति एवं सुधार जैसे छद्म आदर्शों की आड़ में इन आधिकारिक सूचनाओं द्वारा सरकारी वर्चस्व एवं नियंत्रण में वृद्धि की गयी। इनमें भारतीय इतिहास के वही पहलू शामिल थे जिनसे ब्रिटिश सरकार का सरोकार था। बाद में उत्तर औपनिवेशिक काल में भी इन्ही वृन्तातों के आधार पर इतिहास की पाठ्य पुस्तकें लिखी गयीं। यही कारण है कि आज इतिहास के पुनर्लेखन पुनर्पाठ एवं पुनर्व्याख्या की बहस चल पड़ी है।

भारतीय साहित्य में राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत–प्रोत कृतियों का सृजन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही मिलने लगता है। इसका प्रतिबिम्बन बँग्ला साहित्य में काफी प्रखरता के साथ हुआ है, लेकिन बंकिम चन्द्र की विचारधारा को लेकर विवाद अब भी है कि ये राष्ट्रवाद के प्रतीक थे या हिन्दू सम्प्रदायवाद के। उनके उपन्यासों के अन्तः साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने मुसलमानों एवं उनके शासन की आलोचना की। तुलनात्मक रूप से औपनिवेश्कि शासन की प्रशंसा की और हिन्दू धर्म के परिष्कृत रूप को सर्वोत्कृष्ट माना। यहाँ ध्यातव्य है कि 1857 के विद्रोह के बाद से ही मुस्लिम समाज में यह विश्वास घर कर गया था कि उनके समाज की सुरक्षा अंग्रेजों के साथ मिलने पर ही सम्भव है। अलीगढ़ आन्दोलन एवं सैयद अहमद के विचारों की पृष्ठभूमि में यही विश्वास अन्तर्निहित था। ऐसी स्थिति में परवर्ती चरणों में यह भी स्पष्ट होता जा रहा था कि अंग्रेजों के चले जाने के

बाद जो लोकतंत्र भारत में बनेगा वह हिन्दू लोकतंत्र होगा। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य स्वर के विरोध में मुसलमानों ने अपने इतिहास एवं परम्परा से प्रेरणा ली। यही कारण है कि बंकिम चन्द्र के राष्ट्रवादी साहित्य में हिन्दू सम्प्रदायवाद का प्रतिबिम्ब देखा गया।

रमेशचन्द्र दत्त के इतिहास एवं साहित्यिक ग्रन्थों, शरत चन्द्र के उपन्यासों एवं टैगोर–साहित्य में राजनीति का स्वर तो था ही व्यापक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति भी मिलती है। उर्दू साहित्य में अल्लामा इकबाल (प्रारम्भ में) एवं जोश मलीहाबादी की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में अंग्रेजों का विरोध एवं राष्ट्रवादी चेतना दिखायी पड़ती है। यह और बात है कि इकबाल ने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' लिखने के बाद आगे चलकर अलगाववादी राजनीति के प्रभाव में 'मिल्ली तराना' भी लिख डाला।

साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति के प्रयास के प्रारम्भिक दौर में ही हिन्दी साहित्य क्षेत्रीय बोलियों से मुक्त हो मानक भाषा का निर्माण कर रहा था। साम्राज्यवादी वर्जनाओं के बावजूद हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओं में प्रखर राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति प्रारम्भिक दौर से ही देखने को मिलती है। इसे भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन आरम्भिक रचनाकारों में देखा जा सकता है। बाद में रचनाकारों के लिये यह अभिव्यक्ति क्षेत्र और व्यापक होता गया। धर्म एवं साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर भी हिन्दी साहित्यकारों ने संवाद कायम करते हुये धर्म में व्याप्त पाखण्ड, ढोंग और उसकी साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की आलोचना की। पुरोहितों की मध्यस्थता एवं मठाधीशों के शोषण को अनावृत्त करते हुये साम्प्रदायिक फूट को समाप्त करने एवं साम्प्रदायिक सौहार्द कायम करने की वकालत की, क्योंकि इन साहित्यकारों को औपनिवेशिक शासन के मन्तव्यों एवं साजिशों काँ अच्छी तरह से ज्ञान था।

शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में साम्प्रदायिकता के वैचारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष को रखते हुये इसके लिये जिम्मेदार कारकों/तत्वों की खोज की गयी है। एक ऐसी विचारधारा जिसका कि अतीत में उल्लेख लगभग नहीं के बराबर है जबकि एक लम्बे समय तक मुस्लिम शासन यहाँ कायम था। जो कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सर्वथा विपरीत था। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में सौहार्द एवं सामंजस्य स्थापित करने की तमाम कोशिशें परिलक्षित होती हैं। वहीं औपनिवेशिक शासन के दबाव एवं स्वार्थों के चलते आपसी विभाजन की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है, जिससे साम्प्रदायिकता

जैसी विचारधारा को पनपने का अवसर मिला। हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही सम्प्रदाय के लोग अपने सामुदायिक हितों तक सिमटते गये तथा यह मानने लगे कि धर्म ही भौतिक हितों की एकता का भी आधार है।

एक बार जब ऐसी मनोवृत्ति का निर्माण हो गया तो अपने हितों एवं लक्ष्यों की पूर्ति के लिये साम्प्रदायिक विचारधारा का हिंसक प्रयोग भी शुरू हुआ और इसे विकसित एवं प्रभावी बनाने के लिये इतिहास से उद्धरण जुटाये जाने लगे। साम्प्रदायिक नेताओं द्वारा अपने—अपने अतीत के पक्ष में तमाम तर्क एवं मिथक गढ़े जाने लगे जो सही न होते हुये भी बार—बार पुनरावृत्त होने पर जन सामान्य में सही समझे जाने लगे। इस अध्याय में इन्हीं बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में साम्प्रदायिकता को समझने का प्रयास किया गया है।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता के स्वरूप को विवेचित करने का प्रयास किया गया है। इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली कांग्रेस पार्टी एवं मुस्लिम हिंतों का प्रतिनिधित्व करने वाली मुस्लिम लीग के बीच चल रहे वैचारिक संघर्ष को देखने का प्रयास होगा। यहाँ लीग की इस भूमिका को विवेचित करने का प्रयास होगा कि मुस्लिम हितों की पूर्ति के लिय वह औपनिवेशिक शासन से किस प्रकार समझौते कर रही थी। साथ ही समय—समय पर अपने वर्गीय स्वार्थों की पूर्ति हेतु कांग्रेस का उपयोग भी कर रही थी। इसी क्रम में यह देखने का प्रयास होगा कि कांग्रेस का समझौतावादी रुख किस हद तक साम्प्रदायिकता को विकसित करने में सहायक रहा और मुस्लिम लीग की माँग क्रमशः तीव्रतर होती हुई देश विभाजन तक पहुँची।

शोध—प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में तत्कालीन हिन्दी साहित्य के कतिपय चयनित साहित्यकारों के साहित्य में साम्प्रदायिकता का किस प्रकार निरूपण हो रहा था, इसे देखने का प्रयास किया गया है। इसके लिये मैंने शोध विषय के क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी – निराला एवं श्याम नारायण पाण्डेय की साहित्यिक कृतियों को आधार बनाया है। इस चयन के पीछे मेरा मन्तव्य यह है कि शोध अवधि की पूरी सीमा इन साहित्यकारों द्वारा आच्छादित हो जाती है। साथ ही साहित्य की विभिन्न विधाओं का प्रतिनिधित्व भी इनके साहित्य द्वारा हो जाता है। यह चयन अध्ययन की सुविधा के लिये भी किया गया है। ऐसा करके शेष साहित्यकारों की महत्ता कम करने का उंद्देश्य नहीं है बल्कि सन्दर्भ स्रोतों के अधिक्य से बचने की कोशिश है।

इन साहित्यकारों में पृष्ठभूमि के रूप में भारतेन्दु के उस स्वर को पहचानने की कोशिश होगी जिसमें वे राजभक्ति एवं देशभक्ति के दो ध्रुवों पर लेखन कर्म करते हुये जातीय आग्रह के भाव से मुक्त नहीं हो पाते। इसी प्रकार हरिऔध का साहित्य आद्योपान्त जातीयता एवं हिन्दुत्व के दायरे में घूमता है। प्रेमचन्द जन साहित्य के पुरोधा थे। इसी दृष्टि से साम्प्रदायिकता एवं उस पर उनके प्रहार को उनके साहित्य के माध्यम से देखने की कोशिश होगी। जयशंकर प्रसाद प्रायः ऐसा चित्रण करने से अपने साहित्य को बचाते रहे हैं लेकिन बच नहीं सके हैं। सम्भवतः ऐसा उनकी शान्त एवं अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण था। निराला इस सन्दर्भ में अपने नाम के अनुरूप ही हैं, उनके साहित्य में तमाम ऐसे उद्धरण हैं जहाँ उन्होंने इस विषय पर पूरी बेबाकी के साथ अपनी बात कही है। श्याम नारायण पाण्डेय की रचनायें हिन्दू आख्यानों पर आधारित हैं और उस समय प्रकाशित हुई हैं जबकि राष्ट्रवादी भावनाओं के साथ–साथ साम्प्रदायिक राजनीति भी अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इन बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में ही इन साहित्यकारों के विचारों का विवेचन होगा। साथ ही उन बिन्दुओं पर भी दृष्टि डाली जायेगी जहाँ इन साहित्यकारों द्वारा साम्प्रदायिकता जैसी नकारात्मक मनोवृत्ति पर प्रहार किया गया है तथा सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की गयी है।

शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में पूर्वी उत्तर प्रदेश की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों के विवेचन के साथ ही उन स्थितियों की चर्चा होगी जिनसे साम्प्रदायिकता का निर्माण एवं विकास हुआ। हिन्दी–उर्दू विवाद एवं गोरक्षा आन्दोलन ने कैसे साम्प्रदायिक स्थिति को जटिल बनाया साथ ही परवर्ती चरण में कांग्रेस मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा एवं अन्य छोटे दलों एवं उनके नेताओं की गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय में विभाजन के तुरन्त बाद की स्थिति को विश्लेषित करने का प्रयास होगा। इसके लिये जनसंख्या, विचारधारा, मनःस्थिति, आर्थिक एवं जन हानि–लाभ को दृष्टि में रखने का प्रयास होगा। यहाँ मैंने पुनः तत्कालीन साहित्य के माध्यम से लोगों की मनः स्थिति एवं उससे उठती प्रतिक्रिया को देखने का प्रयास किया है।

शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में साम्प्रदायिकता के निर्माण उसके विकास के प्रमुख घटकों एवं उपादानों का जो विश्लेषण पिछले अध्यायों में किया गया है, उनके सन्दर्भ में एक संतुलित दृष्टिकोण के साथ निष्कर्ष पर

पहुँचने का प्रयास इस दृष्टि के साथ होगा कि क्या सचमुच किसी निष्कर्ष पर पहुँच सका हूँ। वस्तुतः साम्प्रदायिकता तमाम किन्तु–परन्तुओं के बीच आज भी न केवल उलझी हुई है बल्कि दिन–प्रतिदिन नये आयाम ग्रहण करती जा रही है। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता–विषयक बहस में हस्तक्षेप कर उसकी जटिलता को समझने का मेरा यह प्रारम्भिक प्रयत्न इस दृष्टि से माना जाना चाहिये कि इस विषय में कुछ नये पदचिह्न छोड़ सका हूँ।

सन्दर्भ

1. मजूमदार आर.सी., हिस्ट्री एण्ड द कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, खण्ड–5, भारतीय विद्या भवन, पृ. 28
2. वही, पृ. 31
3. अहमद इम्तियाज, द अशरफ–अजलफ डायकाटमी इन मुस्लिम सोशल स्ट्रक्चर इन इंडिया, इण्डियन इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू., अंक–3, 1966, पृ. 268–78, एवं ज्ञान पाण्डेय के कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इंडिया, दिल्ली, 1990 में, पृ. 85–86, एवं 139, पाण्डेय ने अजलफ के लिये राजिल (या मेहनतकश लोग) शब्द का प्रयोग किया है।
4. आर.कूपलैण्ड अपनी पुस्तक कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इंडिया, (लंदन 1944, पृ. 29) पर बनारस के 1809 एवं 1871–72 के दंगों का उल्लेख करते हैं। उनका मानना है कि हिन्दू–मुस्लिम समस्या ही ब्रिटिश शासन के चलते रहने का महत्वपूर्ण कारण थी।
5. चन्द्र बिपन आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृ. 170
6. इंजीनियर असगर अली, हिन्दू–मुस्लिम समस्या : एक सहयोगात्मक प्रयास, असली भारत, फरवरी 1992, पृ. 18
7. कालिंगवुड आर.जी., द आइडिया ऑफ हिस्ट्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1992, पृ. 245
8. जोशी ललित, साहित्य और इतिहास लेख अन्तर्सम्बन्ध–सन्दर्भ गुमानी, इतिहास बोध, इलाहाबाद, 1996, पृ. 48–52
9. सुधीर चन्द्र ने हिन्दी, बँग्ला, गुजराती में उपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया है (लिटरेरी एण्ड सोशल कान्शसनेस इन कालोनियल इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1992) सुमित सरकार की नवीनतम रचना राइटिंग सोशल हिस्ट्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1997 में छठवें, सातवें एवं आठवें अध्याय में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं।

अध्याय 1

औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या

साम्प्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा और अवधारणा है, जिसकी उत्पत्ति के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से देखे जा सकते हैं। जहाँ एक ओर राष्ट्रवाद की अवधारणा 'अग्रदृष्टि, प्रगतिशील और आधुनिक' है, वहीं दूसरी ओर साम्प्रदायिकता पश्चगामी, प्रतिक्रियावादी और मध्यकालीन[1] है इस प्रकार साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद की प्रतिपक्ष है। मोइन शाकिर के अनुसार—''साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता के समानान्तर सत्ता स्थापित कर लेती है। भारतीय सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता का अभिप्राय भारतीय राष्ट्रीयता के विरोध का परिणाम भी हो सकता है। भारतीय समाज के बहुमत का चरित्र और इसकी अनेकता का प्रादुर्भाव समान राष्ट्रीयता की चेतना से हुआ है। भारतीय राष्ट्रवादियों के लिये साम्प्रदायिकता महत्वपूर्ण थी (और है) क्योंकि यह राष्ट्रीयता नहीं थी। भारत में राष्ट्रवादियों के लिये साम्प्रदायिकता शासन तन्त्र के अभिशाप के रूप में है।''[2]

विचारणीय प्रश्न यह है कि मध्ययुग में हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच समुदाय के आधार पर सम्प्रदायगत विभेद देखने को नहीं मिलता। हिन्दू एवं मुसलमानों के त्योहारों में दोनों समुदाय के लोगों की परस्पर भागीदारी का प्रमाण उस समय के दरबारी इतिहासकारों यूरोपीय यात्रियों के विवरणों और अन्य विद्वानों की रचनाओं में देखने को मिलता है।

इस आधार पर एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मध्यकाल में, राजनैतिक विचारधारा के रूप में, न तो साम्प्रदायिकता विद्यमान थी और न ही धर्म के आधार पर लोगों के बीच किसी तरह की हिंसा थी। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जिन लोगों ने उस समय का विवरण प्रस्तुत किया है प्रायः तत्कालीन जन सामान्य की भावनाओं का जिक्र नहीं के बराबर किया है। फिर भी सामान्यतः मान्य विचार यह है कि उस समय सामुदायिक भावना विद्यमान नहीं थी।

हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच समान संस्कृति के निर्माण के साथ—साथ पृथक सामाजिक अस्तित्व की प्रवृत्ति आधुनिक काल के आगमन से पूर्व ही शुरू हो गयी थी। अतः आवश्यक हो जाता है कि अंग्रेजों के आगमन के पश्चात जिस तथ्य को के. एन. पणिक्कर ने 'समुदाय केन्द्रित परिप्रेक्ष्य'[3] के

रूप में देखा है, उसे विवेचित किया जाय। यद्यपि यह माना जा सकता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों (अभिजात) के बीच धार्मिक एवं सांस्कृतिक मतभेद पहले से विद्यमान थे, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस तरह के अन्तर का विकास हो रहा था। विशेषतः उस युग के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच जो मतभेद पिछली एक शताब्दी से चल रहा था, उसका कारण राजनीतिक सर्वोपरिता के लिये चल रहा द्वन्द था। मुस्लिम अलगाववाद की विचारधारा हिन्दुओं एवं मुसलमानों के वस्तुनिष्ठ अन्तरों के कारण ही नहीं थी, बल्कि मुसलमानों एवं हिन्दुओं के बीच कुछ ऐसे प्रतीक थे, जिनका उपयोग अभिजात वर्ग के लोगों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ एवं महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये किया था।[4]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुओं एवं मुसलमानों में अलगाववाद की जिस प्रवृत्ति की व्याख्या इतिहासकारों ने की है उससे दोनों के बीच मौलिक अन्तर की चार मान्यतायें[5] स्पष्ट होती हैं।

1. मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा आधुनिक शिक्षा पद्धति के सन्दर्भ में पिछड़ापन अधिक था। जिसका परिचय अंग्रेजों ने अपने शासन के दौरान कराया। परिणामस्वरूप अपने इस पिछड़ेपन को दूर करने के लिये मुसलमानों ने शैक्षिक और राजनीतिक रूप से संगठित होकर प्रयास किया। इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना और उसके सुदृढ़ीकरण (1857 के विद्रोह के बाद) ने मुस्लिम शासक वर्ग को उसकी स्थिति से विस्थापित कर दिया था, इसलिये वे लोग निराश थे और बाद में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रति उदासीन होने के कारण वे लोग आधुनिक शिक्षा एवं नौकरियों से वंचित हो गये।
2. दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि साधारण मुस्लिम जनता अपनी गरीबी एवं पिछड़ेपन के कारण नई शिक्षा और रोजगार के अवसर का लाभ उठाने में असफल रही और ऐसा मुस्लिम उलेमाओं द्वारा आधुनिक धर्म निरपेक्ष शिक्षा के प्रबल विरोध के कारण हुआ।
3. हिन्दू जो कि इस तरह की भावनाओं से ग्रस्त नहीं थे, इसका भरपूर लाभ उठाते हुये मुसलमानों से आगे निकल गये।
4. अलीगढ़ आन्दोलन के उद्‌भव के पश्चात मुसलमानों ने राजनीतिक रूप से संगठित होते हुये, हिन्दुओं की अपेक्षा अपनी अलाभकारी स्थिति को दूर करने का प्रयास किया। इसके लिये मुसलमानों में

शिक्षा, प्रशासन और राजनीति के क्षेत्रों में विशेष सुविधा की माँग की। मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं एवं कांग्रेस के प्रबल विरोध ने दोनों के बीच तनाव पैदा किया और अन्ततः जिसकी परिणति देश विभाजन के रूप में हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान मुसलमानों में अलगाववाद की प्रवृत्ति के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह पता चलेगा कि जनता राजनीतिक उद्देश्यों की प्राथमिकता की पूर्ति के लिये अपने प्रतीकों का चुनाव करने की प्रक्रिया से किस प्रकार इतिहास को निश्चित दिशा देती है। कोई भी विद्वान जो राष्ट्रीय विचारधारा के विकास और इसकी सफलता का अध्ययन करना चाहता है, उसे समय की वस्तुनिष्ठ स्थिति और प्रतीक के परिचालन की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर एक मिथक का निर्माण करना होता है, जिससे कि राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हो। यह संकेत करना कि ऐतिहासिक मिथक स्वयं में राष्ट्र के विकास में एक तथ्य है, सही इतिहास नहीं है। ऐसा करने से न तो सही इतिहास की ओर जाया जा सकता है और न ही सामाजिक वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है।[6]

इस अध्याय में इसी पृष्ठभूमि के आलोक में औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिक समस्या के मोटे पहलुओं को रेखांकित किया जायेगा। साम्प्रदायिकता क्या है? साम्प्रदायिक दंगों से इसका क्या सम्बन्ध है, इसके उदय के क्या कारण थे? सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्षों को कैसे प्रभावित किया? को विवेचित करने का प्रयास होगा, क्योंकि सामाजिक घटनायें सामान्यतः जटिल और परस्पर विरोधी होती हैं। उन्हें तभी समझा जा सकता है जबकि उनके सभी परस्पर विरोधी पहलुओं पर एक साथ दृष्टिपात किया जाय।

औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिक समस्या पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता की अवधारणा को विवेचित किया जाय। सामान्य रूप से साम्प्रदायिकता का अर्थ ऐसी स्थिति से है, जहाँ दो विभिन्न धार्मिक समुदायों के सदस्य परस्पर भय एवं अविश्वास की स्थिति में रहते हैं। यद्यपि विद्वानों ने इसे कई तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया है। जैसे 'एक विचारधारा के रूप में' 'एक झूठी चेतना के रूप में' 'सीमित संसाधनों के लिये संघर्ष' 'नौकरी के लिये प्रतियोगिता' 'शासक वर्ग द्वारा एक राजनीतिक हथियार के रूप में इसे अपनाया जाना' आदि।

डब्ल्यू. सी. स्मिथ ने इसे परिभाषित करते हुये लिखा है कि "यह प्रत्येक धर्म के अनुयाइयों के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओं पर जोर देती है। साथ ही यह इनके बीच अन्तर और शत्रुता के भाव को भी रेखांकित करती है।"[7] इसी प्रकार बिपन चन्द्र का विचार है कि – 'साम्प्रदायिकता एक ऐसा विश्वास है जिससे यह लगता है कि जिन लोगों का एक ही धर्म है उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित भी समान है।"[8] सैन्ड्रिया फ्रिताँग ने कुछ हटकर इसे परिभाषित करते हुये लिखा है – "यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें धर्म का राजनीतिक स्वरूप प्राथमिक हो जाता है।"[9] शशि जोशी भगवान जोश ने साम्प्रदायिकता की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "इसका स्वरूप मुख्यतः सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है।"[10]

कई अवसरों पर जवाहर लाल नेहरू ने भी साम्प्रदायिकता पर अपनी विस्तृत राय दी है। 1937 में साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में उन्होने लिखा है कि 'साम्प्रदायिकता यह चाहती है कि "राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मामलों में हिन्दू और मुस्लिम अलग–अलग गुटों में कार्य करें तथा परस्पर इस प्रकार का व्यवहार करें जैसा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ करता है और इसी प्रकार का व्यवहार श्रमिक संघों व्यापारिक संस्थानों तथा दूसरी गतिविधियों में करें।"[11] इसी प्रकार 1944 में साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुये लिखा – "यह एक संकीर्ण मनोवृत्ति है, जो एक धर्म समुदाय को अपना आधार बनाती है, परन्तु वास्तव में इसका सम्बन्ध उस वर्ग विशेष के लिये राजनीतिक सत्ता तथा राजनीतिक संरक्षण से है।"[12] बाद में 1955 में उन्होंने लिखा कि – "साम्प्रदायिकता धार्मिक आवरण के पीछे की राजनीति है, जिसमें एक धार्मिक समुदाय को दूसरे समुदाय से घृणा करने के लिये उकसाया जाता है।"[13]

साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में थियोडोर मॉरिसन ने औपनिवेशिक मत को व्यक्त किया है कि "हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच अन्तरों की व्याख्या करना व्यर्थ है। केवल एक मात्र चीज जो वास्तविक है वह यह है कि दोनों स्वयं को अलग मानते हैं। अगर इसे मानक माना जाय तो भारत के मुसलमान एक राष्ट्र हैं और साम्प्रदायिक विभेद वास्तव में एक राष्ट्रीय ईर्ष्या है।"[14] साम्प्रदायिकता इस अर्थ में राष्ट्रवाद है, लेकिन भारतीय राष्ट्रीय नेताओं के लिये साम्प्रदायिकता का महत्व यह था कि यह राष्ट्रवाद नहीं था क्योंकि यह उससे भिन्न था, इसलिये मुख्य दुश्मन था। राष्ट्रीय नेताओं के लिये साम्प्रदायिकता भारतीय राष्ट्रवाद पर एक काला धब्बा था। ज्ञान पाण्डेय का विचार है कि "साम्प्रदायिकता एक तरह का औपनिवेशिक ज्ञान है। विडम्बना यह है कि साम्प्रदायिक लोगों

की तुलना में राष्ट्रवादियों ने ही साम्प्रदायिकता का प्रचार—प्रसार अधिक किया।'[15] साम्प्रदायिकता को परिभाषित करने में समस्या होती है क्योंकि बहुसंख्यक सम्प्रदाय की साम्प्रदायिकता में राष्ट्रीयता के रूप में प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति होती है जबकि अल्पमत में उपराष्ट्रीयता की।[16]

भारतीय सन्दर्भ में सम्प्रदाय शब्द को परिभाषित करते हुये राबर्ट हार्डग्रेव जूनियर कहते हैं कि — "भारत में सामान्यतः समुदाय नस्ल, जाति, भाषायी, या धार्मिक समूह से सम्बन्धित है न कि संयुक्त राज्य की तरह स्थान से।"[17] बिपन चन्द्र की साम्प्रदायिकता की परिभाषा इसके यथासंभव अनेक अर्थ निकालने का प्रयत्न करती है। उनका यह भी विश्वास है कि "सम्बन्धित धार्मिक सम्प्रदाय आधुनिक भारतीय राजनीति के संगठन का आधार बन चुके हैं। भारतीय समाज साम्प्रदायिक पहचान और बँटवारे के लिये अडिग संघर्ष में हमेशा से जलता रहा है। वह पुनः एक सम्प्रदायवादी के मानसिक और वैचारिक गठन पर बल देने का प्रयास करके इसका विस्तार करते हैं। सम्प्रदायवादी मानता है कि भारतीय समाज का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयों पर सर्वाधिक सार्थक विभेद इन्हीं धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर ही होता है। भारतीय समाज अपने अस्तित्व, सामाजिक व्यवहार, सामूहिक या गैर व्यक्तिगत हितों की रक्षा केवल इन धर्म आधारित सम्प्रदायों के सदस्य के रूप में ही कर सकता है। वे उन समरूप सम्प्रदायों जिनका हित, दृष्टिकोण, जीवन शैली आदि समान होती है के सदस्य के अतिरिक्त किसी अन्य ढंग से कभी व्यवहार नहीं करते और न सोचते एवं महसूस करते हैं।"[18]

सम्प्रदाय शब्द जैसा कि भारत में प्रयोग किया जाता है, उन सुविधाजनक अस्पष्ट शब्दों में से एक है जो असमान सामाजिक इकाइयों के उल्लेख में बहुत सहायक है। भारतीय राजनीतिक शब्दावली में 'साम्प्रदायिक' विशेषण सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव वाला शब्द है। इसका प्रयोग उस संगठन के वर्णन में किया जाता है जो जनसंख्या के केवल एक भाग के हित चाहने की धारणा, धर्म एवं परम्परा के नाम पर सामाजिक परिवर्तन के विरोध को बढ़ाता है और यह धारणा सम्पूर्ण समाज के लिये हानिकारक होती है। अतः यह एक विशेषण है जो समाज विरोधी लालच और प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती है।[19]

जी.डी. मिचेल समुदाय शब्द की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि — "वास्तव में यह (समुदाय) ऐसे लोगों की ओर इशारा करता है जो एक भौगोलिक क्षेत्र में एक साथ रहते हैं। एक साथ आर्थिक एवं राजनीतिक

गतिविधियों में भाग लेते हैं और अपने ऊपर स्वयं शासन करते हैं तथा दूसरे के प्रति प्रेम एवं सद्भावना रखते हैं।"[20] यद्यपि कि धर्मों की अधिकता और परम्पराओं में अनेकता साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति नहीं है और श्रद्धा के विभिन्न सोचों के बीच टकराव साम्प्रदायिक सोच का परिणाम नहीं है। मोइन शाकिर के अनुसार – "अपने धर्म के प्रति गर्व साम्प्रदायिकता नहीं है। .... यह अन्य के धर्म और संस्कृति के प्रति घृणा का भाव नहीं है। निष्कर्षतः धर्म अलौकिक विचारों का स्वरूप नहीं है, परन्तु इस प्रकार धर्मों का सामाजिक पहलू अतार्किक एकात्मक समूहों को उत्पन्न कर सकता है।"[21]

हैंस क्रूज के अनुसार इन समूहों का दृष्टिकोण इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है – "साम्प्रदायिकता वहाँ होती है जब इसके सदस्य अपनी धार्मिक निष्ठा राजनीतिक प्रशासन चलाने वाली इकाई के विपरीत विकसित कर लेते हैं।"[22]

साम्प्रदायिकता अपनी महत्वपूर्ण विशेषतायें उस विशेष समूह के इतिहासकारों के इतिहास लेखन से प्राप्त करती है जो औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त थे। यह शुरुआत इस शताब्दी (बीसवीं) के प्रारम्भ में हुई, क्योंकि यह प्रारम्भ में राष्ट्रीयता के उपमहाद्वीपीय संस्करण के रूप में दिखायी पड़ी। लुइस ड्यूमाँट यह विचार व्यक्त करते हैं– "साम्प्रदायिकता अपना अर्थ समान्तर वस्तुओं के साथ अभिव्यक्त करती है। इससे पूर्व औपनिवेशिक लेखकों एवं शासकों के द्वारा रुचिपूर्वक नस्ल, राष्ट्र, राष्ट्रीयता वर्ग जैसे बहुवाचक शब्दो का प्रयोग अधिकता के साथ किया गया, जिसका उद्देश्य उपमहाद्वीप को अलग–अलग राजपूतों, सिखों, मुसलमानों, और भीलों आदि के रूप में व्यक्त करना था।"[23] तुलनात्मक रूप से सामान्य शब्द सम्प्रदाय इसी के बाद सामान्यतया प्रयुक्त होने लगा। इसका एक कारण तो यह था कि शब्द 'नस्ल' डार्विन युग में एक जीव वैज्ञानिक व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त होता था और राष्ट्र शब्द का सही प्रयोग यूरोप और अमेरिका के नये राष्ट्र राज्यों के अस्तित्व में आने के बाद शुरू हुआ। अतः यह जानबूझकर एशिया के लोगों के द्वारा इंकार कर दिया गया।

डब्ल्यू. सी. स्मिथ कहते हैं कि – "भारतीय मुसलमान, मुसलमान और भारतीय दोनों हैं। इस द्वैतता में से जब किसी एक को ही मानने का प्रयास होता है तब स्थिति को हम विस्फोटक कह सकते हैं। यहाँ इन दोनों ध्रुवों के रचनात्मक संश्लेषण में बौद्धिक प्रयास असफल हुये हैं।"[24] भारतीय मुसलमानों

की इस द्वैतता में भारतीयता तथा मुसलमानत्व दोनों तथ्य समान एवं अन्योन्याश्रित हैं। भारतीयता पर अनावश्यक दबाव भारतीयता के सिद्धान्त की पूर्णता की कल्पना करता है, जबकि इसकी अनदेखी करना राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया की जड़ें खोदना है।

मोइन शाकिर का मत है कि – "पाकिस्तान का जन्म साम्प्रदायिकता का परिणाम था। यह समुदाय के भीतर और बाहर भारतीय और मुस्लिम वृत्त खण्डों के मध्य सन्तुलन स्थापित करने में व्यवहारिक असफलता है।"[25]

डब्ल्यू. सी. स्मिथ इस बात को स्वीकार करते हैं कि – "यह इस्लाम ही है जिसने भारतीय मुसलमानों को साम्प्रदायिक बनाया। मुस्लिम जो कि अल्पसंख्यक हैं, अपने को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखा, अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा। भारत की ही तरह मुस्लिम समस्या इथोपिया, थाईलैण्ड एवं फिलीपीन्स में भी है। भारत में साम्प्रदायिकता को ऐतिहासिक तौर पर राष्ट्रीयता के प्रतिपक्ष के रूप में निर्धारित किया गया, ऐसा दूसरे देशों में शायद नहीं है जैसे कि मलेशिया, जबकि वहाँ पर भी साम्प्रदायिकता की समस्या है।"[26]

साधारणतया साम्प्रदायिकता उस स्थिति को इंगित करती है जहाँ विभिन्न धर्मो के लोगों के बीच शक, डर तथा विरोध होता है। बौद्धिक स्तर पर साम्प्रदायिकता सोची–समझी राजनीति के कारण उत्पन्न होती है, जो कि धार्मिक समुदायों के बीच वास्तविक या काल्पनिक डर के कारण होती है। एल. ड्यूमाँट ने अपने निबन्ध 'नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म' में लिखा है कि – "साधारणतया धार्मिक समुदायों के बीच उत्पन्न विरोध को साम्प्रदायिकता कहा जाता है। साम्प्रदायिकता एक संकर, माध्यमिक तथा संक्रमित घटना के रूप में दिखती है।"[27]

सामाजिक विज्ञान में 'साम्प्रदायिकता' एक अवधारणा या सैद्धान्तिक गठन के रूप में नवीन है। वह शायद इतिहास है जिसने प्रथमतः इसका प्रयोग किया। राजनीति शास्त्र एवं समाज शास्त्र ने इसका उपयोग किया। यह कहा जाता है कि साम्प्रदायिकता जैसा कि वर्तमान में प्रयोग किया जाता है धार्मिक विचारधारा का राजनीतिक दोहन है, जो समाज में समूहों को केवल धर्म के आधार पर परिभाषित करता है। यहाँ तक कि यह उपागम समूहों का सम्बन्ध, धन, स्तर, सम्मान और सामर्थ्य सभी खत्म कर देता है।"[28]

इतिहासविद् एवं राजनीति विज्ञानी अक्सर तर्क देते हैं कि साम्प्रदायिकता की जड़ इतिहास में ही वापस जाती है, परन्तु इस प्रवृत्ति को न्याय संगत सिद्ध करने के लिए लोगों द्वारा इतिहास का भी दुरुपयोग किया गया है। ब्रिटिश इतिहासकारों ने संभवतः पहली बार 'साम्प्रदायिकता' शब्द का प्रयोग हिन्दू बनाम मुस्लिम के लिये किया उन्होंने हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल का सीमांकन करके इतिहास को कालों में विभाजित किया जो बाद में प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास के रूप में हो गये।

बेवर और पारसन्स के द्वारा विकसित सामाजिक व्यवहार को सर्वाधिक व्यापक अभिव्यक्ति देने वाला विचार समष्टिक व्यवहार के साथ कार्य करने में समर्थ है। सामूहिक घटनाओं के साथ व्यवहार के मामले में सामाजिक विश्लेषण में ऐसे प्रलाप की प्रवृत्ति होती है मानो यह अदृश्य शक्तियों का कार्य हो। स्मेल्सर कहते हैं कि छोटे समूहों के व्यवहार और सामूहिक व्यवहार की अन्योय क्रिया की प्रकृति में अन्तर है। सामूहिक व्यवहार को परम्परागत व्यवहार की कोटियों की तरह विश्लेषित किया जा सकता है।[29]

सामूहिक व्यवहार की परिभाषा में स्मेल्सर न केवल प्रतिकूल व्यवहार और प्रकोप (Outbrust) को सम्मिलित करते हैं, बल्कि मानदण्ड आधारित आन्दोलनों और मूल्य आधारित आन्दोलनों समेत अन्य आन्दोलनों पर भी विरोध प्रकट करते हैं। स्मेल्सर के लिए सामूहिक व्यवहार दबाव द्वारा उत्पन्न समस्याओं पर संघनित आक्रमण है। उनके अनुसार सामान्य सामाजिक व्यवहार परिभाषित करने योग्य घटकों के मानचित्र और रेखाचित्र के साथ चलता है। हाँलाकि विरोध की स्थिति में व्यवहार के स्थापित मार्ग असफल हो जाते हैं। इस प्रकार बिना ढाँचागत स्थिति में प्रतिकूल प्रकोप से लेकर मानदण्ड विरोधी आन्दोलनों के विभिन्न प्रकार के सामूहिक व्यवहार, दबाव की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते हैं।

प्रतिकूल प्रकोपों की विशिष्ट घटनाओं में जिसके अन्तर्गत स्मेल्सर सावधानीपूर्वक नस्लीय दंगों के साहित्य पर विचार करते हैं, यह विश्वास करते हैं कि दबाव की जिम्मेदारी भलीभाँति परिभाषित समूहों और लोगों के वर्ग को दी जाती है न कि गैर वैयक्तिक बल को। इस तरह के समूहों को हिंसात्मक दण्ड देने और मिटा देने की इच्छा की जाती है। अतः हिंसा का आन्दोलन सामान्यीकृत विश्वासों के विकास की पूर्वकल्पना कर लेता है जो बाद में निशाना बनाये गये लक्ष्यों के प्रतिकूल होता है। स्मेल्सर का यह विचार कुछ

हद तक साम्प्रदायिक दंगो पर बिपन चन्द्र के विचार से मिलता—जुलता है। वह तर्क देते हैं कि साम्प्रदायिक विचारधारा के विकास के कारण ही साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरिये से देखने और गतिशील करने का मार्ग है, जिसको बढ़ावा देना 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ। भारत में साम्प्रदायिक विचारधारा की कल्पना हुई जब समाज समरूप धार्मिक सम्प्रदायों में विभाजित हुआ, जिसके धर्म निरपेक्ष हित समान थे अर्थात उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित दूसरे धर्मों के हितों से अलग और विरुद्ध थे।

भारतीय लोगों में यह धार्मिक पहचान ही थी, जिसने उनके सामाजिक अस्तित्व को प्रभावित किया। इस पहचान के अनुसार संगठित होने में, अन्य पहचानों जैसे वर्ग, भाषायी, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचानों को भी सम्मिलित किया गया भारतीय इस सन्दर्भ में अद्वितीय हैं। अन्य समाजों की तरह विशेषतः आधुनिक पाश्चात्य समाज में इस ढंग से संगठन कभी नहीं दिखा।[30]

भारतीय समाज के इस विचार को उत्पन्न करने तथा आगे बढ़ाने के लिए अंग्रेज औपनिवेशिक शोषकों ने बहुत कुछ किया। उनकी सफलता इस बात से सिद्ध होती है कि भारत की स्वतन्त्रता के दशकों बाद तक बौद्धिक वर्ग से लेकर साधारण वर्ग तक अपने समाज को भूतकाल से लेकर वर्तमान तक वर्ग तथा राष्ट्र जैसी धर्म निरपेक्ष श्रेणियों का उपयोग करते हुये भी धर्म सम्प्रदाय तथा जातीय वर्ग में विश्लेषित करने की धारणा है। कई सालों तक भारतीय इतिहास प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल में विभक्त होने के बजाय हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल में विभक्त था। डब्ल्यू.सी. स्मिथ (1946) प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय समाज के पक्ष को बताने के लिये उपयोग में लायी जाने वाली साम्प्रदायिक श्रेणियों को बड़ी खूबसूरती से पेश किया, लेकिन पश्चिम के उसी पक्ष को सामने लाने में ये व्यर्थ सिद्ध हुई।[31]

भारतीय सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता को व्यक्तिगत माना जा सकता है। पश्चिमी देश जो भारत के अधिक नजदीक हैं इस शब्द का सही ढंग से अर्थ भी नहीं जानते, यद्यपि कि पूर्व में की गयी तुलना जातीयता या युगीन घटनाओं पर आधारित थी। त्वचा के रंग को धर्म के लिये निर्धारित किया जाना महत्वपूर्ण था। बहुत पहले से भारतीय समाज धार्मिक—साम्प्रदायिक श्रेणियों में विभक्त नहीं था। ऐसा अब अधिक विश्वास के साथ कहा जा सकता है। परम्परागत भारतीय समाज में विभिन्न धार्मिक समूह एक दूसरे की अलग—अलग सामाजिक

प्रथाओं एवं धार्मिक कर्मकाण्डों से जुडे हुये थे। हाँलाकि वे आवश्यक रूप से साम्प्रदायिक विभाजन के लिये उत्तरदायी नहीं थे। भारत का इतिहास एवं समाज इस बात का गवाह है कि हिन्दू एवं मुसलमानों के तमाम कर्मकाण्डी विरोध होने के बावजूद कोई साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न नहीं हुआ, जब तक कि उसे उकसाया नहीं गया। फिर भी आज माना जाता है कि साम्प्रदायिकता की वर्तमान जड़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद में निहित है।

साम्प्रदायिक आदर्शवाद और राजनीति दोनों का ही उदय समानान्तर रूप से आज के राजनीतिक क्रिया कलाप में निहित है जिसका आधार लोकमत सामूहिक भागीदारी एवं गतिशीलता है। इस साम्प्रदायिक आदर्शवाद को परिभाषित करना कठिन है। किन्तु बिपन चन्द्र धर्म को साम्प्रदायिक स्तर पर विभक्त करते हैं। साम्प्रदायिक आदर्शवाद इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि कैसे धर्म एक निजी आस्था का विषय होते हुये आम जनता का विषय बन जाता है और आगे चलकर राजनीतिक एवं आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए संगठनात्मक आधार प्रदान करता है।[32]

एस. मोहंती साम्प्रदायिकता को इस रूप में परिभाषित करते है — "जिसमें लोग एक धर्म के साथ—साथ समान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हितों में भी विश्वास करते हैं .... हम कह सकते हैं कि यह विश्वास दो वर्गों में दुश्मनी उत्पन्न करता है।"[33]

असग़र अली इंजीनियर "साम्प्रदायिकता को समाज के उच्च्य वर्ग के लोगों एवं उनके वर्गीय हितों के संघर्ष से जोड़ते हैं।[34] साम्प्रदायिकता वह हथियार है जो जनता को एक साम्प्रदायिक स्तर पर ला सकती है। इंजीनियर के अनुसार — "उच्च्य वर्ग से संघर्ष को हम साम्प्रदायिक धारा से जोड़ सकते हैं। वे कहते हैं कि बँटवारे के पहले उत्तर प्रदेश के सम्भ्रान्त मुस्लिम अपने आप को मुस्लिम लीग से इसलिये जोड़े हुये थे कि वे अपनी प्राप्त सुविधाओं की रक्षा कर सकें। वे इसे हितों की 'आदर्शवादिता' के रूप में प्रतिपादित करते हैं।[35] जातीय दंगों के क्यों और कैसे को वे सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन का परिणाम मानते हैं।[36]

मोइन शाकिर साम्प्रदायिकता की समस्या को राष्ट्रीय एकता से जोड़ते हैं ओर इसकी जड़ों को सामाजिक आर्थिक कारणों में निहित मानते हैं। उनके अनुसार यदि सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ ऐसी नहीं बनायी गयीं, जिससे कि समाज में एकता आ सके तो साम्प्रदायिकता को रोकना मुश्किल होगा और ऐसी व्यवस्थाओं में शासक वर्ग का व्यापक हित जनता के साम्प्रदायिक स्तर पर विभाजित होने में ही होता है।[37]

गुलाम रब्बानी तबन साम्प्रदायिकता को एक सामाजिक समस्या मानते हैं और इसका कारण वे सम्प्रदायवादी ताकतों पर थोपते हैं।[38] हुसैन शाहीन पूर्वाग्रह को साम्प्रदायिकता के 'साफ्टवेयर' के रूप में व्याख्यायित करते हैं और इस साफ्टवेयर से दंगों की उत्पत्ति को हार्डवेयर के रूप में व्याख्यायित करते हैं। वे असगर अली के समरूप विचार रखते हुये तर्क देते हैं कि उच्च वर्ग द्वारा चलाया जाने वाला पूर्वाग्रह 'हार्डवेयर के अभ्यास के लिये होता है। जिससे कि साम्प्रदायिक हिंसा की उत्पत्ति होती है। साम्प्रदायिकता पर टिप्पणी करते हुये हुसैन शाहीन लिखते हैं कि – "यदि किसी व्यक्ति को वर्ग के आधार पर उसके अधिकारों एवं विशेष लाभों से वंचित किया जाता है, तो इससे साम्प्रदायिकता का गठन होता है।[39]

अब्दुल अहमद साम्प्रदायिकता को समाज के दो भिन्न धर्मों /वर्गों के बीच तनाव के रूप में परिभाषित करते हैं। किन्तु परोक्ष तौर पर साम्प्रदायिकता जातिगत आधार पर रोजगार, शिक्षा, वाणिज्य और राजनीति आदि में विभेद का परिणाम होती है।[40]

प्रभा दीक्षित साम्प्रदायिकता की व्याख्या 'राजनीतिक सिद्धान्त' के रूप में करती हैं। जो राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये धार्मिक–सांस्कृतिक विभेदों का उपयोग करता है। वह प्रतिपादित करती हैं कि 'हिन्दू एवं मुसलमानों में साम्प्रदायिकता धार्मिक प्रतिद्वन्दिता के कारण नहीं है बल्कि राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में उत्पन्न हुई और शक्ति प्राप्त करनेके साथ बँधी थी।'[41] वह कहती हैं कि "जब सांस्कृतिक पहचान की भिन्नता राजनीतिक माँग का मुख्य आधार बनती है, तब सांस्कृतिक भिन्नता राजनीतिक सिद्धान्त का रूप ले लेती है।"[42]

जैनाब बानू भी राजनैतिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिकता को इसी भाँति देखती हैं। उनके अनुसार "भारत में साम्प्रदायिकता अनिवार्य रूप से राजनीतिक घटना है। साम्प्रदायिकता का उद्भव सामूहिक पूर्वाग्रह, जातीय भिन्नता, कटुता, दंगा और शक्ति स्रोतों पर नियंत्रण स्थापित करने के संघर्ष के कारण होता है। राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक शक्ति प्राप्त करना ही इसकी जड़ है।"[43] राजनैतिक वैज्ञानिक दस्तूर आलू भी इसको (साम्प्रदायिकता) इसी दृष्टि से देखती हैं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 1906 में आगा खान के नेतृत्व में लार्ड मिण्टो से मिलने वाले प्रतिनिधिमंडल की मुस्लिमों के लिये अलग निर्वाचन क्षेत्र की माँग को साम्प्रदायिकता के विस्तार का कारण मानती हैं।[44] पांडव नायक के अनुसार "साम्प्रदायिकता प्रथमतः एक सैद्धान्तिक विचार है, जो

शासक एवं शासित वर्ग द्वारा प्रतिक्रियावादी एवं प्रगतिशील कारणों से औचित्य प्राप्त करती है। इस प्रकार साम्प्रदायिक वैभिन्नता राजनैतिक स्तर पर बनती है जो वर्गीय आधार पर सैद्धान्तिक रूप लेती है।"[45]

कुछ विद्वानों ने प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में साम्प्रदायिकता को अल्प वर्ग एवं बहुसंख्यक वर्ग की समस्या के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हुमायूँ कबीर के अनुसार 'अल्पवर्ग की समस्या का उद्भव प्रजातन्त्र के लिये प्रथम शर्त है।"[46] वह स्पष्ट करते हैं कि प्रजातन्त्र के पहले अल्पवर्ग का अस्तित्व नहीं था। प्रजातन्त्रीय संस्थाओं के जन्म के बाद शक्ति के विकेन्द्रीकरण से भिन्न–भिन्न शक्ति स्रोतों का उदय हुआ, जिससे अल्प वर्ग और बाहुल्य वर्ग तथा उनके आपसी हित के लिये अलग–अलग समूह बने। कबीर आगे कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ अल्पवर्ग एवं बाहुल्य वर्ग के राजनीतिक हितों में टकराव का कारण बनीं। इसे वे और स्पष्ट करते हैं कि अल्पवर्ग की जागरूकता विशेषकर भारत में हिन्दू–मुसलमान में राजनैतिक दरार का कारण बनी।[48] उनके अनुसार यह एक तथ्य है जिसके द्वारा एक जाति का दूसरे जाति के प्रति भेदभाव करना या गुण–अवगुणों की अनदेखी जाति के आधार पर करना है।

राजनैतिक भेदभाव जनसंख्या के ध्रुवीकरण से उत्पन्न होता है। जातीय भेदभाव, वर्ग भेदभाव की तरह ही मौलिक होता है। जनसंख्या का समूह जातीय आधार पर दंगा प्रभावित क्षेत्रों में काफी महत्वपूर्ण होता है। अतएव इसे काल्पनिक या सैद्धान्तिक मानना वर्गभेद से जातीय समस्या से हटना है।

साम्प्रदायिकता मन की वृत्ति है। यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य की कौन सी वृत्ति जातीय संघर्ष के लिये उत्तरदायी है। अतः साम्प्रदायिक मानसिकता को कौन से तत्व प्रभावित करते हैं इसका विश्लेषण आवश्यक है। जातीयता शब्द जाति समूह शब्द से बना है, जिसका अर्थ है साथ रहना या सामूहिक एकता में हिस्सेदारी करना अर्थात यह अपने लोगों के बीच एकता की ओर संकेत करता है। साम्प्रदायिकता एक आदर्श है जिसका उद्देश्य सामूहिक हित एवं खुशहाली है, लेकिन अब साम्प्रदायिक शब्द का अर्थ इस अर्थ तक ही सीमित नहीं है। समूह एवं समूह के सदस्य का अर्थ है वे लोग जिनका एक ही विश्वास एवं आस्था है। हम साम्प्रदायिक लोगों को उनके नेताओं द्वारा स्थापित सामूहिक विचारधारा पर विश्वास रखने वाले तत्वों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। उनका विश्वास पक्का होता है। वे सम्पूर्ण समाज की अपेक्षा अपने समूह के हित में ही सोचते हैं तथा मानवता एवं समाज की अपेक्षा अपने समूह की जिम्मेदारी लेते हैं।

साम्प्रदायिकता एक सिद्धान्त के रूप में निम्नलिखित चरित्रों में व्यक्त होती है।[49]

1. उनका (साम्प्रदायिकों का) पूर्ण समर्पण अपने विश्वास एवं निष्ठा पर होता है, जिसमें विवेक का कोई स्थान नहीं होता है।
2. यह उस जाति से सम्बन्धित होता है, जिसके वे सदस्य होते हैं, जिसकी एकता पहचानी जाती है।
3. यह दूसरे प्रतिष्ठित नेताओं के विश्वास को परखने को अनिच्छुक होते हैं।
4. यह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में इस विचार धारा द्वारा निर्देशित होते हैं तथा कभी कानून के दायरे से भी ऊपर उठ जाते हैं। अन्य स्थितियों की ओर से आँखे बन्द कर लेते हैं और भावुक हो जाते हैं।

इसे रेखाचित्र के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता एक विचारधारा

क्रियायें, संविधान, कानून विरोधी, सार्वभौमिकता, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद एवं प्रजातन्त्र के विरुद्ध

स्व स्वार्थ, जातीय स्वार्थ, समाज, आर्थिक एवं राजनेतिक क्षेत्र में देखना

अपने जाति समूह के स्वार्थ में सीमित

अपनी वचनबद्धता के प्रति भावुक होकर अपने में संलग्न रहना

स्व

कुछ विश्वास एवं निहितार्थ में दृढ़ रहना

दूसरी विचारधारा को न स्वीकार करना तथा विचार भी करने को तैयार न होना

समान विचारधारा वालों से विचार–विमर्श करना

इस विचारधारा एवं मानसिकता को आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में लागू करना
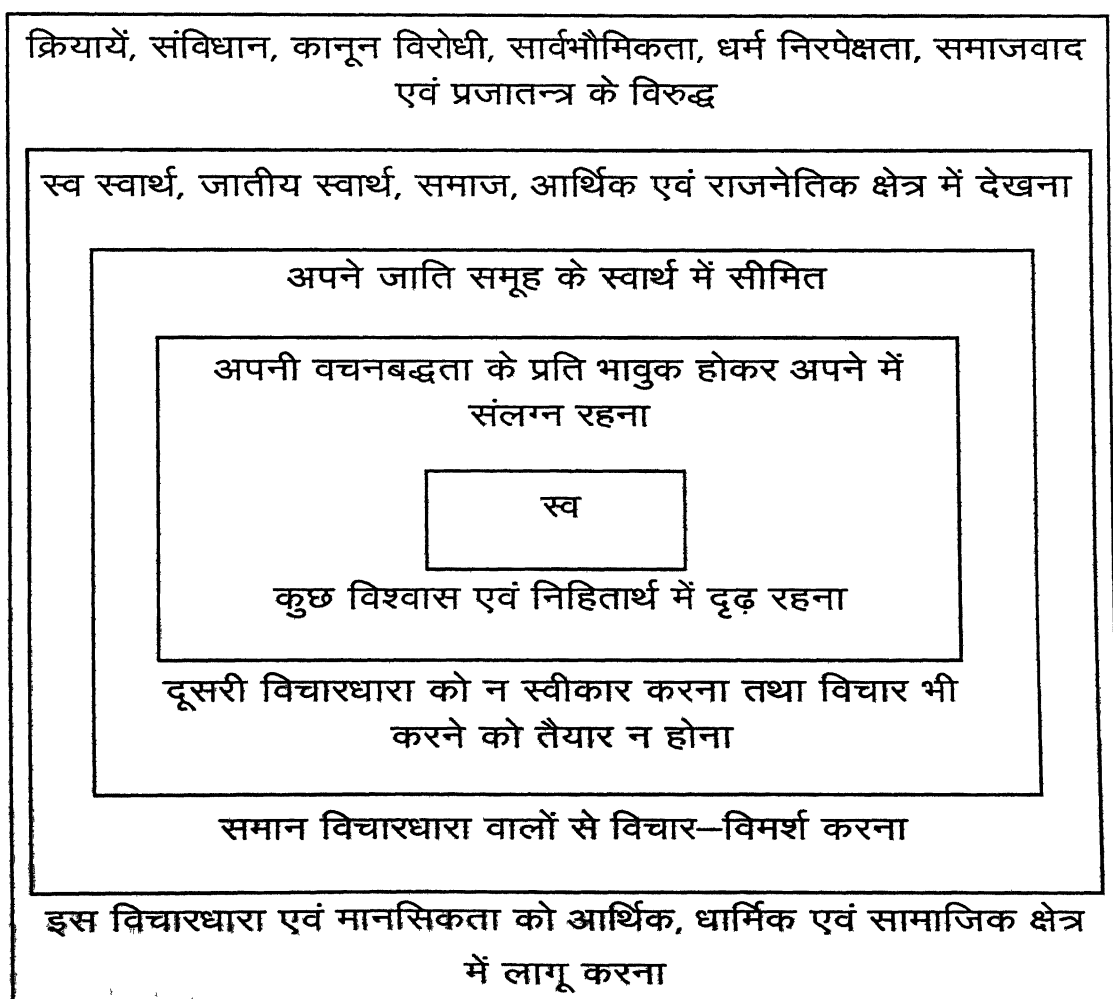
साम्प्रदायिकों का कोई कार्य जो देश की अखण्डता राजनीति और क्षेत्रीयता का उल्लंघन करता है एवं जिसके परिणाम स्वरूप अलगाववादी आन्दोलनों को बल मिलता है, जिससे सामाजिक सिद्धान्तो एवं अवसरों की समानता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यह अवांछित है तथा राष्ट्रविरोधी, धर्म निरपेक्षता विरोधी तथा समाज विरोधी है। वास्तव में साम्प्रदायिकता स्वयं की संतुष्टि या विकास के लिये होती है। जब इसका विस्तार सामाजिक उन्नति के नाम पर व्यक्तिगत होता है तो इसे कानूनी दायरे में रखना कठिन होता है और दूसरी जातियों में विद्वेष का कारण होता है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता की अवधारणा के विवेचन के पश्चात यह आवश्यक हो जाता है कि साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगों के बीच अन्तर को पहचाना जाय। वस्तुतः इन दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न है, यद्यपि कि आभास होता है कि साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगे एक ही शब्द के पर्याय हैं। सामान्यतः साम्प्रदायिकता साम्प्रदायिक दंगों के पहले की स्थिति है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि यह (साम्प्रदायिकता) व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष की मनः स्थिति है, जब कि दंगे इसका बाह्य विस्फोटक स्वरूप हैं।

साम्प्रदायिक हिंसा दंगो, सामूहिक हत्याओं या आतंकवाद के रूप में नाटकीय ढंग से लोगों का ध्यान आकृष्ट करती है। अपने विभिन्न रूपों में भय तथा घृणा की भावनाओं पर आधारित साम्प्रदायिक हिंसा एक विचारधारा के रूप में पूर्व प्रचारित साम्प्रदायिकता के तार्किक विस्तार की विकृत तथा पाशविक अभिव्यक्ति है। यही साम्प्रदायिक वैचारिकता ही वह आधार है जिससे साम्प्रदायिक तनाव एवं हिंसा फैलती है। साम्प्रदायिक हिंसा में राजनैतिक शक्ति तथा सामाजिक एवं धार्मिक मुद्दे भी सम्मिलित होते हैं, परन्तु साम्प्रदायिकता निश्चित रूप से एक ऐसी राजनीति का विकास है, जिसका सामाजिक मुद्दों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[50]

साम्प्रदायिक हिंसा किसी क्षेत्र विशेष के सम्पूर्ण निवासियों को खतरे का आभास कराती है और उन्हें साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा के लिये विवश करती है। धर्म निरपेक्ष व्यक्ति भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा करने को विवश हो जाते हैं। साथ ही अपने जीवन एवं भौतिक संसाधनों की रक्षा के लिये साम्प्रदायिक तत्वों पर आश्रित हो जाते हैं क्योंकि अधिकांश साम्प्रदायिक

दंगे कतिपय सामान्य धार्मिक मुद्दों जैसे—पीपल के पेड़ को काट देना, मस्जिद के आगे बाजा बजाना, होली पर किसी मुसलमान के ऊपर रंग फेंकना, एक गाय की हत्या या किसी पूजा स्थल के अनादर मात्र से ही भड़क जाते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा कुल मिलाकर एक समाज की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के उत्पाद हैं।

साम्प्रदायिकता का स्वरूप चाहे जो हो, यह निश्चित है कि यह सामाजिक राजनीतिक बुराई समाज के विभिन्न स्तरों पर विद्यमान है। इसे व्यक्तिगत सम्बन्ध और हित से लेकर स्थानीय, संस्थागत और राष्ट्रीय राजनीति में भी किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। सामान्यतः साम्प्रदायिक दंगों को साम्प्रदायिक राजनीति का परिणाम माना जाता है। प्रायः साम्प्रदायिक दंगें छिटपुट होते हैं जिसमें निम्न वर्ग के लोगों की भागीदारी अधिक होती है। जातीय दंगों की स्थिति में उच्चवर्ग का नियंत्रण गरीबों पर नहीं होता बल्कि जातीय नेता, जो आवश्यक नहीं कि उच्चवर्ग से सम्बन्धित हों नेतृत्व करते हैं। वे जाति के सामूहिक हित से प्रभावित होते हैं न कि जाति के अमीर वर्ग के हितों से। नेतृत्व बाध्यकारी नहीं होता और न ही बदला जा सकता है। यह स्वेच्छा से उभरता है और सामूहिक हितों के बारे में सोचता है। यह अनुमान कि जातीय संघर्ष उच्च वर्ग के आपसी हितों के कारण होता है, सही नहीं है क्योंकि संघर्ष निम्न जातियों के आपसी मतभेदों से भी होता है। यद्यपि कि मध्य एवं उच्चवर्गीय लोगों की प्रत्यक्ष एवं सक्रिय भागीदारी दृष्टिगत नहीं होती, किन्तु वे सक्रिय लोगों की नैतिक एवं भौतिक सहायता अवश्य करते हैं।

साम्प्रदायिक दंगे विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच वैमनस्य एवं तनाव में वृद्धि करते हैं। इसे (वैमनस्य) ऐसे क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है, जहाँ कि साम्प्रदायिक दंगे नहीं होते। साम्प्रदायिक हिंसा के फलस्वरूप उदारवादी व्यक्ति भी अस्थायी तौर पर साम्प्रदायिक विचारों का पोषण एवं समर्थन करने लगता है। इस तरह एक विषाक्त चक्र अस्थायी रूप में ही सही, लेकिन कार्यरत हो जाता है।

साम्प्रदायिक हिंसा के मनोवैज्ञानिक प्रभावों के बारे में नेहरू ने लिखा है कि 1946 के कलकत्ते के नर संहार ने उन लोगों को भी साम्प्रदायिक मस्तिष्क वाला बना दिया, जो कभी भी इस साम्प्रदायिकता के बारे में सोचते भी नहीं थे।[51] इससे भी बढ़कर जो भावनात्मक अवशेष होता है, उसका दुरुपयोग साम्प्रदायिक विचारक अपना हित (साम्प्रदायिक हित) साधने में करते हैं। इस

प्रकार साम्प्रदायिक हिंसा परिवर्तनशील और ऐतिहासिक घटना होती है। यह लोगों की अवधारणाओं एवं इच्छाओं को निर्धारित एवं परिवर्तित करने में प्रभावकारी होती है। लोग बदल जाते हैं, उनकी पारस्परिक मनोवृत्ति और सोचने का ढंग बदल जाता है।[52]

साम्प्रदायिक हिंसात्मक स्थिति का निर्माण कैसे होता है, इसे स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धान्त हैं। प्रत्येक सिद्धान्त मानव क्रियाकलाप के किसी न किसी अंग से सम्बन्धित होता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार संघर्ष आर्थिक कारणों से होता है। आर्थिक संसाधनों के नियन्त्रण से कुंठा का निर्माण होता है। संघर्ष इनके पुनर्वितरण एवं बँटवारे के लिये होता है।[53] सामाजिक डार्विन वादियों के अनुसार संघर्ष की विचारधारा जीव वैज्ञानिकता के साथ उत्पन्न होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर एवं समनर के अनुसार आधुनिक उद्योगों का नेतृत्व ही समाज का सही प्रतिनिधि है।[54]

आर्थिक सोच एवं विरोधाभास ध्रुवीकरण में भिन्नता का कारण होता है, जिससे कमियों को महसूस कर उत्पन्न कुंठा कई पीढ़ियों में संघर्ष का आधार निर्मित करती है। दंगाग्रस्त क्षेत्र में असामाजिक तत्व भी इसके कारण होते हैं जो दंगा की स्थिति पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विचारणीय यह है कि कुंठा दंगों के रूप में कैसे परिवर्तित होती है।

सभी पहलुओं को दृष्टिगत रखते हुये इसका विवेचन आवश्यक है। विभिन्न शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थ सन्दर्भों में किस प्रकार प्रयुक्त होता है, इसे निम्नलिखित ढंग से समझा जा सकता है।

1. ध्रुवता (Polarity) - ध्रुवता वह स्थिति होती है, जो एकता, अपनत्व, एवं साहचर्य का भाव लाती है जिसे लोग विशेष सन्दर्भों में अपनाते हैं। यह आदर्शवादिता ऐतिहासिक धार्मिक या आर्थिक प्रकृति की हो सकती है।

2. विभाजन तथ्य (Cleavage Phenomenon) - इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि क्षेत्र विशेष में आपसी मतभेदों के कारण जनता बँटी होती है।

3. ध्रुवीकरण—यह दो विपरीत विचार धारा के लोगों का आपसी हितों के लिये एकत्र होना है। इसमें व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में अत्यन्त अपनत्व एवं भावुकता पैदा होती है।

4. सामूहिक प्रभाव (Cluster Effect) - एक समय विशेष में किसी क्षेत्र विशेष में सामूहिक रहन–सहन के कारण उत्पन्न होता है।

5. अत्यधिक निकटता (Clise Proximity) - दो भिन्न समुदाय के लोगों में अत्यधिक नजदीक रहने से आपसी एकता होती है।

यहाँ विभाजन अन्तर सामुदायिक और गैर सामुदायिक दोनों ही प्रकार की साम्प्रदायिकता का वर्णन करता है। यह आपसी वर्ग संघर्ष को महत्व नहीं देता है चाहे वह आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक सम्बन्धों के कारण हो। अतएव यह वास्तविकता की अनदेखी करता है। किसी समस्या के एक ही पहलू पर विचार अनुचित है क्योंकि हिंसा अनेक पहलुओं को एक साथ लेकर होती है। जैसे यह धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक या अन्य कुछ भी हो सकती है। यह कहना व्यर्थ है कि वे एक दूसरे से भिन्न हैं। वास्तव में वे सभी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक स्वयं से उत्पन्न होते हैं। स्व का अर्थ है महत्व और व्यक्तिगत व्यवहार। चूँकि मनुष्य समाज का हिस्सा होता है। अतः इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत व्यवहार की विवेचना महत्वपूर्ण है।

साम्प्रदायिक दंगे सामाजिक वास्तविकता जो एक दूसरे का विरोध करती है, को चित्रित करते हैं। इसीलिये यह आवश्यक है कि दंगों के लिए वातावरण बनाने वाले तत्वों वैरभाव, सम्बन्ध, बनावट आदि की सावधानी पूर्वक विवेचना की जाय। इसके लिये व्यक्ति की मानसिक दशा एवं दंगों के समय की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। अतः अपने अस्तित्व को बचाने के लिये व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक स्थिति को समझना होगा। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में अपने अस्तित्व को बचाने में व्यक्ति अपने को अकेला एवं असुरक्षित पाता है। व्यक्ति कमजोर होता है जबकि मजबूती भीड़ एवं समूह से प्राप्त होती है। अतः शक्ति एवं सुरक्षा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को संगठित होने की प्रेरणा प्राप्त होती है, जो अन्ततः एक दूसरे समूह के प्रति हिंसा के रूप में प्रकट होती है।

'स्व' एवं 'अन्य' की विवेचना से इसे समझा जा सकता है। हिंसा किसी भी समाज में तभी संभव है जब इसे 'स्व' न समझा जाय। अतः यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि 'स्व' या 'अन्य' क्या है? जो वातावरण है उसमें 'स्व' का मूल्य क्या है? 'स्व' को विभिन्न प्रकार से समझा जा सकता है। तुच्छ 'स्व' मनुष्य को एक दूसरे से अलग करता है। यह विचार जातिवाद, धर्म, पारिवारिक

व्यवसाय, जन्म स्थान, भाषा से सम्बन्धित है। विस्तारित 'स्व' में भारतीय, एशियाई एवं यूरोपीय का विचार आता है। यह विचार तब आता है जब व्यक्ति वैश्विक विचारधारा का हो जाता है।[55]

'स्व' का बढ़ा हुआ रूप समाजीकरण है जो वातावरण से प्रतिबन्धित होता है। इस तरह व्यक्ति जाति, समूह, भाषा धर्म एवं वर्ग से प्रभावित होता है। इन सम्बन्धों में परिस्थितियाँ एवं विचार भावनाओं को बढ़ाते हैं और वाह्य स्रोतों द्वारा की गयी अपील वर्ग विशेष में निम्न स्तरीय भावना उत्पन्न करती है। यह ध्रुवीकरण की चरम स्थिति होती है। इस प्रकार पागलपन की स्थिति तक साम्प्रदायिक विचारों का निर्माण व्यक्ति में होता है। यही विचार सामूहिक रूप से संगठित प्रक्रिया का रूप होता है। जातीय नेता एवं संगठन इसी विचार का ध्रुवीकरण करते हैं। इस प्रकार 'इस्लाम खतरे में है' धर्म खतरे में है' का नारा देकर अपील करते हैं।

सामाजिक समूहों का निर्माण समाज में प्रभाव रखने वाले विशेष ध्रुवीकृत लोगों द्वारा किया जाता है। ध्रुवीकरण एक एहसास है, जो आपसी सम्बन्ध, पहचान एवं आकर्षण से उत्पन्न होता है। विभिन्न प्रकार की ध्रुवीयता व्यक्ति के दिमाग में बिखरे रूप में हमेशा रहती है। रोजमर्रा की बातचीत में यह प्रकट होती है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में अपने स्वार्थ खोजता है और इस प्रकार जनसंख्या की सम्बद्धता ध्रुवीकरण से होती है।

यह ध्रुवीकरण दो प्रकार से होता है– स्थायी और अस्थायी। स्थायी ध्रुवीकरण विचारधारा, धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र, रंग और लिंग का होता है। इनका चरित्र ऐतिहासिक होता है। 'स्व' की भावना स्थायी ध्रुवीयता में महत्वपूर्ण पहचान है, जो व्यक्ति में अन्त तक रहती है। अस्थायी ध्रुवीयता, पेशा, अधिकार और कार्य के आधार पर निहित स्वार्थवश होती है। इसमें स्थायित्व नहीं है। यह ध्रुवीयता एकमात्र आपसी नहीं होती। यह तभी एकान्तिक होती है, जब समाज में ध्रुवीकरण के कारण फूट पैदा होती है।

ध्रुवीकृत व्यक्ति/समूह स्वयं से अलग व्यवहार पाते हैं। दूसरों के लिये ध्रुवीयता का कोई महत्व नहीं है क्योंकि जो स्वयं में निहित हो जाता है वह तुच्छ 'स्व' के स्तर का होता है। समूह सामान्यतया उसी ध्रुवीयता के साथ हो जाता है और वही मुख्य कारक हो जाता है। वहाँ की जनता का नजरिया बन जाता है। उत्तर प्रदेश के दंगा प्रभावित क्षेत्र मऊ, बनारस, फिरोजाबाद, मुरादाबाद, अलीगढ़, सम्भल आदि में हुये दंगों के पीछे धर्म, जाति एवं आर्थिक स्थिति मुख्य कारण थे।

एक विशेष समाज, स्थान एवं समय में लोगों द्वारा समान ध्रुवीकरण चिन्तन का निश्चय करने पर जनसंख्या का समूह ध्रुवीयता के आधार पर बनता है। ऐसे समूहों का रहना अहितकर होता है क्योंकि इससे दंगा भड़काने की स्थितियों का खतरा होता है। जैसे–जैसे वैयक्तिक सम्बन्धों की धारा बिगड़ती जाती है तनाव की स्थितियाँ प्रायः आक्रमण अपमान एवं एक दूसरे का परित्याग करने में परिणत हो जाती हैं। चूँकि लोग सामूहिक झुण्डों में रहकर एक दूसरे के अधिक समीप हो जाते हैं। अतः एक छोटी सी दुर्घटना का प्रभाव पूरे समुदाय पर पड़ता है। इससे एक समूह विशेष के लोगों में नजदीकी बढ़ जाती है, जो सामूहिक अव्यवस्था फैलाने में सहायक होती है। किसी भी प्रकार की वैयक्तिक उपेक्षा व्यक्ति विशेष को प्रभावित करती है। विपरीत बदतर परिस्थितियों में ऐसे तनाव या दबाव जो समूहों के बीच पैदा होते हैं, दो दिशाओं में कार्य करते हैं। प्रथम सामूहिक शत्रुता हेतु एकजुटता और द्वितीय बढ़ते सम्पर्को एवं सम्बन्धों के कारण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे तनाव सामूहिक मानसिकता एवं मनोवृत्तियों को जन्म देते हैं। जैसे ही किसी समुदाय में यह चेतना जागृत होती है तो विरोधी समुदाय प्रतिद्वन्दी बन जाता है और व्यक्ति अपना ध्रुवीय स्थान ग्रहण कर अपने–अपने समुदायों से जुड़ जाता है। नेतृत्व का विकास होने लगता है और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तीव्रगति से प्रारम्भ हो जाती है।[57]

आबादी के इस ध्रुवीकरण को यों परिभाषित किया जा सकता है कि भावनात्मक पहचान जो सम्बन्धों की प्रगाढ़ता से पैदा होती है किसी व्यक्ति या समूह को एक कर देती है। इसे हम इस तरह भी कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा उसे समूह या सामूहिक व्यक्तित्व में विकसित होने को प्रेरित करती है। एक समुदाय का ध्रुवीकरण प्रतिद्वन्दी समाज को ध्रुवीकरण हेतु प्रेरित करता है क्योंकि इसे वह अपने लिये चुनौती समझता है। यही कारण है कि जब एक समुदाय द्वारा कोई साम्प्रदायिक आह्वान किया जाता है तो दूसरा समुदाय भी प्रतिक्रिया स्वरूप यही करता है। यह केवल अलगाव नहीं बल्कि पूरे समुदाय को विजातीय मानकर उससे अलग रहने की आत्मनिष्ठ भावना का प्रतीक है। इस अहम् तात्विक प्रवृत्ति की उत्पत्ति विभिन्न स्थितियों में अर्जित अनुभवों के आधार पर परस्पर हितों में टकराव के कारण और वास्तविक हिस्सेदारी, सामाजिक स्तर, प्रतिष्ठा के प्रति दिखाये गये दूसरे समुदाय द्वारा अन्याय के कारण उत्पन्न होती है।

प्रायः लोग उन समूहों में रहना पसन्द करते हैं जिन्हे वे जानते और पहचानते हैं। किसी भी ध्रुवीकरण का आधिपत्य निम्नलिखित कारक तत्वों पर निर्भर करता है।[58]

1. समय एवं क्षेत्र – इसका सम्बन्ध विशिष्ट काल, क्षेत्र, स्थिति और परिस्थिति अर्थात भौगोलिक सीमाओं से होता है।
2. सामाजिक संरचना – वर्तमान सामाजिक संरचना और इसका मिश्रितनिर्माण एवं आपसी सम्बन्ध किसी प्रभावशाली ध्रुवीकरण को प्रभावित करता है। संरचना एक बहुजातीय, बहुधार्मिक प्रक्रिया है, जैसाकि भारत के उदारवादी प्रजातान्त्रिक ढाँचे से स्पष्ट हैं। लोग अपनी जाति, सम्प्रदाय वर्ग और सामाजिक समूहों को देखते हैं। इससे आबादी, समूह एवं समूहों के प्रभाव की ध्रुवीकरण प्रक्रिया को गति मिलती है।
3. शिक्षा – शिक्षा जागृति पैदा करती है, अपने हितों को समझने में सहायक होती है और अपनी रुचि के हितों के चयन को वरीयता प्रदान करती है, यद्यपि एक अनपढ़ आदमी भी अपनी हितकारी परिस्थितियों को समझ सकता है, किन्तु शिक्षा विश्लेषण और समझदारी की क्षमता के विकास में सहायक होती है।
4. निहित आर्थिक तत्व – आर्थिक तत्व जैसे सुअवसर, असमानता और आर्थिक हितों के बीच टकराव ही लोगों में ध्रुवीकरण की भावना जागृत करते हैं। इस प्रकार प्रभावशाली ध्रुवीकरण चयन एवं वरीयता की सुविधा, मानक तथा जनता द्वारा प्रदर्शित रुझान से उत्पन्न होता है।
5. राजनैतिक नेतृत्व एवं दल जनमत का ध्रुवीकरण सामुदायिक नारों, जातीय आकांक्षाओं, भावनात्मक भाषण, आश्वासन एवं नीतियों के द्वारा करते हैं।

कुछ ध्रुवों पर जनता का निर्णय इसलिए संभव हो पाता है कि वे समझते हैं कि ऐसा करके वे अपने हितों की सुरक्षा कर सकेगें। स्कोस्टर का कहना है कि भय और झूठ की तनावपूर्ण स्थितियों में लोगों में एक–दूसरे के प्रति प्रगाढ़ इच्छा जग जाती है।

मानवीय ध्रुवीकरण का निरीक्षण एक संगठित ओर जुड़े हुये समूह को प्रदर्शित करता है। जो निम्नलिखित बिन्दुओं पर आधारित है।[59]

1. एक बहुध्रुवीय समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अंचलों में व्यक्ति विरोधाभासी सहअस्तित्व में कमजोर दिखायी देता है।
2. व्यक्ति समझता है कि सामूहिक हितों में उसका भी हित सन्निहित है।
3. सामूहिक हित व्यक्ति के हितों में तब समाहित होता है, जब वह पूर्ण का अविभाज्य अंग होता है। यही कारण है कि स्क्रोमिस ने जिन दो विभिन्न समुदायों के व्यक्तियों की चर्चा की है, वह सामुदायिक कलह में बदल जाता है।
4. देश का कानून समूह या ध्रुवीकरण की आज्ञा देता है। यही कारण है कि कुछ राजनीति विज्ञानी साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्ष भारतीय प्रजातन्त्र का मानस पुत्र कहते हैं।
5. जब समाज सामन्तवादी और बहुलवादी होता है, तब यह सभी सामाजिक समूहों के हितों को समान अवसर प्रदान करते हुये संरक्षण प्रदान करता है। जिससे प्रतिस्पर्धा, परस्पर हितों के बीच तनाव एवं कलह उत्पन्न होती है, जो कुण्ठा की स्थितियों का निर्माण करती है।
6. एक व्यक्ति द्वारा दूसरे समुदाय के किसी व्यक्ति के प्रति की गयी चोट या नुकसान दूसरे समुदाय का नुकसान समझा जाता है। इसीलिये दंगों के बीच निरपराध लोगों की हत्यायें की जाती हैं।
7. वर्तमान घृणा, ऐतिहासिक अनुभवों और पूर्वानुमानित धारणायें सामाजिक समूहों के विरुद्ध व्यक्ति के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करती हैं, जिनके साथ अतीत के कड़वे अनुभव जुड़े होते हैं। ऐसा ध्रुवीकरण जो गहरी घृणा पर आधारित है, जनता को कानून विहीन, गन्दी, सामाजिक उठापटक में झोंक देता है।

सामुदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया सहभागिता के विचारों एवं दृष्टिकोणों के आधार पर पैदा होती है, जो एक निश्चित लक्ष्य के पहचान के मुद्दे तक पहुँचती है। आम जनता इन मुद्दों को पहचान जाती है और एक सामूहिक चेतना विकसित करती है। सामूहिक चेतना अपने नये संवेगों का निर्माण करती है या नेताओं द्वारा निर्मित की जाती है। यदि ऐसे नेताओं का सम्बन्ध किन्हीं साम्प्रदायिक संगठनों से होता है तो यह भावनात्मक संवेग बड़ी तीव्र गति से किसी योजना के तहत बढ़ाये जाते हैं। इन मुद्दों से सम्बन्धित जनता की कुण्ठा की जड़ें बहुत पुरानी और गहराई तक सामूहिक चेतना में फैली होती हैं और अपने मार्गों का निर्माण किया करती हैं। सामूहिक चेतना और जागरूकता

एक ध्रुवीकृत सामूहिक व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं और इस सामूहिक चेतना से जिन नेताओं का अभ्युदय होता है उनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि ध्रुवीकरण की प्रक्रिया बलवती होकर साम्प्रदायिक दंगों के रूप में प्रस्फुटित हो जाती है।

यह घटनात्मक सामूहिक व्यवहार अकारण ही नहीं पैदा होते, बल्कि इन्हें मूल्यों के तार्किक आधार पर संगठित किया जाता है। स्मेल्सर इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि प्रत्येक घटना की एक सीमा होती है, जिसके पश्चात दूसरी घटना उसे कार्यान्वित करती है।[60] अर्थात पहले वाली घटना आने वाली घटना के क्रियाकलापों का आधार प्रस्तुत करती है।

वी.वी. सिंह ने ध्रुवीकरण के कारक अवयवों को इस प्रकार विश्लेषित किया है–

	ध्रुवीकरण की प्रक्रिया	**अवयवीय क्रियात्मकता**
साम्प्रदायिक संगठन ध्रुवीकरण के विभिन्न स्तरों को निम्नलिखित आधारों पर गति प्रदान करते हैं — ◆ जनता को मुद्दों की पहचान करने में सहायता प्रदान करना, ◆ जनसम्पर्क से वैचारिक आदान–प्रदान का अवसर मुहैया कराना और नेतृत्व प्रदान करना।	◆ सामाजिक संरचना में समूहो पर आधारित झुण्ड, ◆ ध्रवों पर आधारित समूहों को प्रभावित करने वाले मुद्दों की पहचान, ◆ दूसरों से सम्पर्क स्थापित कर सामूहिक व्यक्तित्व और चेतना का विकास करना, ◆ नेतृत्व का विकास, संगठन और काल योजना के प्रति संगठित प्रयास।	◆ अविभाज्य अवयवीय तनाव एवं दबाव, ◆ निष्कर्षों पर आधारित विश्वास, ◆ कारक तत्वों की खोज ◆ कार्य योजना के प्रति प्रेरणा, ◆ सामाजिक नियंत्रण की क्रियान्विति।

घनघोर प्रतिस्पर्धा का यह भावनात्मक प्रदर्शन बहुत से अन्य कारक तत्वों द्वारा उत्पन्न होता है जिसे पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ — आर्थिक हित में टकराव के कारण लोग दो अलग ध्रुवों पर संगठित हो जाते हैं। इसे आगे चलकर राजनैतिक हितों में पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण समझना चाहिये। अर्थात :

1. आर्थिक आधारों पर ध्रुवीकरण 2. राजनैतिक कारकों के कारण ध्रुवीकरण। इस प्रकार अलग–अलग दो ध्रुवों पर विघटित होकर संगठित होने के अवसर बढ़ जाते हैं। पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं।

जैसे घृणा लोगों को संगठित करने में अहम् भूमिका निभाती है। पूर्व अतीत के अनुभवों, खुलेपन के क्रिया कलाप और रिश्तों के आधार पर इस घृणा का निर्माण होता है। इस क्षेत्र में इतिहास अहम् भूमिका निभाता है। ईर्ष्या किसी व्यक्ति में द्वेष की भावना भरकर उसे अलग कर देती है और दृष्टिकोण निर्माण को प्रभावित करती है। समुदाय द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण व्यक्तियों के संगठित होने में सहायक होकर एक सामूहिक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता करता है। ईर्ष्या का आधार पूर्व या अतीत का इतिहास होता है। समाज को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिये कि वह अप्रिय घटनाओं की स्थितियों को समझकर ईर्ष्या एवं द्वेष पर विजय प्राप्त कर सके क्योंकि पूर्व में किया गया कोई कार्य वर्तमान के क्रियाकलाप से बदला नहीं जा सकता। दूसरे के सम्पर्क में आने पर ही ईर्ष्या द्वेष को कम किया जा सकता है। खुले सम्पर्कों का सिद्धान्त जैसे– उन्हें अपनाना, सुविधा प्रदान करना ओर खुलेपन के द्वारा कारक तात्विक प्रेरणा को कम किया जा सकता है। [61]

ध्रुवीकरण का एक पक्ष अन्तर सामुदायिक ध्रुवीकरण है। किसी भी धार्मिक एवं ध्रुवीकृत समुदाय में चाहे कितनी भी एकजुटता हो उसमें छोटे–छोटे वर्ग समुदाय या समूहों का अस्तित्व होता है। जब तक लोग किसी ध्रुवीकरण को अंगीकार नहीं करते तब तक समुदाय एकजुटता के साथ एक रहता है, किन्तु जैसे ही उपध्रुवीकरण का प्रारम्भ होता है, तो उपसमूह मतभेदों के साथ उभर कर पहचान में आ जाते हैं। इसलिये उपध्रुवीकृत समूह को सम्पूर्ण समुदाय के समक्ष वरीयता देना एक अन्तर सामुदायिक संघर्ष का स्वरूप प्रदर्शित करता है। जब तक उपध्रुवीकृत समूहों को वरीयता नहीं मिलती तब तक ध्रुवीकृत आधारों की आबादी संगठित एकताबद्ध और एक जुट होती है।

इनके ध्रुवीकरण का आधार क्षेत्रीय, जातीय और भाषायी हो सकता है। मुसलमानों में शिया, सुन्नी और अहमदिया उपध्रुवीकृत समूह हैं और हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, सनातनधर्मी और वेदान्ती आदि उपध्रुवीकृत समूह हैं। ईसाइयों में प्रोटेस्टेंन्ट और कैथोलिक और सिखों में मजहबी, निरंकारी एवं जाति आधारित जाट, भापे, घूदे आदि उपध्रुवीकृत समूह हैं। यद्यपि कि सिख और मुसलमान एक जुट समूह हैं, फिर भी इनमें छोटे–छोटे समूहों का अस्तित्व है।

उपसमूह की पहचान के कारक तत्व ही इनको पहचान प्रदान करते हैं। जैसे ही अलगाव एवं अलग अस्तित्व की प्रवृत्ति पैदा होती है तो मतभेद और अलग रास्तों के कारण बहुलवाद पैदा होता है और यह अलगाव क्षेत्रीयता, जातीयता तथा भाषायी आधार पर बँट जाता है। ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा इसे समझा जा सकता है। जैसे – पाकिस्तान का निर्माण धार्मिक ध्रुवीकरण के कारण और आगे पुनः पाकिस्तान का बँटवारा एवं बाँग्लादेश का निर्माण भाषायी ध्रुवीकरण के आधार पर हुआ। इसके भी आगे पख्तून अपनी क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक स्वायत्तता के लिये पाकिस्तान के मुसलमानों से लड़ाई कर रहे हैं।

जैसे ही समूह से कोई छोटा समूह अलग होता है तो यह अपनी पहचान अलग छोटे ध्रुव के रूप में करने लगता है और व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्तियों से अपने को भिन्न मानता है। उदाहरणार्थ जब कोई सिख अपने को निरंकारी समझने लगता है या कोई मुसलमान अपने को अहमदिया समझने लगता है तो वह समुदाय के अन्य सदस्यों से भिन्न प्रतीत होता है और जब यह प्रक्रिया चल निकलती है तो बनने वाला समूह पहले के मूल समूह से बिल्कुल भिन्न होता है। अन्तर–समुदायों के मतभेद, द्वन्द और संघर्ष व्यक्तियों के विभिन्न व्यवहारों पर आधारित होते हैं।

एक जुटता की प्रक्रिया मतभेदों, वंचित अवरोधों और हितों में संघर्ष से प्रारम्भ होती है। ऐसी परिस्थिति में छोटे ध्रुवों पर आधारित ध्रुवीकृत आबादी बाकी समुदाय को अपना शत्रु समझती है। एक संगठित पहचान वाले समूह का अभ्युदय होता है, जिसमें अलगाव की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। यदि ऐसा समूह शक्ति प्राप्त कर लेता है तो किसी भी संघर्ष के दबाव का सामना कर लेता है और यदि ऐसी आबादी समुदाय की एक निश्चित पहचान वाले झुण्ड में रहती है तो दंगा उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ बन जाती हैं। जैसा कि लखनऊ में शिया और सुन्नियों के दंगे मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार सिखों एवं निरंकारी सिखों में दिल्ली और पंजाब में तथा उत्तर प्रदेश बिहार एवं मध्यप्रदेश में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा दलित हिन्दुओं पर आक्रमण को अन्तर सामुदायिक उपद्रव के रूप में देखा जा सकता है।

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की व्यवहारिक परिणति साम्प्रदायिक हिंसा के रूप में होती है। इसके प्रस्फुटन में अफवाहों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। इन अफवाहों के द्वारा दंगा पैदा करने वाले तत्वों पर आधारित बहुध्रुवीय इलाकों में रहने वाले लोग सम्बन्धित समूह के पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति के कारण

आन्दोलित हो जाते हैं। इन अफवाहों और सूचनाओं से तनाव और शत्रुता बढ़ती है तथा दंगे का खतरा पैदा हो जाता है। इन बस्तियों के क्षेत्रीय सामुदायिक संगठन और साम्प्रदायिक आधार पर आधारित राजनीतिक दल अपनी भावनात्मक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के द्वारा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर देते हैं।

अफवाहें वह महत्वपूर्ण हथियार हैं जिससे समाज और लोगों में तनाव ओर उत्तेजना फैलती है। अफवाह संदेह की भावना, असुरक्षा, धमकी और भय का वातावरण बनाती है। अफवाह गरम सामाजिक माहौल में फैलती है और इसे लगातार गरम करती रहती है। ऐसी स्थिति में अफवाहों पर विश्वास हो जाता है। लोग उन पर निर्भर करने लगते हैं और अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं। यह एक बहुत ही गंभीर एवं प्रभावशाली हथियार है, जो लोगों को ऊँचे दर्जे तक अमानवीय बना देती है।

अफवाहों के निम्नलिखित अंग हैं :

1. यह अंशतः मिथ्या सन्दर्भों पर आधारित बयान है।
2. यह बढ़ा—चढ़ाकर बनाया गया चुम्बकीय बयान है।
3. यह सोद्देश्य होती है तथा किसी व्यक्ति, संगठन या समूह को भावनात्मक, मानसिक और भौतिक रूप से चोट पहुँचाती है।
4. एक संवेगात्मक लहर पैदा करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

अफवाहें यदि एक बार फैला दी जाँय, तो इन्हें नियंत्रित करना बहुत ही कठिन है क्योंकि हर नया आदमी इनमें नये सन्दर्भ जोड़कर बढ़ाता रहता है। इन्हें अधिक चुटीला ओर धारदार बनाने के लिए तथ्यों को तोड़—मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता है। अभिव्यक्ति की ये श्रृंखलायें कई गुना बढ़ती जाती हैं और इन्हें गिन पाना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार अफवाहें समाज के एक विस्तृत अंचल में फैल जाती हैं। आपत्ति और दर्द की घनीभूत पीड़ा इन फैलती हुई अफवाहों के द्वारा पैदा की जाती है।

यह अफवाह उन लोगों द्वारा फैलायी जाती है जो ध्रुवीकृत जनसंख्या के बीच रहते हैं। हिंसा के प्रति अधिक संवेदनशील लोग इन घटनाओं को संदेह की दृष्टि से देखकर असुरक्षा की अफवाह फैलाते हैं। अपने अनुभवों से इसे नये तरीके से गढ़कर उत्सुकतापूर्वक लोगों के बीच फैलाते हैं। वे अपने आपको ध्रुवीकृत समाज का जिम्मेदार सदस्य समझते हैं, लेकिन वास्तव में गैर

जिम्मेदार ढंग से अफवाहों को फैलाते हैं। चूँकि अफवाहों का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक संदेहों से होता है, अतः वे इसे बेहिचक स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार विस्फोटक स्थितियों का निर्माण होने लगता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जहाँ साम्प्रदायिकता व्यक्ति या समूह की मनः स्थिति है वहीं साम्प्रदायिक हिंसा इसका वाह्य विस्फोटक स्वरूप है जो कि ध्रुवीकृत समूहों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। जिसके पीछे उनके निहित स्वार्थ काम करते हैं। ऐसी स्थिति में राजनैतिक एवं धार्मिक तत्वों द्वारा मंच, संगठन, नेतृत्व एवं कार्ययोजना प्रस्तुत की जाती है। साम्प्रदायिकता का राजनीतिकरण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज कर समूहीकरण को प्रोत्साहन देता है। जजबातों को भड़काकर दंगे करा दिये जाते हैं। आम आदमी की सहभागिता शुरू हो जाती है और तब तक चलती रहती है जब तक कि कठोर प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा इसे नियंत्रित नहीं किया जाता।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता क्या है? तथा इसकी हिंसात्मक अभिव्यक्ति कैसे होती है ? के विवेचन के पश्चात इसके उदय और विकास के कारणों पर राष्ट्रीय सन्दर्भ में दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर इसके उदय एवं विकास के लिये तमाम परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं।

औपनिवेशिक काल में जो सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि विकसित हुई, उसे सन्दर्भित किया जा सकता है। वास्तव में साम्प्रदायिकता भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक चरित्र के लक्षणों में से एक और उपनिवेशवाद के फलस्वरूप अवरुद्ध विकास का परिणाम है। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, अल्पविकास और आर्थिक ठहराव ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की, जिसने समाज के भीतर अत्यधिक विभाजन एवं शत्रुता के साथ ही समाज के उग्र रूपान्तरण को विकसित किया। उपनिवेशवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में यह बात मध्यम वर्ग पर विशेषतः सत्य थी, जो कि ईर्ष्या निराशा तथा आशंकाओं से ग्रस्त था। विशेष रूप से निम्न एवं मध्यम वर्ग के शिक्षित लोगों के बीच, जिनके बीच भूमि का सहारा भी नहीं था, सरकारी नौकरियाँ पाना कठिन होता जा रहा था। सुशिक्षित युवकों के लिये आर्थिक उपलब्धियों एवं सफलता के अवसर घट रहे थे।

आर्थिक मंदी की अवधि (1921–31) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह स्थिति और उभरकर सामने आयी। इसके परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग, निम्न

वर्ग और नवशिक्षित लोगों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति और अवसरों में विशेषतः गिरावट आती गयी। वे निरन्तर बेरोजगारी के भय से आक्रान्त रहते थे। इतना ही नहीं निम्न मध्यम वर्ग का चौतरफा शोषण होता था, जिसमें देशी साहूकार, व्यापारी एवं पूँजीपति सभी सम्मिलित थे।

आर्थिक गतिरोध के कारण अत्यल्प अवसरों एवं संसाधनों के लिये मध्यमवर्गीय भारतीयों को एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती थी। तत्कालीन परिस्थितियों में मध्यमवर्गीय मुसलमानों का सोचना था कि सरकारी नौकरियों एवं व्यवसायों में मुसलमानों का हिस्सा बढ़ा दिया जाय तो नौकरियों एवं व्यवसायों के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा में उनकी स्थिति मजबूत रहेगी। इसीलिये मध्यमवर्गीय हिन्दुओं का विचार था कि मुसलमानों के हिस्से में वृद्धि होने से उनका हिस्सा मारा जायेगा। इस प्रकार हिन्दुओं एवं मुसलमानों को एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी बनाकर खड़ा किया जा सकता था, जो एक दूसरे का अवसर छीनने के लिये उद्यत थे। किसी क्षेत्र में हिन्दुओं का अधिक अनुपात में नौकरियों में होना हिन्दुओं का आर्थिक प्रभुत्व कहा जा सकता था। वहीं उन्हीं नौकरियों में मुसलमानों का हिस्सा अधिक होने पर इसे हिन्दुओं के लिये 'मुसलमानों का खतरा' कहा जा सकता था।[62]

इसी पृष्ठभूमि में भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश शासन और उसकी नीतियों ने महती भूमिका निभाई। यद्यपि कि इस नीति की सफलता तभी सुनिश्चित हुई जब भारतीय समाज की आंतरिक सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने इसके लिये उर्वर जमीन तैयार की। इसका संभव होना केवल इस बात पर ही निर्भर नहीं था कि इससे उपनिवेशवाद की राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही थी अपितु भारतीय समाज के कुछ हिस्सों की सामाजिक आवश्यकतायें भी पूरी हो रही थीं।

ब्रिटिश प्रशासकों ने किसी सम्प्रदाय विशेष या साम्प्रदायिकता का समर्थन इसलिये नहीं किया कि उन्हें सम्प्रदाय विशेष या साम्प्रदायिकता से लगाव था बल्कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य भारतीयों को विभाजित कर उनके राजनीतिकरण एवं राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया को रोकना था। हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच पनपने वाला तनाव अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अवरोध खड़ा करने वाली एकता को सतत कमजोर करता रहे। यह एक योजना थी जिसे अंग्रेजों ने अपने शासन काल के दौरान सतत बनाये रखा। डी.ई. स्मिथ के विचार से "अंग्रेजों ने हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या पैदा नहीं की उन्होंने इसे समय–समय पर उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त समर्थन दिया।"[63] 1857 के

विद्रोह के पहले 1843 में लार्ड एलनबरों ने कहा था —"मैं इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं कर सकता कि मुसलमान मूलतः हमारे शत्रु हैं और हमें हिन्दुओं को मिलाकर रखने की नीति अपनानी चाहिए।"[64] विद्रोह के दमन के बाद लार्ड एलफिस्टन ने कहा —"लोगों में फूट डालो और उन पर शासन करो' ऐसा पुराने रोमन लोगों का आदर्श (डिवीडेक्ट इम्प्रा) था और यही हमारा भी आदर्श है।"[65] बाद में हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच मतभेद पैदा करने की नीति ही साम्राज्यवादी नीति बन गयी।

जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस पर विचार करते हुये लिखा है — "अपनी योजना के विफल होने पर दूसरों की आलोचना कर उन पर आरोप लगाना आसान है .... निःसन्देह ब्रिटिश सरकार ने अतीत और वर्तमान में हममें फूट डालकर विभिन्न वर्ग पैदा करने की अपनी नीति को आधारित रखा इसकी उपेक्षा करना और इसके विरुद्ध कोई तर्क न प्रस्तुत करना, किसी के भी चिन्तन में एक त्रुटि है।" इस सन्दर्भ में 1936 के लखनऊ अधिवेशन में दिये गये उनके वक्तव्य को उद्धृत करना समीचीन है —"साम्प्रदायिक समस्या कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न हुई है, जिन्होंने तीसरे पक्ष को इस बात का मौका दिया है कि वह अन्य दो पक्षों से अनुचित लाभ उठा सके।"[67] इसी बात की पुष्टि लार्ड लोथियान को 1936 में लिखे उनके पत्र से होती है— "स्पष्ट है कि कोई यह नहीं कह सकता कि भारत के विभाजन की प्रवृत्ति अन्तर्निहित नहीं थी और राजनीतिक सत्ता मिलने की संभावना को देखते हुये इसके बढ़ने की आशंका थी। इस प्रवृत्ति को दबाने वाली नीति को अपनाया जा सकता था। इसे उभारना भी संभव था। सरकार ने दूसरी नीति को अपनाया और इस प्रकार देश के भीतर प्रत्येक विभाजक प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।"[68]

बिपिन चन्द्र भी इस बात का समर्थन करते हैं "भारतीय समाज में विभाजक प्रवृत्तियाँ पहले ही विद्यमान थीं और वे उत्पन्न भी की जा रही थीं। लेकिन साथ ही, एकीकरण की शक्तियाँ भी सक्रिय थीं। शासन अपनी विशाल शक्ति द्वारा या तो राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दे सकता था अथवा विभिन्न प्रकार के विभाजनों को बनाये रखकर उन्हें प्रोत्साहन दे सकता था। औपनिवेशिक शासन होने के कारण राज्य ने दूसरा मार्ग ही चुना।"[69] इसी सन्दर्भ में रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचारों को उद्धृत किया जा सकता है, जब उन्होंने 1907 में राजनीतिक नेताओं को चेतावनी दी थी —"असल चिन्ता की बात तो यह है कि मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। महत्त्वपूर्ण यह

नहीं है कि उनका इस्तेमाल कौन करता है। शैतान भीतर तभी घुस सकता है, जब उसके आने के लिये रास्ता हो।"[70] के0बी0 कृष्ण भी ब्रिटिश नीति की चर्चा साम्प्रदायिकता को विकसित करने में करते हैं —"देश की सामाजिक अर्थव्यवस्था से उत्पन्न होने वाले ये संघर्ष (भारतीय साम्प्रदायिक वर्गो एवं समूहों के भीतर) सामन्तवादी परिस्थितियों में विकसित होते पूँजीवाद के युग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा उसकी एक के खिलाफ दूसरे को खड़ा करने की नीति द्वारा तेज होते हैं।"[71] ऐसी ही धारणा का समर्थन ए. आर. देसाई भी करते हैं।[72]

सामाजिक आर्थिक प्रतिस्पर्धा के चलते मध्यवर्ग भी इसमें प्रमुख भूमिका निभा रहा था। 'यही वह भूमि भी थी, जिसके चलते सरकारी नीति प्रच्छन्न वैमनस्यपूर्ण भावनाओं के साथ आसानी से खिलवाड़ कर सकी और उसके आधार पर एक पूरी राजनीतिक व्यवस्था खड़ी कर सकी।[73] इसी सन्दर्भ में बेनी प्रसाद ने प्रत्यक्षतः यह तो नहीं कहा कि साम्प्रदायिक विचार धारा अंग्रेजों द्वारा उद्भूत की गयी, किन्तु स्पष्टतः उन्होंने ब्रिटिश नीति की अर्न्तनिहित भावना को अवश्य लक्ष्य किया —"पिछले 80 वर्षों के दौरान विभिन्न घटकों एवं भारतीय परिस्थिति की गौड़ बातों के क्रमशः समायोजन के रूप में ब्रिटिश सरकार ने ऐसी नीतियाँ बनायीं और ऐसे कार्य किये, जिनका लक्ष्य दोनों सम्प्रदायों के मतभेदों को बनाये रखना और उन पर बल देना था।"[74]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और उसके बाद बढ़ते हुये राष्ट्रवाद की विफलता सुनिश्चित करने हेतु औपनिवेशिक शासन ने साम्प्रदायिकों को समर्थन देने की नीति को हथियार के रूप में प्रयुक्त किया। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को औपनिवेशिक शासकों ने प्रमुख तर्क के रूप में प्रस्तुत किया — "उपनिवेशों का कल्याण, उन्हें सभ्य बनाने का लक्ष्य, श्वेतों का बोझ इत्यादि तर्क उत्तरोत्तर रूप से अपनी विश्वसनीयता खोते जा रहे थे। उस समय साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों, अधिकारियों एवं विचारकों का कहना था कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के प्रभुत्व दमन और शोषण से बचाने के लिये आवश्यक है कि भारत पर अंग्रेजों का राज बना रहे।[75]

भारतीय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को बाधित करने एवं भारतीयों के कुछ वर्गों के बीच से अपने लिये समर्थन जुटाने के लिये औपनिवेशिक शासकों ने जो दीर्घकालिक नीति अख्तियार की, उसका लक्ष्य साम्प्रदायिक राजनीति और संगठनों को प्रमुखता देना था। यही कारण था कि मुसलमानों को मिलने वाला समर्थन उसकी हिन्दू विरोधी नीति का हिस्सा न होकर राष्ट्रीयता विरोधी नीति का अंग था, क्योंकि वे साम्प्रदायिकता से उद्भूत प्रशासनिक

कठिनाइयों की तुलना में राष्ट्रवादी आन्दोलन के माध्यम से विकसित हो रही भारतीय एकीकरण की प्रक्रिया को अधिक खतरनाक मानते थे। इसकी पुष्टि 1897 में सेक्रेटरी आफ स्टेट हेमिल्टन द्वारा वायसराय एल्गिन को लिखे पत्र से होती है — "समझ में नहीं आता किसकी कामना करें। भारतीयों के बीच विचारों एवं कर्म की एकता राजनीतिक रूप से बहुत खतरनाक होगी। वैमनस्य और टकराव प्रशासन के लिये कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। दोनों में दूसरा विकल्प ही कम खतरनाक है। यद्यपि इसमें टकराव वाले स्थान पर उपस्थित लोगों की चिन्ता और जिम्मेदारी बढ़ जाती है।"[76]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब साम्प्रदायिक घटनायें या आन्दोलन साम्राज्यवाद विरोधी रुख अख्तियार कर लेते थे, तो उन्हें नियंत्रित किया जाता था। जैसे 1897 के कलकत्ता के दंगे, 1913 का कानपुर की मस्जिद का मामला एवं 1922 का मोपला विद्रोह। इसी प्रकार 1930 के दशक का खाकसार आन्दोलन कांग्रेस विरोधी होने के साथ–साथ जब सरकार विरोधी भी होता गया तो कठोरता के साथ इसका दमन कर दिया गया। औपनिवेशिक शासन इस बात के लिये काफी सजग था कि साम्प्रदायिकता शक्तिशाली होकर सरकार विरोधी न बन जाय। इसीलिये मुस्लिम साम्प्रदायिकता को समर्थन देने की नीति अपनायी गयी, क्योंकि यदि हिन्दू साम्प्रदायिकता को समर्थन दिया जाता तो विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों में विभाजित हिन्दुओं को संगठित होने का अवसर मिल जाता जो कि औपनिवेशिक शासन के प्रतिकूल होता। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता का समर्थन उसी स्थिति में किया जा रहा था कि आवश्यकता पड़ने पर उसे नियंत्रित किया जा सके।

औपनिवेशिक शासन मुसलमानों में आधुनिक राजनीति एवं राजनीतिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव नहीं चाहता था। अतः बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के उत्तरार्द्ध तक नियन्त्रित साम्प्रदायिकता की यह नीति चलती रही। स्पष्टतः इस नीति का पालन वे 1857 के विद्रोह के बाद से ही कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने हमेशा सर सैय्यद अहमद खान को समर्थन दिया। बिपनचन्द्र ने इसके पीछे के मन्तव्य को स्पष्ट किया है — "उन्होंने (सैय्यद अहमद खान) उच्चवर्गीय मुसलमानों को किसी भी प्रकार की आधुनिक राजनीति और राजनीतिक आन्दोलन से अलग रखा और सरकारी संरक्षण का सहारा लेने की नीति अपनायी।"[77]

सैयद अहमद खान ने जब 1893 में "मोहम्मडन ऍग्लों ओरियन्टल डिफेन्स एसोसिएशन" की स्थापना की तो इसमें यह निश्चित किया गया कि

यह मुसलमानों के बीच राजनीतिक जन आन्दोलन को प्रोत्साहित नहीं करेगी। साथ ही कांग्रेस का विरोध और मुस्लिम हितों की रक्षा करेगी। यह न तो कोई राजनीतिक सभायें करेगी और न ही अन्य मुस्लिम संगठनों से सम्बद्ध होगी। इसका एक लक्ष्य युवा मुस्लिम बुद्धिजीवियों में राजनीतिकरण की प्रवृत्ति को नियमित भी करना था।[78] इसी सन्दर्भ में फ्रांसिस राबिन्सन इस निष्कर्ष पर बल देते हैं— "सरकारी नीति के जरिये सैयद अहमद खान को उनके समुदाय के हिमायती के दर्जे तक उठाया गया और अलीगढ़ कालेज को वित्तीय एवं राजनीतिक समर्थन दिया गया, क्योंकि वह सरकार की राजनीतिक नियंत्रण की योजना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था।"[79] इसी प्रकार बंगाल में सर सलीमुल्लाह को नवाब बहादुर का वंशानुगत खिताब दिया गया। जिससे कि वे पारम्परिक शासक के प्रभामंडल से मंडित होकर बंगाली मुसलमानों के नेता के रूप में उभर सकें।

इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भी ब्रिटिश शासन ने मुसलमानों को अलग करने की नीति अपनायी, जब उसने सैयद अहमद द्वारा स्थापित ऐंग्लों ओरियन्टल कालेज अलीगढ़ के प्रिन्सीपल के रूप में अंग्रेज प्रोफेसर थियोडोर बेक की नियुक्ति की। यह संस्था आगे चलकर मुसलमानों के सबसे बड़े दार्शनिक एवं राजनैतिक केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुई। प्रो. बेक को हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच गहरी खाई खोदने में सफलता मिली। सर जॉन स्ट्रेची द्वारा बेक का मूल्यांकन उन अंग्रेजों में किया गया जो दूर देश में अंग्रेजी साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया में संलग्न रहे।[80] स्ट्रेची के मूल्यांकन की पुष्टि इस बात से होती है कि कालेज से निकले बौद्धिकों में ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी की भावना थी— "अलीगढ़ कालेज में आधुनिक मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग तैयार हुआ। इस बुद्धिजीवी वर्ग में पाश्चात्य संस्कृति के लिये उत्साह और ब्रिटिश सरकार के प्रति राजनीतिक भक्ति की भावना कूट—कूटकर भरी हुई थी। मुसलमानों को ब्रिटिश ताज की सुयोग्य और उपयोगी प्रजा बनाना ही कालेज का लक्ष्य था।[81]

साम्प्रदायिक माँगों को स्वीकार करने की ब्रिटिश नीति 1906 के बाद और अधिक प्रभावकारी रूप में परिलक्षित हाती है, जब कि वायसराय मिण्टो ने आगा खान के नेतृत्व में रूढ़िवादी उच्चवर्गीय मुलसमानों के शिष्टमंडल का स्वागत किया। उसका माँग पत्र भारतीय समाज एवं राजनीति की साम्प्रदायिक समझ पर आधारित था। वायसराय ने वहीं और उसी वक्त उनमें से अधिकांश माँगों को स्वीकार करके उसके निहित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का अनुमोदन

कर दिया।[82] इस प्रकार शिष्टमंडल को अपने पक्ष में यह दावा करने में बल मिला कि वे महामहिम सम्राट की मुस्लिम प्रजा के बड़े भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः इसके पीछे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष छिन्न–भिन्न करने की ब्रिटिश मनोवृत्ति काम कर रही थी।

1909 के संवैधानिक कानून के निर्माण के दौरान साम्प्रदायिक माँगों को स्वीकार की जाने की नीति अपनायी गयी। जहाँ प्रतिनिधि सरकार के लिये कांग्रेस की पचीस सालों से चली आ रही माँग को ठुकरा दिया गया, वहीं जनसंख्या के अनुपात से अधिक सीटों के आरक्षण की मुस्लिम लीग की माँग को स्वीकार कर लिया गया। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में खिलाफत–असहयोग आन्दोलन के कारण मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रति सरकारी नीति में शिथिलता आयी, किन्तु हिन्दू–मुस्लिम एकता की विफलता एवं 20 के दशक में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के चलते अंग्रेजों को नये सिरे से इस नीति को प्रयुक्त करने का अवसर मिला। जिसे गोलमेज परिषद के लिये सदस्यों के चुनाव करने में साम्प्रदायिक नेताओं के प्रति पक्षपात की सरकारी नीति में देखा जा सकता है।

1937 के चुनावों में लीग के खराब प्रदर्शन के बाद, जबकि यह मुसलमानों के बहुत छोटे से भाग का प्रतिनिधित्व कर रही थी, के बावजूद ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति राजभक्त मुसलमानों को लीग में शामिल होने के लिये प्रोत्साहन देने की रही। साथ ही राष्ट्रवादी मुसलमानों को निरुत्साहित किया जाता रहा। अब अंग्रेजों ने संतुलित साम्प्रदायिकता की नीति छोड़कर अनियंत्रित साम्प्रदायिकता की नीति अपना ली। 1937 के पश्चात साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दुओं ओर मुसलमानों के बीच विभाजन भारत में साम्राज्यवादी सत्ता और उसकी उपस्थिति जताने का प्रमुख राजनीतिक अथवा शिष्ट साधन रह गया था, अंग्रेजों ने अपना सर्वस्व दाँव पर लगाने का फैसला कर लिया।[83] 1938 में सेक्रेटरी आफ स्टेट जेटलैंड ने लिखा था कि "उस समय उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास होता जा रहा था कि भारत की भावी सरकार का स्वरूप निर्धारित करने में मुख्य भूमिका अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की होगी।"[84]

इस प्रकार यह नीति मुस्लिम साम्प्रदायिकता, मुस्लिम लीग और जिन्ना को सशक्त बनाने एवं उन्हें कांग्रेस और राष्ट्रवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रभावी रूप से खड़ी करने की थी। जिसकी अगली कड़ी के रूप में वायसराय लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव ने लीग को निषेधाधिकार प्रदान कर दिया। वायसराय ने वादा किया कि अंग्रेज भारत की शान्ति और कल्याण के लिये

अपनी वर्तमान जिम्मेदारियाँ किसी ऐसी सरकार को सौंपने की बात सोच भी नहीं सकते जिसके सत्ताधिकार को भारत के राष्ट्रीय जीवन के बड़े और सशक्त तत्व अस्वीकार करते हैं। न ही वे इन तत्वों को दबाने में ऐसी सरकार के सहायक हो सकते हैं।[85] मार्च 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव में प्रच्छन्न पाकिस्तान की माँग स्वीकार करके इसी नीति की पुष्टि की गयी।

जुलाई 1946 के अंत तक मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति ऐसे मुकाम पर पहुंच गयी जहाँ से वापस लौटना संभव नहीं था। 1945—46 के चुनावों में लीग की सफलता ने जिन्ना के इस दावे को प्रमाणित सिद्ध कर दिया कि मुस्लिम लीग मुसलमानों का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। राजनैतिक गतिरोध को दूर करने के लिये आये कैबिनेट प्रस्तावों को न तो कांग्रेस और न ही मुस्लिम लीग ने पूरी तरह स्वीकार किया। वास्तव में लीग ने 29 जुलाई 1946 के अपने बम्बई अधिवेशन में कैबिनेट मिशन योजना पर अपनी पूर्व स्वीकृति को वापस ले लिया और 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस मनाने का निश्चय किया। जिसके परिणामस्वरूप देश भर में साम्प्रदायिक दंगे हुये। इससे हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच वैमनस्य की जो भावना बढ़ी, उसका उपयोग मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के अपने लक्ष्य प्राप्ति में किया।

इस प्रकार औपनिवेशिक शासन द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को संरक्षण, लीग को मुसलमानों का एकमात्र प्रवक्ता मानना, पाकिस्तान की माँग को सिद्धान्त रूप में स्वीकार लेना, तथा किसी भी राजनीतिक हल पर उसे निषेधाधिकार प्रदान करना एवं यह कहना कि भारत को तब तक स्वाधीनता नहीं दी जा सकती जब तक कि हिन्दू एवं मुसलमान एक नहीं हो जाते, एक सोची समझी नीति थी। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को खुला एवं पूरा समर्थन देकर ऐसी एकता को असंभव बना दिया गया। वास्तव में विभाजन को प्रोत्साहन देकर उसकी सफलता के सारे उपाय किये जाते रहे।

प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास की तथ्यात्मक तोड़—मरोड़ एवं अवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साम्प्रदायिक विचारधारा को प्रचारित एवं प्रसारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा अतीत को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि जो कुछ पूर्व में था उसका फिर से घटना अवश्यंभावी है। अतीत की घटनाओं से इस प्रकार के ऐतिहासिक मिथक गढ़े जाते थे जिससे वर्तमान साम्प्रदायिक राजनीति को उचित ठहराया जा सके। अतीत की व्याख्या किसी विशिष्ट साम्प्रदायिकता के अनुकूल की जाती थी। इतिहासकारों ने कुछ क्षेत्रों को रेखांकित किया है, जहाँ दोनों

समुदायों ने सकारात्मक रूप से एक दूसरे को प्रभावित किया। जैसे—वस्त्र, भोजन, सामाजिक आचरण, भाषा और मुख्य रूप से स्थापत्य कला। लेकिन ऐसा सांस्कृतिक सम्मिश्रण मुख्यतः उच्च वर्ग तथा शिक्षित वर्ग तक ही सीमिति रहा है। दूसरी ओर हिन्दू एवं मुस्लिम समुदायों में सहानुभूति पूर्ण समझदारी धर्म और संस्कृति के सन्दर्भ में नहीं दिखती है। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा हुआ मानते हैं और हिन्दू मुसलमानों को कट्टरपंथी तथा गन्दा मानते हैं। स्पष्टतः हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सैद्धान्तिक और सामाजिक मतभेद बने रहे, जिसके कारण एक हजार वर्षों के सजीव सम्पर्क के बावजूद इस्लाम और हिन्दू धर्म में कोई सामाजिक मिलावट संभव नहीं हो सकी।[86]

ये दोनों पंथ इसी प्रायद्वीप में उद्‌भूत होने के बाद भी भिन्न रहे। जहाँ इस्लाम ने एक पैगम्बर एवं कुरान की व्यवस्था दी वहीं हिन्दुत्व का कोई संस्थापक नहीं था, बल्कि यह विश्वास पर आधारित था। जिसकी अपनी व्यवस्था वेद और पुराण के दर्शन पर आधारित थी। इस्लाम में सृष्टिकर्ता सृष्टि से अलग होता है और अपने हुक्मों द्वारा कार्यों को दबाव डालकर कराता रहा है। हिन्दू धर्म में सृष्टि और स्रष्टा एक ही होते हैं तथा वे अविभाज्य हैं। ईश्वर एक सर्वव्यापक आत्मा है, जिसकी अभिव्यक्ति के बाह्य स्वरूप अगणित और अनन्त हैं।[87]

हिन्दू उस ईश्वर को अनेक रूपों में पूजते हैं, चाहे वह जानवर हो, पितर हो, आत्मा हो या दैवीय अवतार हो। इसके विपरीत मुसलमानों का एक ही खुदा अल्लाह है और कुरान अपने अनुयायी को किसी अन्य रूप में पूजने से मना करता है। मूर्तियों का स्वरूप या मूर्तियाँ, चित्र या समाधिस्थ प्रतिमायें मुसलमानों के लिये वर्जित हैं। मस्जिद एक पवित्र स्थान है जहाँ अमूर्त चित्र एवं अल्लाह के निन्यानबे नाम ही लिखे जाते हैं। मूर्तियाँ हिन्दुओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की माध्यम हैं और हिन्दू मंदिर इस्लाम के ठीक विपरीत हैं।[88]

सह अस्तित्व की भावना से प्रेरित मेल—मिलाप एक बहुलवादी व्यवस्था में मिले हुये समूह के अस्तित्व को विलीन कर देता है। जैसा कि ग्रीक, सीथियन, पारसी और हूण यहाँ आये और यहाँ के समाज में विलीन हो गये क्योंकि उनका कोई व्यवस्थित धर्म नहीं था। लेकिन ईसाई और मुस्लिम जातियाँ यहाँ तक कि जब उन्होंने आक्रमण करना बन्द कर दिया और भारत में वस गये तो सक्रिय रहकर भारतीयों को ईसाई धर्म एवं इस्लाम में परिवर्तित करने के प्रयास में संलग्न रहे।[89]

यही वे तथ्य थे जिन्होंने साम्प्रदायिकों को इस बात का अवसर दिया कि अतीत की व्याख्या को अपने स्वार्थपूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त करें। दोनों ही पक्षों के ऐसे लोगों द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया जिससे कि विभेद की खाई और चौड़ी होती गयी। विभिन्न धार्मिक समूहों, विशेषतः हिन्दू एवं मुसलमानों के सम्बन्ध में स्थिर धारणायें, मिथक, प्रतीक और आख्यान साम्प्रदायिक विचारधारा के प्रमुख घटक थे। विभिन्न स्तरों पर दी जाने वाली इतिहास की शिक्षा समान्तर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दी जाती थी, जिससे हिन्दू–मुसलमानों के बीच दरार पड़ जाती थी और प्रतिद्वन्दी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एक–दूसरे को पुष्ट करते रहते थे। अतीत की यह व्याख्या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की पुष्टि करती थी। जैसे विशेष रूप से हिन्दू सम्प्रदायवाद की मूल संकल्पना है, उनका एक अलग जाति (नेशन) होना, उनकी एक सामान्य संस्कृति, जो उनके द्वारा इतिहास की विशिष्ट व्याख्या पर ही निर्भर करती है।[90]

विद्यालयों एवं कालेजों में इतिहास की व्याख्या साम्प्रदायिक आधार पर की जाती रही। इससे जनमानस को इतने व्यापक एवं गंभीर ढंग से प्रभावित किया कि गंभीर राष्ट्रवादी भी जाने–अनजाने इसे स्वीकार कर लेते थे। इस सन्दर्भ में गाँधी जी ने लिखा है– "इस देश में तब तक स्थायी साम्प्रदायिक शान्ति और सद्भाव कायम नहीं हो सकता, जब तक कि यहाँ के स्कूल और कालेजों में इतिहास की पाठ्य–पुस्तकों के जरिये इतिहास को तोड़–मरोड़कर सिखाया जाता रहेगा"।[91] ऐसे ही दृष्टिकोण की पुनर्व्याख्या मुहम्मद अली के 'कामरेड' में लिखे कथन से होती है – "कौमी वैमनस्य की प्रबलता के लिये मुख्य रूप से इतिहास की गलत व्याख्या ही उत्तरदायी है। अतीत ने अपना मुर्दा हाथ बढ़ाकर वर्तमान को पक्षाघात का शिकार बना दिया है, राजनीति के व्यवहारिक मुद्दों के मामले में देशभक्त हिन्दू के विचार को उसकी मूर्खतापूर्ण किन्तु बिल्कुल सही शिकायत प्रभावित कर देती है। मुसलमान भी उतने ही मूर्खतापूर्ण ढंग से यह सोचकर क्षुब्ध होता है कि उसकी ताकत, आन–बान और बादशाहत छिन गयी।"[92]

इतिहास के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को विस्तृत फलक देने में पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त कविता, नाटक, ऐतिहासिक उपन्यासों, पत्रिकाओं एवं परचों ने कल्पनारंजित होने के बावजूद जनमानस में प्रामाणिक इतिहास की जगह बना ली। इसका अनुमान वी.डी. सावरकर, एम.एस. गोलवरकर, जेड.ए.सुलेरी, एफ. के. खान दुर्रानी एवं ऐसे ही अन्य साम्प्रदायिक विचारधारा वाले लेखक एवं नेताओं के लेखन तथा भाषणों के आधार पर लगाया जा सकता है।

सम्प्रदायवादियों ने अतीत को इस प्रकार प्रस्तुत किया, जिससे कि उनके अनुयाइयों में भय, असुरक्षा और अलगाव की भावना भड़क सके। इस प्रकार साम्प्रदायिक इतिहास ने साम्प्रदायिकता के संवर्द्धन के साथ ही इतिहास लेखन और शिक्षा में 'मिथक निर्माण' को भी प्रोत्साहन दिया। इसी 'मिथक निर्माण' ने मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की कहानी के रूप में प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ में 1940 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में दिये गये मु. अली जिन्ना के भाषण को उद्धृत किया जाना समीचीन होगा — "पिछले बारह सौ सालों के इतिहास में एकता नहीं हो सकी है और यह तथ्य इस बात का गवाह रहा है कि इस दौरान भारत हमेशा हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत में बँटा रहा है।"[93] दूसरी ओर वी.डी. सावरकर ने दावा किया— "जिस दिन महमूद गजनी ने सिन्धु नदी पार की, उसी दिन से जिन्दगी और मौत की लड़ाई शुरू हो गयी। जिसका अन्त अब्दाली के साथ हुआ।" उन्होंने पुनः कहा— "दिनों-दिन, दशकों-दशक और शताब्दियों से यह जघन्य संघर्ष चला आ रहा है, और हिन्दुत्व एवं हिन्दुओं की सांस्कृतिक एकता के लिये युद्ध के सैकड़ों मैदानों में लड़ाइयाँ लड़ी जाती रहीं।"[94] यही कारण है कि आज भी इन साम्प्रदायिक लोगों के उत्तराधिकारी उस युद्ध के सातत्य को बनाये हुये हैं।

1939 में गोलवरकर ने राष्ट्रवादियों की इस बात के लिए आलोचना की कि वे ऐसी धारणा फैला रहे हैं, "जिससे हिन्दू अपने पुराने आक्रामकों एवं शत्रुओं के साथ अपने आपको एक ही वर्ग में समझने लगे हैं— सब जानते हैं इस विष का क्या प्रभाव हुआ है। हम यह मानने लगे हैं कि हमारे शत्रु हमारे मित्र हैं और हम अपने ही हाथों से सच्ची राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचा रहे हैं।"[95] वी.डी. सावरकर ने 1937 में कहा कि "ठोस तथ्य तो यह है कि तथाकथित साम्प्रदायिक समस्यायें तो हमें, हिन्दू-मुसलमानों के बीच सदियों से चले आ रहे सांस्कृतिक, धार्मिक और कौमी वैमनस्य के फलस्वरूप विरासत में मिली हैं।"[96]

इस ऐतिहासिक वैमनस्य के सिद्धान्त को आधार बनाकर दोनों पक्षों के सम्प्रदायवादियों द्वारा जो समाधान प्रस्तुत किया जाता रहा है, उससे साम्प्रदायिकता न केवल मजबूत होती गयी, अपितु दो राष्ट्र का सिद्धान्त भी पुष्ट होता गया। जहाँ एक ओर वी.डी. सावरकर एवं एम.एस. गोलवरकर ने राष्ट्रीयता की व्याख्या इस आधार पर की कि न केवल मुसलमान अपितु ईसाई, यहूदी और पारसी भी उसकी परिधि से बाहर रहें। उन्होंने गैर हिन्दुओं को सावधान किया— "विदेशी तत्वों के लिए केवल दो ही रास्ते हैं, या तो वे राष्ट्रीय

कौम में घुल–मिल जायें और उसकी संस्कृति अपना लें या राष्ट्रीय कौम की दया पर निर्भर रहें।"[97] दूसरी ओर जिन्ना ने यह दावा किया कि "मुसलमानों को एक अलग दुनिया में, अलग समाज, अलग दर्शन और आस्था में रहते हुये हजार साल से ज्यादा वक्त हो गया।"[98] इसी बात की पुष्टि करते हुए मोइन शाकिर ने लिखा– "भारत में लगभग बारह सदियों से पाकिस्तान रहा है।"[99]

इस प्रकार दोनों ही पक्षों द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं से कटुतापूर्ण विषाक्त वातावरण की सृष्टि होती थी। जिससे जनमानस एक–दूसरे के प्रति शंकालु एवं आशंकाग्रस्त होता गया। क्योंकि इन व्याख्याओं से जो निष्कर्ष निकलते थे वे दोनों समुदायों को परस्पर शत्रु के रूप में चित्रित करते थे। 1939 में अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के अनुरूप निष्कर्ष निकालते हुये गोलवरकर ने लिखा था– "हिन्दुस्तान में रहने वाले गैर हिन्दुओं को चाहिये कि वे हिन्दू संस्कृति एवं भाषा को अपना लें। हिन्दू जाति और संस्कृति के गौरव के अतिरिक्त और कोई बात मन में न लायें ....एक शब्द में कहें तो विदेशी बनकर न रहें .... उन्हें कोई विशेषाधिकार नहीं मिलेगा। वरीयतापूर्ण व्यवहार की तो आशा करना ही व्यर्थ है। यहाँ तक कि आम नागरिक के अधिकार भी नहीं।"[100]

दूसरी ओर बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही मुस्लिम सम्प्रदायवादी इस धारणा को प्रचलित करने में लगे थे कि मुसलमान भारत में शासक या प्रभुत्वशाली समूह के सदस्य थे। 1941 के लाहौर के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुये मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा था – "हमारी माँग हिन्दुओं से नहीं है, क्योंकि सारा हिन्दुस्तान तो कभी हिन्दुओं के पास रहा ही नहीं। मुसलमानों ने ही सारे हिन्दुस्तान पर कब्जा करके सात सौ साल उस पर राज किया। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान मुसलमानों से लिया था।"[101] जेड.ए.सुलेरी ने तो इससे भी आगे बढ़कर कहा – "हिन्दुस्तान हिन्दुओं का नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हें तो एक हजार साल पहले ही जीत लिया गया था।"[102] जबकि हिन्दू प्रवक्ताओं ने हिन्दुओं की स्वाभाविकता के दावे विभिन्न तरह से अपने समुदाय और परम्परा के बारे में किये हैं। उनका मानना है कि पूरी दुनिया में इतनी स्वाभाविक सीमायें कहीं नहीं है– "दुनिया में ऐसा कोई अन्य भू–भाग नहीं जिसे स्वयं प्रकृति भारत (वर्मा को निकाल कर) से ज्यादा एक राष्ट्र का रूप देती हो।"[103] इनके मुताबिक हिन्दू और हिन्दुस्तान नामों से ही स्पष्ट है कि इस भू–भाग के मूल और स्वाभाविक निवासी हिन्दू ही हैं और हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय पहचान में भ्रम की गुंजाइश ही नहीं है– "अति प्राचीन काल से रह रहा हिन्दू समाज यहाँ

का राष्ट्रीय (और स्वाभाविक) समाज है .... उसी जनता ने इस देश के जीवन, मूल्य, आदर्श और संस्कृति का निर्माण किया है, इसलिये उनका राष्ट्रत्व स्वयं सिद्ध है।''[104] आगे निःसन्देह हम हिन्दू इस धरती पर निर्विवाद और बिना किसी व्यवधान के आठ या दस हजार वर्षों तक काबिज रहे हैं, जब तक कि किसी विदेशी जाति ने इस पर आक्रमण नहीं कर दिया।[105]

हिन्दू आख्यान के अनुसार इतिहास के आरम्भ से ही राष्ट्रीय एकता की भावना ने हिन्दू इतिहास का पथ–प्रदर्शन किया है। गोलवरकर के अनुसार – ''इतिहास के पहले पन्ने पर ही हमें प्रगतिशील और बेहद सभ्य राष्ट्र के रूप में दर्ज किया गया है।''[106] इसी लिए वे पूर्व स्थिति प्राप्त करने के लिये एक अन्य अवसर पर कहते हैं– ''हिन्दुओं की नस्ली भावना जाग रही है। शेर मरा नहीं था, बस सो रहा था। वह अपने को फिर से जगा रहा है और दुनिया पुनर्जीवित हिन्दू राष्ट्र की शक्ति देखेगी कि किस तरह वह अपनी शक्तिशाली भुजाओं से शत्रुओं के झुण्ड को धराशायी कर देता है। वह दिन ज्यादा दूर नहीं जब दुनिया इसे देखकर काँप उठेगी ....? उनका तर्क है कि दुनिया ताकत की भाषा के अलावा कुछ नहीं समझती। सच्चा धर्म क्षात्र (योद्धा का) धर्म यानी विजय का दर्शन है। कमजोर हो चुके हिन्दुओं को अगर अपनी स्त्रियों, सम्पत्ति एवं अधिकारों की रक्षा करनी है, तो उन्हें पुनः शक्तिशाली होना पड़ेगा। भय बिनु होय न प्रीति।''[107] इसलिये हिन्दुओं को चाहिये कि वे अपने साथ रह रहे दूसरे सम्प्रदाय के लोगों के मन में पहले भय पैदा करें, तभी सच्चा प्रेम पैदा होगा।

जहाँ मुस्लिम साम्प्रदायिकों ने इस धारणा को प्रचलित किया कि वे शासक वर्ग के सदस्य रहे थे। वहीं कतिपय आधुनिक शोधों से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। 1936 में सी.मैंशर्ट ने लिखा– ''हिन्दू एवं मुसलमानों की यह पुरानी दुश्मनी आज भी बनी हुई है। भारत के लगभग सभी प्रान्तों में हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से ज्यादा है, फिर भी लगता है कि वे मुसलमानों से डरते हैं। मुस्लिम प्रभुत्व की याद करके वे ऐसा कोई खतरा नहीं उठाना चाहते जिससे मुसलमानों का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो। दूसरी तरफ मुसलमान अपने गौरवशाली अतीत को याद करते हैं और भविष्य के प्रति आशावान हैं।''[108] इसी तरह की अभिव्यक्ति कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट में भी पायी जाती है – ''सम्प्रदायवादी मुसलमान शासकों को उत्साही धर्म योद्धा मानते थे। जिनका मुख्य लक्ष्य इस्लाम का प्रचार था। इसे प्राप्त करने का उनका तरीका था मंदिरों का ध्वंस और बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करना।''[109]

साम्प्रदायिकों द्वारा अपने समुदाय के शासकों की प्रशंसा एवं दूसरे समुदाय के शासकों की निन्दा में सच्ची—झूठी कहानियों को गढ़ा जाता था तथा उन्हें बार—बार दुहराया जाता था। मध्ययुग के शासकों के चित्रण में 1938 में इन्द्रप्रकाश ने लिखा, "विदेशी—शासन की इस अवधि में हिन्दुस्तान का इतिहास हिन्दुओं के कत्ल की, असहिष्णु कदमों की, मंदिरों को उखाड़ने एवं तोड़ने की, धर्म परिवर्तन एवं विवाह की, निषेधों एवं स्वत्व हरण की नरसंहारों एवं निरंकुश शासकों की कामुकता एवं मद्यपता की दुखद कहानी रहा है।"[110] यह मुस्लिम निरंकुशता शासक वर्ग की प्रवृत्ति के रूप में नहीं बल्कि इस्लाम की मूल वृत्ति के रूप में चित्रित की जाती थी। मुस्लिम धर्म हत्यारे को गौरवान्वित करता है और उसे नायक के रूप में पूजता है। यह धर्म विधर्मियों की हत्या करने वाले को प्रोत्साहित करता है। इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार काफिर या अन्य धर्मावलम्बी की हत्या करने वाला अन्य मुसलमानों की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। इतना ही नहीं शहीद हो जाता है और उसका स्वर्ग जाने का मार्ग सुगम हो जाता है।[111]

इस धारणा की पुष्टि में विश्वभर में इस्लाम के प्रसार के ऐतिहासिक सन्दर्भों को उद्धृत किया जाता था। वस्तुतः तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसार को मिथकीय रूप दे दिया जाता था। द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया था— "आज प्रचलित अनेक गलतफहमियों में कटुता एवं दुर्भावना उत्पन्न करने में सबसे अग्रणी धारणा यह है कि कट्टरता और असहिष्णुता इस्लाम में अन्तर्निहित होती है ...... तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसार की धारणा का इतना व्यापक प्रचार हुआ है कि आम आदमी के मन में इसने मुहावरे का रूप धारण कर लिया .... यही हिन्दू—मुस्लिम समस्या को और तीखा बनाता है।[112]

सम्प्रदायवादियों द्वारा अठारहवीं शताब्दी में विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चले संघर्ष को 'हिन्दू पुनरुत्थान' के रूप में देखा गया। मुस्लिम उत्थान की छःसौ सालों की अवधि में भी हिन्दुओं ने अपने राष्ट्रीय गौरव और सम्मान की रक्षा के लिये प्राणपण से संघर्ष जारी रखा था।[113] अठारहवीं सदी के मध्य तक हिन्दुओं की श्रेष्ठता पुनः स्थापित हो चुकी थी। भूमि और राजनीतिक सत्ता के लिये जमींदारों, राजपूत राजाओं और मराठा सरदारों के संघर्ष को हिन्दू संघर्ष और उनके राज्यों को हिन्दू साम्राज्यों की संज्ञा दी। इतना ही नहीं यह भी कहा गया कि इन संघर्षों से सोती हुई हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना जागृत और सशक्त हुई।[114]

इसके बावजूद सम्प्रदायवादियों का कहना था कि हिन्दू पुनरुत्थान और मुक्ति के इस कार्य में अंग्रेजों की विजय से बाधा पड़ी।[115] लेकिन भारत में अंग्रेजों को विजय दिलाने में मुसलमानों ने ही सहायता की थी।[116] इसीलिए 1938 में सावरकर ने यह आह्वान भी किया कि – "यह हिन्दुओं की वर्तमान पीढ़ी का काम है कि वह अपने राष्ट्रीय जीवन का सूत्र उठाये .... जहाँ कि हमारे हिन्दुओं के मराठा और सिख साम्राज्यों के पतन के समय हमारे पूर्वजों ने उसे छोड़ा था।"[117]

इसकी प्रतिक्रिया में पहले शिक्षित मुसलमानों एवं बाद में मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने इस्लामी, अरबी और तुर्की उपलब्धियों को महिमामंडित किया। उन्होंने अपने नायक, मिथक एवं सांस्कृतिक परम्परायें मध्य एशिया के इतिहास में ढूढ़े। सैयद अहमद खान द्वार फैज (तुर्की) टोपी को लोकप्रिय बनाना इसी का प्रतीक था। इतिहास, परंपराओं, नायकों एवं मिथकों का प्रयोग भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न संस्कृतियों के और विभिन्न भाषायें बोलने वाले मुसलमानों को एक समुदाय का सदस्य होने की भावना उत्पन्न करने के लिये किया गया। कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया कि – "ऐसा प्रतीत होता था कि सर्व इस्लाम ने उनके समक्ष आशाओं ओर आकांक्षाओं का एक नया ही परिदृश्य खोल दिया था, जो भारतीय राष्ट्रीयता की तुलना में उन्हें अधिक आकर्षक एवं अनुकूल प्रतीत होता था, क्योंकि इस नये परिदृश्य में उनकी कल्पना भयावह हिन्दू राज के विपरीत थी, पर्याप्त सुरक्षा पाती थी।"[118]

इस प्रकार दोनों ही पक्षों के साम्प्रदायिक लोगों द्वारा इतिहास की व्याख्या अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये की गयी। साथ ही इससे ब्रिटिश शासन के 'फूट डालो एवं राज करो' की नीति को समर्थन एवं बल मिला तथा इस धारणा से उपनिवेशकालीन लेखन (ब्रिटिश एवं भारतीय) भी प्रभावित हुआ।

साम्प्रदायिक समस्या का एक पहलू धर्म एवं समाज सुधार के लिये चलाये गये नवजागरण आन्दोलन के विभिन्न वर्गों के सांस्कृतिक पक्ष में था। मध्यवर्गीय हिन्दू बुद्धिजीवियों के बीच से उभरा राष्ट्रवाद एक महत्वपूर्ण धारा के रूप में उच्च वर्गीय हिन्दू संस्कृति के साथ जुड़ गया। परिणामस्वरूप अनेक लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन के बड़े भाग के उच्च वर्गीय सांस्कृतिक नियमों से सामंजस्य बिठाने में कठिनाई हुई। यद्यपि कि सुधार और दृष्टिकोण नये होते थे, केवल उन्हें तर्कसंगत आवरण देने के लिए अतीत की ओर देखा जाता था, फिर भी अतीत में स्वर्ण युग देखने की प्रवृत्ति ने आधुनिक विज्ञान को स्वीकार करने ओर वर्तमान को सुधारने के प्रयास में बाधा उत्पन्न की।

इस प्रवृत्ति ने न केवल हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों और पारसियों को विभाजित किया, वरन निम्न एवं उच्च जातीय हिन्दुओं को भी अलग करने की कोशिश की। इन सुधारकों ने सांस्कृतिक विरासत के धार्मिक तथा दार्शनिक पक्षों पर एकांगी जोर दिया, यद्यपि कि ये सबके साझी विरासत नहीं थे। जबकि कला, वास्तुकला, साहित्य, संगीत, विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्रों की अवहेलना की, जिसमें कि सभी श्रेणियों के लोगों की समान भागीदारी थी। सुधारकों ने मध्यकालीन इतिहास को अवनति के युग के रूप में देखा, जबकि ऐसा करना न केवल गैर ऐतिहासिक था, अपितु सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से हानिप्रद भी था।

अतीत की नैतिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से न तो सभी भारतीयों ने प्रेरणा ग्रहण की और न ही गौरवान्वित हुये। इससे अतीत की उपलब्धियाँ पक्षगत आधार पर अलग–अलग भागों में विभाजित होती गयीं और दो पृथक कौमों की धारणा वाली प्रवृत्ति पुष्ट होती गयी। मुस्लिम मध्य वर्गों के अनेक व्यक्तियों ने अपनी परम्पराओं के लिये पश्चिम एशिया के इतिहास की ओर दृष्टिपात किया। दूसरी ओर उत्तरोत्तर हिन्दू, मुसलमान, सिख और पारसी तथा निम्न जातीय हिन्दू, जो सुधार आन्दोलनों से प्रभावित हुये, एक दूसरे से अलग होने लगे। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना के तीव्रतर उदय के साथ साम्प्रदायिक चेतना भी उद्‌भूत होने लगी, जिसका संकेत ए.आर. देसाई ने किया है– "जब राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बहुवर्गीय, बहुसाम्प्रदायिक हो गया तब इन्हीं धर्म सुधार आन्दोलनों में अधिकांश राष्ट्रीय चेतना के विकास के रूप में न होकर इसके विकास में अवरोधक का काम करने लगे। इनमें से कुछ राष्ट्रविरोधी विघटन और स्वतंत्रता के संयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी सिद्ध हुये। उनकी भूमिका में यह परिवर्तन इसलिये आया कि वे राष्ट्रीय धर्म सुधार आन्दोलन न रहकर धार्मिक साम्प्रदायिक आन्दोलन में परिवर्तित हो गये।"[119]

इन पुनरुत्थान आन्दोलनों ने मध्यकाल में आरंभ हुई गंगा–जमुनी संस्कृति के विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध किया। प्रायः इन सुधार आन्दोलनों में उन्ही पक्षों को उजागर करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, जहाँ उनमें अन्य धर्मों से भिन्नता होती थी। धर्म सुधारकों का यह प्रयास होता था कि लोग एक दूसरे के रीति–रिवाजों परम्पराओं, पर्वों एवं उत्सवों में भागीदारी करने से अलग रहें। 1939 में सुधार आन्दोलनों के इन विभाजक पक्षों की ओर गाँधी जी ने संकेत किया– "यह बात कि हम (हिन्दू, मुसलमान) एक दूसरे से बिल्कुल अलग हैं, उस धारणा का स्वाभाविक परिणाम है, जो आजकल हो रहा है। यह

दोनों के बीच अन्तर पर ही बल देता है और इसने पूर्वाग्रहों, पारस्परिक संदेहों एवं ईर्ष्या भाव को बढ़ाया है।"[120]

बेनी प्रसाद ने भी साम्प्रदायिक समस्या पर ऐसी ही विवेचना की है— "पुनरुत्थान ने इस्लाम में अर्द्ध दीक्षित लोगों में बचे—खुचे हिन्दू आस्था विश्वासों एवं रीति—रिवाजों को अलग कर दिया। दूसरी और हिन्दुओं की जिन उपजातियों ने मुसलमानों का रहन—सहन अपना लिया था, वे हिन्दू पुनरुत्थानवाद या आधुनिकता की ओर आकर्षित होने लगी। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उन रीति—रिवाजों को छोड़ने लगे जिन्हें उन्होंने एक दूसरे से लिया था और जिन्होंने दोनों सम्प्रदायों को जोड़ने का काम किया था। इस प्रकार जीवन एवं चिन्तन के अनेक साझे क्षेत्र सीमित हो गये और अनेक मिलन स्थल समाप्त हो गये।"[121]

इस प्रकार की पृष्ठभूमि में निरन्तर विकसित होती सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैचारिकता ने साम्प्रदायिकता को विस्तृत फलक देने का काम किया, क्योंकि साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का विकास समान रूप से पूरे देश में नहीं हो रहा था। राष्ट्रीय नेतृत्व नयी राष्ट्रीय और वर्गीय चेतना विकसित करने में असफल रहा, यद्यपि कि जब साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष अपने चरम पर होता था तो साम्प्रदायिकता की धार कम हो जाती थी। किन्तु संघर्ष के धीमा पड़ने पर इसका पुनः उभार हो जाता था।

औपनिवेशिक राजनीति के ताने—बाने में मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, आर.एस.एस. एवं अन्य छोटे संगठनों ने साम्प्रदायिकता को और अधिक विकसित एवं प्रसारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी चतुर्थांश में ही रूढ़िवादी राजनीति का विकास दिखायी पड़ता है, जबकि अपने सामाजिक—आर्थिक हितों की रक्षा के लिये हिन्दू एवं मुसलमान भूस्वामी एवं सरकारी अधिकारी संगठित प्रयास करने लगे थे। ऐसा ही एक प्रयास 1880 के दशकांत में सैयद अहमद खान द्वारा हुआ, जब उन्होंने शिवप्रसाद, भींगा नरेश, बनारस नरेश और अन्य लोगों की सहायता से कांग्रेस विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयास किया। ये संयुक्त प्रान्त के ऐसे लोग थे, जिन्हें उभरते मध्यवर्ग एवं जनतांत्रिक राष्ट्रीय आन्दोलन से न केवल खतरा महसूस हो रहा था बल्कि इनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में भी ह्रास हो रहा था। कांग्रेस सरकारी नौकरियों के लिये प्रतियोगिता और विधायिकाओं के लिये चुनावों की माँग कर रही थी, जबकि जागीरदारी तत्त्व चाहते थे कि इन दोनों क्षेत्रों में नामांकन की प्रथा जारी रहे।[122]

भूस्वामी ऐसी विचारधारा की तलाश में थे, जो उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती। सैयद अहमद खान ने इसी स्थिति का फायदा उठाते हुये मुसलमानों को संगठित करना शुरू किया, ताकि धर्म एवं सम्प्रदाय के नाम पर वे भूस्वामियों एवं नौकरशाहों के रूप में अपने वर्गीय हितों की रक्षा कर सकें। इस विरोध को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध मुस्लिम–विरोध का नाम दिया गया। इस प्रकार जागीरदारी और नौकरशाही वर्ग की राजनीति के रूप में मुस्लिम साम्प्रदायिकता को विकसित होने का अवसर मिला।

इस विचारधारा को 1906 में मुस्लिम लीग के गठन से और बल मिला। इन साम्प्रदायिक तत्वों ने सरकारी नौकरियों में सम्प्रदाय के आधार पर आरक्षण और अलग–अलग चुनाव क्षेत्रों के लिये संघर्ष किया। संयुक्त प्रान्त के मुस्लिम भूस्वामियों ने नेशनल एग्रीकल्चरल पार्टियों को तोड़ते हुये मुस्लिम लीग की सदस्यता ले ली और उसे सक्रिय संगठन के रूप में स्थापित कर दिया। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि कृषि आन्दोलनों से उद्भूत खतरों से अपने स्वार्थों की रक्षा की जा सके। यही कारण था कि 1937 के बाद मुस्लिम लीग ने कांग्रेस समर्थित भूमि सुधार सम्बन्धी प्रत्येक पहल का कड़ा विरोध किया। दूसरी ओर 1937 के पश्चात बड़ी संख्या में हिन्दू जमींदार और तालुक्केदार हिन्दू महासभा में सम्मिलित हो गये। उन्हें महासभा के प्रति और भी आकर्षित करने के लिए इसके अध्यक्ष वी.डी. सावरकर ने जमींदारों एवं काश्तकारों के बीच किसी भी स्वार्थी संघर्ष की भर्त्सना की।[123]

इसी प्रकार पंजाब में भी मुस्लिम लीग की निर्भरता बड़े भू–स्वामियों पर थी। यद्यपि कि शुरुआती दौर में भूस्वामी पश्चिमी केन्द्रीय पंजाब में मुसलमान, हिन्दू एवं सिख भूस्वामियों को एक साथ संगठित करने वाली यूनियनिस्ट पार्टी को समर्थन देते थे। किन्तु 1937–43 के बीच साम्प्रदायिकता की देशव्यापी वृद्धि ने लीग और यूनियनिस्ट पार्टी के सम्बन्धों में और प्रगाढ़ता ला दी और 1946 के चुनावों में तो लीग ने उस पर प्रभावी विस्तार पा लिया। दूसरी ओर 1920 के दशक में पंजाब में हिन्दू महासभा ने शोषक साहूकारों एवं व्यापारियों के हितों के विरुद्ध बनने वाले कृषि कानूनों का न केवल विरोध किया बल्कि हिन्दू हितों के खतरे में पड़ने की बात भी प्रसारित करने लगी।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल में, मुसलमान जमींदार, अभिजन एवं अन्य जागीरदारी तत्व मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गये। 1937 के चुनावों में लीग और कृषक प्रजा पार्टी के बीच चुनावों में संघर्ष हुआ किन्तु फजलुल हक के प्रधानमंत्रित्व में लीग मंत्रिमण्डल में दोनों पार्टियों ने मिलकर काम

किया। फजलुल हक पर जमींदारों के प्रभाव वृद्धि के साथ–साथ उनका चरित्र भी साम्प्रदायिक होता गया। बंगाल में हिन्दू महासभा यद्यपि महत्वपूर्ण शक्ति नहीं थी तथापि जमींदारों के प्रभाव के चलते बड़ी संख्या में राष्ट्रवादियों की प्रवृत्ति कृषि सुधारों का विरोध करने की रही।

सम्प्रदायवादी आर्थिक संरचना में किसी भी लाभकारी परिवर्तन का विरोध करते थे, क्योंकि इससे उनके स्वार्थों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता था। उदाहरणार्थ, हिन्दू महासभा उन भू सुधारों का विरोध करती थी, जिससे छोटे भूस्वामी लाभान्वित होते थे। ऐसा करने के पीछे बड़े भूस्वामियों एवं साहूकारों का हिन्दू महासभा को मिलने वाला समर्थन था। इसी तरह मुस्लिम लीग भी सामान्यतः भूस्वामी विरोधी कदम उठाये जाने के विरुद्ध थी। उदाहरण के लिये 1938 में कांग्रेस द्वारा रखे गये यू.पी. टेनेन्सी बिल का विरोध मुस्लिम लीग द्वारा किया गया। स्पष्टतः साम्प्रदायिक नेता उच्चवर्गीय रूढ़िवादी भावनाओं की तुष्टीकरण की नीति अख्तियार करते हुये सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों का विरोध करते थे। जिन्ना उच्च वर्गों को बार–बार यह कहकर डराया करते थे कि कांग्रेस की नीति वर्ग कटुता को जन्म देगी। उन्होंने चेतावनी दी कि भूख और गरीबी की ये बातें लोगों को समाजवादी और साम्यवादी विचारों की ओर प्रेरित करेगीं।[124] इसी प्रकार हिन्दू महासभा 'वर्ग संघर्ष' से समाज को बचाने की वकालत कर रही थी।[125]

हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही साम्प्रदायिक नेतृत्व का दृष्टिकोण प्रायः जनतंत्र एवं सामाजिक समता के विचारों का विरोधी था। सैयद अहमद खान, मु. शफी और उन जैसे अन्य लोगों ने कांग्रेस में सम्मिलित होने वाले मुसलमानों की आलोचना की और कहा कि ऐसे लोगों में कोई माद्दा नहीं है और वे निम्न या गरीब वर्गों के हैं। 'रईस' तो जो मुल्क के नेता माने जाते हैं, कांग्रेस के खिलाफ ही है।[126] जनतंत्र के विरुद्ध सम्प्रदायवादियों का मुख्य आरोप था कि इससे बहुसंख्यकों का शासन होगा। सामाजिक–आर्थिक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि इंग्लैंड की सम्पूर्ण जनसंख्या एक ही समुदाय है किन्तु भारत के लिए बिल्कुल बेकार है। जहाँ जातिभेद अभी बने हुये हैं, जहाँ विभिन्न जातियों का अभी मेल नहीं हुआ है, जहाँ धार्मिक भेद अभी प्रखर है ....। यहाँ तो बड़ा समुदाय छोटे समुदाय के हितों को पूरी तरह कुचल डालेगा।"[127]

आगा खान के नेतृत्व में जो मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल 1906 में वायसराय मिण्टो से मिला था, उसके ज्ञापन में यह उल्लिखित किया गया था कि

'मुस्लिम हितों को एक ही द्वेषपूर्ण बहुमत की दया पर न छोडा जाय।'[128] अपितु इसके लिये जनतांत्रिक संस्थाओं को भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाय। मुहम्मद अली जिन्ना ने इसी तर्क को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाया। फरवरी 1938 में अलीगढ़ में उन्होंने कहा— "अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिये प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र लाना इसका समाधान नहीं है क्योंकि बहुसंख्यक तो साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ही काम करेंगे। इसका एकमात्र समाधान यही है कि अल्पसंख्यकों को सत्ता में एक निश्चित हिस्सा मिले अर्थात् प्रतिनिध्यात्मक सरकार की प्रणाली से बाहर।"[129]

भारत में जनतंत्र के भविष्य पर बोलते हुये उन्होंने दावा किया कि जनतंत्र का मतलब केवल यही हो सकता है कि सारे हिन्दुस्तान में केवल हिन्दुओं का राज हो।[130] इसी कड़ी में 1940 का अल्पसंख्यक समुदाय का तर्क दो राष्ट्रों के तर्क में रूपान्तरित हो चुका था। जिन्ना का दावा था कि — "पश्चिमी जनतंत्र भारत को कत्तई रास नहीं आयेगा और भारत पर इसे लादने का मतलब होगा राज्यरूपी शरीर को बीमार करना।" इस तर्क के आधार पर उनकी मान्यता थी कि "भारत में एक बड़ा और एक छोटा दो राष्ट्र (कौमें) हैं। इसीलिये जाहिर है कि बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित संसदीय व्यवस्था का अर्थ निश्चित रूप से बड़ी कौम का शासन होगा।" यही कारण है कि — "कांग्रेस जो कि मुख्यतः एक हिन्दू संगठन है, आरम्भ से ही भारत के लिये पूर्णतः जनतांत्रिक सरकार की व्यवस्था प्राप्त करने के लिये प्रयास करती रही।"[131] इसी बात की बार—बार पुनरावृत्ति करते हुये जिन्ना ने अपने तर्क को विभाजनवादी रुख दे दिया।

दूसरी ओर ऐसा ही दृष्टिकोण हिन्दू महासभा और उसके नेतृत्व वर्ग ने अपनाया। 1938 में भाई परमानन्द ने माँग की कि संघीय विधायिका में रजवाड़ों के प्रतिनिधियों का चुनाव नरेश ही करें। उन्होंने यह भी कहा कि नरेश हमारे अपने हैं, हमारे राष्ट्र शरीर के सबसे आवश्यक अंग है।[132] हिन्दू महासभा के 1940 के अधिवेशन में सभापति पद से बोलते हुये वी.डी. सावरकर ने हिन्दू राजाओं का प्रबल समर्थन किया। उन्हें इस बात का एहसास हो रहा है कि उनका कर्तव्य न केवल हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति रखने तक सीमित है, अपितु उन्हें हिन्दू आन्दोलन का नेतृत्व भी करना है' और यह भी कि उनके वर्तमान और भावी हित सर्व हिन्दू आन्दोलन के साथ जुड़े हुये हैं। यही नहीं उन्होंने हिन्दुओं को मुसलमानों (सम्प्रदायवादी) का अनुकरण करने के लिये प्रेरित किया। जो भारत में स्थित चन्द मुस्लिम रियासतों के प्रति गौरव का अनुभव

करते थे और उन्हें मुसलमान शक्ति के संगठित केन्द्र के रूप में देखते थे और यहाँ तक कि अपने नवाबों और निजामों की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने का भी प्रयास करते थे।[133]

इस प्रकार सम्प्रदायवादी प्रायः उपनिवेशवाद समर्थक राजभक्ति का दृष्टिकोण अपनाते थे। उन्होंने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध या स्वाधीनता के लिये भी किसी प्रकार का संघर्ष या आन्दोलन नहीं किया, चाहे स्वाधीनता की उनकी अपनी जो भी धारणा रही हो। जब कोई आन्दोलन संगठित भी हुआ तो वह अंग्रेजों के विरुद्ध न होकर राष्ट्रवादियों एवं अन्य धर्मावलम्बियों के विरुद्ध ही रहा। उदाहरण के लिए 1939 में मुक्ति दिवस के रूप में जो आन्दोलन हुआ वह कांग्रेस के विरुद्ध था।

इस सन्दर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि साम्प्रदायिक लोगों द्वारा उपनिवेश समर्थक राजनीति उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का व्यवहारिक परिणाम नहीं था, बल्कि यह उनकी सार्वजनिक राजनीति का हिस्सा था। अधिकांश चैतन्य भारतीयों की तरह पराधीनता की शर्म एवं पीड़ा उनमें से कई महसूस करते थे, जैसा कि 1938 के लीग के अध्यक्ष पद से बोलते हुये जिन्ना ने स्पष्टतः इन्कार किया कि लीग साम्राज्यवाद की मित्र है, बल्कि इसके पीछे के मन्तव्य को उन्होंने स्पष्ट किया– "मैं कहता हूँ कि मुस्लिम लीग किसी भी शक्ति की सहयोगी होने वाली नहीं है, किन्तु आवश्यकता पड़ी तो वह मुसलमानों के हित में शैतान की मित्र भी बनेगी। इसका कारण यह नहीं है कि हमें साम्राज्यवाद से प्यार है, लेकिन राजनीति में तो शतरंज की तरह चाल चलनी पड़ती है।"[134]

ऐसी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति 1933 में हिन्दू महासभा के सभापति के रूप में भाई परमानन्द ने की– "ब्रिटिश सरकार और मुसलमानों के बीच स्पष्ट रूप से मित्रता है। हम ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं, जहाँ कांग्रेस और हिन्दू–मुस्लिम एकता तथा सविनय अवज्ञा द्वारा स्वराज्य–प्राप्ति के उसके सिद्धान्त के लिये कोई स्थान नहीं है। हिन्दुओं का भविष्य बहुत निराशापूर्ण और अंधकारमय है। मुझे लगता है यदि हिन्दुओं को नये भारत की राजनीतिक संस्थाओं में इस देश के प्रमुख समुदाय की हैसियत और उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति प्रदान की जायेगी तो वे स्वेच्छापूर्वक ग्रेट ब्रिटेन का साथ देंगे। साम्प्रदायिकता के निचले स्तरों में राजभक्ति अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति होती थी। उदाहरण के लिये पंजाब की हिन्दू यूथ लीग में मई 1933 में कहा

गया था कि हम महसूस करते हैं कि वह समय आ गया है जब हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच एकता उतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि अंग्रेजों एवं हिन्दुस्तानियों के बीच।[135]

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और ब्रिटिश शासन का सम्बन्ध अधिक जटिल था। मध्यमवर्गीय युवा स्वयंसेवकों के इस संगठन को उग्रवादी संगठन के रूप में तैयार किया जा रहा था। राष्ट्रवादी नेताओं पर इसके प्रचारकों द्वारा लगातार विषवमन किया जा रहा था। जो कहते हैं हिन्दू–मुसलमान एकता बिना स्वराज नहीं, उन्होंने हमारे समाज के साथ बड़ा विश्वासघात किया है। उन्होंने एक प्राचीन और महान राष्ट्र की आत्मा का हनन करने का जघन्य पाप किया है।[136] इसके अलावा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थितियों में युवाओं को अपने प्रभाव में लाकर राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने से रोका। उनसे कहा जाता था कि उनकी शक्ति भविष्य में मुसलमानों के विरुद्ध प्रयुक्त की जायेगी। डी.आर. गोयल के अनुसार–"युवाओं में बढ़ती हुई ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को कुंद करने तथा उसे मुस्लिम विरोधी दिशा में मोड़ने की नीति को देखते हुये उपनिवेशी सरकार आर.एस.एस. के प्रति कोई गंभीर कार्यवाही नहीं करती थी भले ही उसके नेता प्रशिक्षण शिविरों में कभी–कभी दिखाने के लिये ब्रिटिश विरोधी भाषण भी देते थे, हालाँकि यहाँ भी भाषण की धार मुख्य रूप से मुसलमानों के विरुद्ध ही प्रयुक्त होती थी।[137] मार्च 1942 में गोलवरकर ने कहा था कि– "संघ की स्थापना केवल मुसलमानों के आक्रमण का सामना करने के लिये ही नहीं हुई है अपितु इस बीमारी का समूलोच्छेद करने के लिये हुई है। .... संघ भी स्वराज चाहता था किन्तु 'वह अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं गवाना चाहता था अपितु उचित समय आने पर उसका प्रयोग करना चाहता था।[138]

साम्प्रदायिकता को आगे बढ़ाने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, लेकिन जिम्मेदार रही है। 1888–89 में कांग्रेस के एक प्रस्ताव में कहा गया था कि कोई भी ऐसा प्रस्ताव जिसका किसी धर्म विशेष के बहुसंख्यक प्रतिनिधियों द्वारा विरोध किया जाता है, वापस ले लिया जायेगा। इस तरह 1888–89 में ही कांग्रेस ने एक तरह से धार्मिक कट्टरपंथियों के साथ समझौता कर लिया था। फिर 1916 में लखनऊ पैक्ट द्वारा 'पृथक निर्वाचक मंडल के सिद्धान्त की स्वीकारोक्ति ऐसा ही कदम था। असहयोग के साथ खिलाफत के प्रश्न को जोड़ना भी भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ पाया क्योंकि असहयोग आन्दोलन के तुरन्त बाद 1922–27 के बीच भारत के अधिकांश क्षेत्रों में साम्प्रदायिक दंगे हुये, जिससे संयुक्त प्रान्त और उसका पूर्वी हिस्सा भी अछूता नहीं रहा।

कांग्रेस की यह मूलभूत कमजोरी रही कि वह खुद को मजबूती के साथ हिन्दू एवं मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति से पृथक नहीं रख सकी। कांग्रेस हिन्दू महासभा एवं मुस्लिम लीग दोनों ही के सदस्यों को स्वीकारती रही और साम्प्रदायिकता से संघर्ष करने की जगह विभिन्न साम्प्रदायिक दलों एवं समूहों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाती रही। इस सन्दर्भ में कानपुर के साम्प्रदायिक दंगों की जाँच कमेटी की रिपोर्ट में उद्धृत है– "इन प्रयासों में कांग्रेस ने मध्यस्थ की भूमिका अपना रखी थी, जिसका यह तात्पर्य निकाला जा सकता था कि यह दोनों पक्षों के अतिवादी सम्प्रदायवादियों को अपने–अपने सम्प्रदाय के हितों का सच्चा प्रतिनिधि मानती थी। जितना ही अधिक वह फैसला करने के लिये उनके निकट जाती थी, उतना ही वह देश की ओर से साम्प्रदायिक मामले को निपटाने का अपना निःशंक अधिकार खोती जाती थी। परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक मामलों में वास्तविक नेतृत्व के लिये खुला संघर्ष करके साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय जीवन से उखाड़ फेंकने के स्थान पर खुद कांग्रेस ने ही सम्प्रदायवादियों को अधिक महत्व और प्रतिष्ठा प्रदान कर दी।[139]

इस प्रकार साम्प्रदायिकता को विकसित करने में अतीत के इतिहास से न केवल उद्धरण जुटाये गये बल्कि उनके लिये विद्वेषपूर्ण भाषा का उपयोग भी किया गया, जिससे जन–सामान्य में ऐसे विचारों को आसानी से लोकप्रिय बनाया जा सके। यह प्रयोग दोनों सम्प्रदायों द्वारा किया गया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ऐसी स्थिति से औपनिवेशिक शासन का हित साधन होता था। अतः वह अपनी सुविधा एवं लाभ की दृष्टि से समय–समय पर दोनों पक्षों का समर्थन भी करता था। भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस पार्टी इन स्थितियों पर न केवल कोई नियंत्रण कर सकी बल्कि प्रायः ऐसे तत्वों के साथ उसका रुख समझौता पूर्ण हो जाता था। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता को विकसित होने का अवसर मिलता गया।

सन्दर्भ

1. पाण्डेय ज्ञान, 'द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया' आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1955, पृ. 241.
2. शाकिर मोइन, 'इस्लाम इन इंडियन पालिटिक्स' अजन्ता पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1983, पृ. 30.
3. पनिक्कर के.एन., कम्यूनलिज्म इन इंडिया, ए पर्सपेक्टिव फार इन्टरेक्शन, फोर्थ वी.पी. चिन्थन, मेमोरियल लेक्चर, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1991.
4. ब्रास पाल आर., 'लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1974,पृ. 120.
5. ब्रास पाल आर., वही, पृ. 120.
6. ब्रास पाल आर., वही, पृ. 121.
7. स्मिथ डब्ल्यू.सी., 'माडर्न इस्लाम इन इंडिया : सोशल एनालिसिस, नई दिल्ली, 1979, पृ. 187.
8. चन्द्र बिपन, 'आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृ. 1.
9. फ्रितॉग एस., रिलीजियस राइट्स एण्ड रायट्स फ्राम कम्यूनिटी आइडेन्टिटी टू कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया (1870—1940) कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी, ब्रेकले, शोध प्रबन्ध, पृ. 2) ज्ञान पाण्डेय की वही पुस्तक, पृ. 2.
10. शशि जोशी भगवान जोश, 'स्ट्रगल फार हेजिमनी इन इण्डिया, कल्चर कम्युनिटी एण्ड पावर, खण्ड 3 (1841—47), नई दिल्ली, 1994 पृ. 15—20, 349.
11. नेहरू, जवाहर लाल, 'सेलेक्टेड वर्क्स' खण्ड 8, पृ. 119.
12. नेहरू, जवाहर लाल, डिस्कवरी आफ इण्डिया, लन्दन, 1951 (तृतीय संस्करण) पृ. 333.
13. नेहरू, जवाहर लाल, 'सेलेक्टेड वर्क्स' खण्ड 3 पृ. 37.
14. मॉरिसन थियोडोर, मोहम्मडन मूवमेण्ट्स (जे.कमिंग द्वारा सम्पादित पोलिटिकल इंडिया) लंदन, 1932, ज्ञान पाण्डेय द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ. 2.
15. पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक, पृ. 6.
16. पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक, पृ. 2—3.

17. हार्डग्रेव राबर्ट जूनियर, इण्डिया : गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स इन डेवलपिंग नेशन्स, 1977.

18. चन्द्र बिपिन, वही पुस्तक, पृ. 1—2.

19. लैम्बर्ट रिचर्ड डी., 'हिन्दू कम्युनल ग्रुप्स', पार्क एवं टिंकेर द्वारा सम्पादित 'लीडरशिप एण्ड पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन इन इंडिया में उद्धृत, पृ. 211.

20. मिचेल जी.डी., 'ए न्यू डिक्शनरी आफ सोशियोलाजी (सम्पा.) 1981, पृ. 31.

21. शाकिर मोइन, वही पुस्तक, पृ. 29.

22. क्रूज हेन्स, सम प्राब्लम आफ इण्डिपेन्डेन्ट इण्डिया' साउथ एशियन स्टडीज, भाग 4, नई दिल्ली, पृ. 51.

23. डुमॉण्ट लुइस, 'नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म इन रेलिजन पालिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इण्डिया, पेरिस, 1970, पृ. 90.

24. स्मिथ डब्ल्यू.सी., 'माडर्न मुस्लिम राइटिंग इन इंगलिश' फिलिप सी.एच. के हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन में उद्धृत, पृ. 322.

25. शाकिर मोइन, वही पुस्तक, पृ. 30.

26. स्मिथ डब्ल्यू. सी., वही पुस्तक, पृ. 46.

27. बनर्जी आशीष, कम्प्रेटिव कर्फ्यू—चेन्जिंग डाइमेन्सन्स आफ कम्युनल पालिटिक्स इन इंडिया में, उद्धृत, दास वीना की पुस्तक (संपा.) 'कम्यूनिटीज रायट्स एण्ड सर्वाइवर्स इन साउथ एशिया में, आक्सफोर्ड पब्लिकेशन 1992, पृ. 65.

28. सिंह वी.वी., कम्युनल वायलेन्स, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1993, पृ. 76.

29. स्मेल्सर एन.जे., थियरी आफ कलेक्टिव विहेवियर, फ्री प्रेस, न्यूयार्क 1962.

30. मुखर्जी आदित्य, कलोनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म, एस. गोपाल द्वारा सम्पादित द एनॉटमी आफ कन्फ्रन्टेशन द बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि इश्यू, पेंगुइन बुक्स इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1991 में उद्धृत

31. स्मिथ, डब्ल्यू. सी., वही पुस्तक

32. चन्द्र बिपन, वही पुस्तक, साम्प्रदायिकता क्या है अध्याय में विस्तृत रूप से पृ. 1—23.

33. मोहन्ती एम., ए डेमोक्रेटिक राइट्स पर्सपेक्टिव, लोकायन बुलेटिन, 1987, पृ. 58.

34. इंजीनियर, ए.ए., 'कम्यूनलिज्म इट्स फैक्ट्स एण्ड रायट्स' मेनस्ट्रीम (XXIV) जून 1986, पृ. 17.

35. वही. पृ. 17.

36. इंजीनियर ए.ए., व्हाई एण्ड हाउ आफ कम्युनल रायट्स, मेनस्ट्रीम (XIX) अक्टूबर 1980.

37. शाकिर मोइन, नोट्स आन नेशनल इण्टीग्रेशन, शाकिर मोइन एवं इंजीनियर असगर अली द्वारा सम्पादित 'कम्यूनलिज्म इन इण्डिया' में, दिल्ली, 1985, पृ. 54.

38. रब्बानी तबन गुलाम, न्यू डाइमेन्सन्स आफ कम्यूनलिज्म' मेनस्ट्रीम अगस्त 1981, पृ. 48.

39. शाहीन हुसैन, 'साफ्टवेयर एण्ड हार्डवेयर आफ कम्यूनलिज्म' इंजीनियर एवं मोइन शाकिर द्वारा सम्पादित 'कम्यूनलिज्म इन इंडिया में, पृ. 82.

40. अहमद अब्दुल, 'कम्यूनलिज्म इन कश्मीर' इंजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक, पृ. 147.

41. दीक्षित प्रभा, 'कम्यूनलिज्म : ए स्ट्रगल फार पावर' ओरियन्ट लांगमैन, दिल्ली, 1974, पृ. 1—10.

42. वही

43. बानू जैनाब, 'ए पोलिटिकल साइंटिस्ट व्यू आफ कम्यूनलिज्म' इंजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक पृ. 80.

44. दस्तूर एलू, 'कम्यूनलिज्म ए व्यूड बाई पोलिटिकल साइंटिस्ट' इंजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक, पृ. 73.

45. नायक पांडव, रिलेशनशिप बिटवीन द पोलिटिकल एण्ड कम्यूनल मेटेरियलिस्ट क्रिटीक, इंजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक पृ. 28.

46. कबीर हुमायूँ, माइनारिटीज इन ए डेमोक्रेसी, कलकत्ता, 1985, पृ. 6.

47. वही, पृ. 6.

48. वही, पृ. 20.

49. लोखंडवाला एस.टी., इस्लाम एण्ड कम्यूनलिज्म, इंजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक, पृ. 106–07.

50. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, नई दिल्ली, 1997, पृ. 169.

51. चाँद, एस.एम., नेशनल लीडर्स आन कम्यूनलिज्म, जयपुर 1985, पृ. 63

52. दास सुरंजन, कम्यूनल रायट्स इन बंगाल (1905–47), आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1993, पृ. 213.

53. मार्क्स कार्ल एण्ड एजेंल्स फ्रेडरिक, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 3, फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, 1955, पृ. 165.

54. पाण्डेय राजेन्द्र, सोशियोलाजी आफ अण्डर डेवलपमेंट : थीसिस एण्ड क्रिटीक, मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 1–4.

55 लाँडग्रीन हेनरी क्ले, एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी, विली डस्टर्न लि., नई दिल्ली, पृ. 230.

56. धुर्ये, जी.एस., सोशल टेन्शन इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1968, पृ. 14.

57. वही, पृ. 8.

58. लांडग्रीन हेनरी क्ले, वही पुस्तक, पृ. 231.

59. कुप्पूस्वामी बी., एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस 1980, पृ. 441.

60. गार्डनर एल.एण्ड इलियट ए., द हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलाजी, खण्ड IV, एमेरिन्ड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1969 पृ. 556.

61. सिंह वी.वी., वही पुस्तक, पृ. 48–49.

62. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 28.

63. स्मिथ, डी.ई., इण्डिया एज सेकुलर स्टेट, 1967.

64. देसाई, ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन 1976, पृ. 317 पर उद्धृत

65. वही

66. नेहरू जवाहर लाल, एन आटोबायग्राफी, 1989, पृ. 136.

67. नेहरू जवाहर लाल, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 7 पृ. 190.

68. वही, खण्ड 6, पृ. 69–70.

69. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 181.

70. सरकार सुमित, द वे टू कम्यूनल हॉरमनी, यह कथन पृ. 6–7 पर उद्धृत है।

71. कृष्ण के.बी., द प्राब्लम आफ माइनारिटीज, लंदन, 1939, पृ. 296.

72. देसाई ए.आर., सोशल बैकग्राउण्ड आफ इंडियन नेशनलिज्म, मैकमिलन, 1939, पृ. 362–63.

73. दत्त आर.पी., इण्डिया टुडे, बम्बई, 1949, पृ. 425.

74. प्रसाद बेनी, द हिन्दू मुस्लिम क्वेश्चन, इलाहाबाद, 1941,पृ. 163.

75. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 179.

76. गोपाल एस., ब्रिटिश पालिसी इन इण्डिया (1858–1905) नई दिल्ली, 1975 (पुनर्मुद्रित) पृ. 201.

77. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 188.

78. राबिन्सन फ्रांसिस, सेप्रेटिज्म एमंग इण्डियन मुस्लिम : द पालिटिक्स आफ द यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम 1860–1923, दिल्ली, 1975, पृ. 86.

79. वही, पृ. 349.

80. बाधवा, के.के., माइनारिटी सेफगार्ड इन इंडिया, 1975, पृ. 23–24.

81. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 318.

82. गोपाल आर., इंडियन मुस्लिम ए पोलिटिकल हिस्ट्री, (1858–1947) बम्बई, 1959 परिशिष्ट बी.

83. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 131.

84. वही

85. वही, पृ. 102.

86. घोष एस.के., कम्यूनल रायट्स इन इंडिया, अनीस पब्लिशिंग हाउस, 1987, पृ. 4.

87. लैरी कालिन एण्ड लेपियर डॉमनीक, फ्रीडम एट मिडनाइट, तरंग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 23.

88. वही

89. घोष एस.के., वही पुस्तक, पृ. 4.

90. सावरकर बी.डी., हिन्दुत्व, पुणे, 1949 पुनर्मुद्रित पृ. 75–77.

91. विद्यालंकार एस.एन., नेशनल इण्टीग्रेशन एण्ड टीचिंग आफ हिस्ट्री, नई दिल्ली, पृ. 3.

92. अली मुहम्मद, सेलेक्टेड राइटिंग्स, खण्ड 1, पृ. 77.

93. जिन्ना एम.ए., स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, खण्ड 1, पृ. 161.

94. सावरकर, वी.डी., वही पुस्तक, पृ. 34—37.

95. गोलवरकर, एम.एस., वी आर आवर नेशनहुड डिफाइंड, नागपुर 1947, पृ. 19.

96. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन—ए कलेक्शन आफ प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज, बम्बई, 1949, पृ. 26.

97. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ. 55—56.

98. जिन्ना एम.ए., वही पुस्तक, खण्ड 1, पृ. 230.

99. शाकिर मोइन, खिलाफत टू पाकिस्तान, नई दिल्ली, 1970, पृ. 200.

100. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ. 55—56.

101. जिन्ना एम.ए., वही, खण्ड 1, पृ. 230.

102. सुलेरी जेड.ए., माई लीडर, तृतीय संस्करण 1946, पृ. 229.

103. मुकर्जी आर.के., फंडामेंटल यूनिटी आफ इंडिया, लंदन, 1914, पृ. 6.

104. गोयल डी.आर., राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, दिल्ली, 1979, पृ. 40.

105. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ. 49.

106. वही, पृ. 74.

107. वही, पृ. 17.

108. मैन्शडर्ट सी., हिन्दू—मुस्लिम प्राब्लम इन इण्डिया, लंदन, 1936, पृ. 33.

109. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 68—69.

110. इन्द्र प्रकाश ए रिव्यू पृ.—4, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता में उद्धृत, पृ. 165.

111. वही

112. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 68—69.

113. इन्द्रप्रकाश, ए रिव्यू, पृ. 6, बिपिन चन्द्र की वही पुस्तक, पृ. 169.

114. सावरकर वी.डी., हिन्दुत्व, पृ. 36—56.

115. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 30.

116. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ. 15.

117. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 63.

118. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी,पृ. 207—08.

119. देसाई ए.आर., वही पुस्तक, पृ. 243—44.

120. गांधी एम.के., कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 69, पृ. 280.

121. प्रसाद बेनी, वही पुस्तक,पृ. 25—26.

122. खान सैयद अहमद, राइटिंग एण्ड स्पीचेज, पृ. 209—10.

123. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 141—42.

124. जिन्ना एम.ए., वही पुस्तक, खण्ड 1, पृ. 28.

125. इन्द्र प्रकाश, ए रिव्यू में भाई परमानन्द का कथन, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता में उद्धृत, पृ. 68.

126. खान एस.ए., वही पुस्तक, पृ. 181, अनीता इन्दर सिंह के नेहरू एण्ड द कम्यूनल प्राब्लम (1936—39) में पृ. 19—20 पर उद्धृत।

127. वही, पृ. 156—57.

128. गोपाल आर., वही पुस्तक, पृ. 20.

129. जिन्ना एम.ए., वही खण्ड 1, पृ. 42.

130. वही, पृ. 89.

131. वही, पृ. 117—18.

132. इन्द्रप्रकाश, ए रिव्यू में भाई परमानन्द का कथन, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता में उद्धृत, पृ. 73.

133. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 171—72.

134. जिन्ना एम.ए., वही पुस्तक, पृ. 78.

135. नेहरू के सेलेक्टेड वर्क्स खण्ड 6 में उद्धृत, पृ. 168.

136. गोलवरकर एम.एस., बंच आफ थाट्स, पृ. 150.

137. गोयल डी.आर., वही पुस्तक, पृ. 87.

138. होम डिपार्टमेंट के सी.आईडी. की रिपोर्ट, बिपन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता में उद्धृत, पृ. 90.

139. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 227.

अध्याय—2
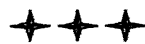
साम्प्रदायिक राजनीति का प्रारम्भिक स्वरूप

मोटे तौर पर इतिहासकारों ने भारत में साम्प्रदायिकता के विकास को चार चरणों में विभाजित किया है। प्रथम चरण (1880—1905) में भारत में साम्प्रदायिकता गोरक्षा आन्दोलन एवं हिन्दी—उर्दू विवाद के इर्द—गिर्द घूमती है। गोहत्या के प्रश्न पर ही 1893 में आजमगढ़ जिले में साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, जो कि हिन्दू एवं मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य को बढ़ाते हैं। इसी अवधि में सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानों के शैक्षणिक एवं सामाजिक स्तर सुधारने के लिए अलीगढ़ अन्दोलन का सूत्रपात करते हैं, जिसने आगे चलकर साम्प्रदायिक रुख अख्तियार कर लिया ।

दूसरे चरण (1906—1918) में भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की भूमिका स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इसी के चलते एक साम्प्रदायिक संगठन अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 में होती है। इसी दौरान औपनिवेशिक शासन द्वारा भारत में मुसलमानों को राष्ट्रवाद से अलग करने के उद्देश्य से बंगाल प्रान्त का विभाजन किया जाता है और मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था 1909 के अधिनियम द्वारा होती है। 1911 में बंग—भंग को रद्द कर दिया जाता है, किन्तु पृथक निर्वाचक मंडल पर कांग्रेस अपनी स्वीकृति की मुहर लखनऊ पैक्ट (1916) के माध्यम से लगाती है। जो कि कांग्रेस के मुस्लिम तुष्टीकरण नीति का परिचायक है।

तीसरे चरण (1919—29) में खिलाफत आदोलन में कांग्रेस की सक्रिय भूमिका होती है, किन्तु असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद देश में कई स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। शुद्धि—संगठन एवं तबलीग —तंजीम आन्दोलन सक्रिय हो जाते हैं। इस दौरान साम्प्रदायिकता में एक नया मोड़ आता है — मो0 अली जिन्ना के चौदह सूत्री कार्यक्रम के रूप में।

साम्प्रदायिकता के विकास के अंतिम चरण में (1930—47) में मुस्लिम लीग को न केवल पुनर्जीवित किया जाता है। बल्कि इसे मुसलमानों के हितों की रक्षा करने वाले दल के रूप में कांग्रेस के समक्ष एक गंभीर चुनौती के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। 1940 में लाहौर अधिवेशन में 'द्वि—राष्ट्र' सिद्धान्त प्रतिपादित होता है और पाकिस्तान की माँग की

जाती है। जिसकी विकृत परिणति 1946 के 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस के रूप में होती है। इस घोषणा के कारण बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रान्त दिल्ली आदि जगहों पर दंगे होते हैं। जो कि अन्ततः पाकिस्तान निर्माण की माँग को अंतिम रूप से पुष्ट करते हैं।

भारत में साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता की भावना का विकास करीब–करीब साथ–साथ होता रहा। राष्ट्रीयता की भावना ने जहाँ स्वतंत्रता संघर्ष को आगे बढ़ाने में अपना योगदान किया, वहीं दूसरी ओर साम्प्रदायिकता ने देश में विघटनकारी शक्तियों को बल दिया, जिससे अन्ततः पाकिस्तान एक अलग सम्प्रभु के रूप में स्थापित हुआ। वास्तव में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत देश को राजनीतिक एकता तो दी थी लेकिन उसका आधार धार्मिक था। उन लोगों (शासकों) ने अपनी ओर से यह सावधानी बरती थी कि भारत को हिन्दू, मुसलमान एवं सिख जैसे धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त कर समुदाय के अभिजात वर्ग को प्रभाव में रखा जाय। ऐसे वर्गों ने न केवल अपने लाभ के लिये ब्रिटिश शासन का उपयोग किया, बल्कि समय–समय पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को मजबूती प्रदान करने में सहायता भी की। इस वर्ग के लोगों ने ऐसे इतिहास को प्रोत्साहन दिया जिसका आधार अलगाववादी था। इन लोगों ने भारत देश की मौलिक एकता पर अपने साम्प्रदायिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के चलते कुठाराघात भी किया। ज्ञानेन्द्र पाण्डेय का यह मानना है कि इस तरह की ऐतिहासिक समझ को भारत देश की उपाश्रयी[1] जनता ने अपना समर्थन नहीं दिया। गहराई में जाने पर ऐसा लगता है कि मुस्लिम अलगाववाद भारत में औपनिवेशिक नीति का दुष्परिणाम था।

साम्प्रदायिक धारणा ने इस तरह के वातावरण का निर्माण किया जिससे यह लगने लगा कि हिन्दू एवं मुसलमान परस्पर विरोधी इकाइयाँ थीं, जिनका विकास मध्यकाल से ही 'दो राष्ट्रों' के रूप में हो रहा था। इसके ठीक विपरीत राष्ट्रवादी धारणा थी, जिसके अनुसार भारत में हिन्दू–मुसलमान कभी पूरे सौहार्द के वातावरण में रहते थे, लेकिन यह सौहार्द अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के कारण समाप्त हो गया था। इन दोनों ही धारणाओं में देशव्यापी एकता एवं एकरूपता की मान्यता निहित है जो कि सदी के उत्तरार्द्ध में दूर संचार एवं आर्थिक सम्बन्धों के विकास के पूर्व निश्चित रूप से असंभव थी।[2] यह सच है कि भारत में राष्ट्रवाद एवं हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायवाद अनिवार्यतः आधुनिक

संवृत्तियाँ हैं। हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच संघर्ष के उदाहरण गत शताब्दियों में देखे जा सकते हैं। साथ ही शिया सुन्नी के बीच संघर्ष या जातिगत संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु 1880 के दशक के पूर्व साम्प्रदायिक दंगे नहीं के बराबर हुये थे। कूपलैण्ड जो कि साम्राज्यवादी खेमे के इतिहासकार हैं, ने 1809 में बनारस में हुये एक साम्प्रदायिक दंगे का वर्णन किया है। जिसमें ऐसा कहा जाता है कि हिन्दुओं ने पचास मस्जिदों को नष्ट किया। इसके बाद 1871–72 में फिर साम्प्रदायिक दंगों की बात कूपलैण्ड करते हैं। उनका यह भी कहना है कि हिन्दू–मुस्लिम समस्या ही ब्रिटिश शासन के चलते रहने का एक महत्वपूर्ण कारण थी।[3]

सामान्यतः यह समझा जाता है कि साम्प्रदायिकता बहुत हद तक सरकारी नौकरियों एवं राजनीतिक लाभ को लेकर अभिजात वर्ग के संघर्ष का परिणाम थी। लेकिन हकीकत यह है कि सम्प्रदायवाद ने बहुत पहले ही सामूहिक आयाम धारण कर लिया था, यद्यपि कि यह भी मानना पड़ेगा कि सामूहिक साम्प्रदायिकता अभिजन समूहों की गतिविधियों से पूरी तरह अछूती नहीं थी। उदाहरण के तौर पर मोपला या पावना के आन्दोलनों में सम्प्रदायवाद के संभावित पहलू विकसित नहीं हुये थे। शायद ऐसा इसलिये था कि मालाबार या बंगाल में 1870 के दशक में विभाजनवादी बुद्धिपरक नेतृत्व का अभाव था। दूसरी ओर संयुक्त प्रान्त एवं पंजाब में जहाँ हिन्दू और मुसलमानों के अभिजन समूहों का संतुलन समान था, 1880 के दशक के बाद साम्प्रदायिक दंगे आम हो गये। संभवतः ऐसा सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों में समाज के दो बड़े समुदायों के बीच अन्तर के कारण था। जैसे कि संयुक्त प्रान्त के अवध अलीगढ़ और बुलन्दशहर शहरों में हिन्दू काश्तकारों का सामना मुसलमान ताल्लुकेदारों एवं भूस्वामियों से होता था। इस प्रान्त के शहरी क्षेत्रों में मुसलमान प्रायः कारीगर, दुकानदार या छोटे व्यापारी होते थे। पंजाब में हिन्दू व्यापारी और साहूकार मुसलमान काश्तकारों के बीच अलोकप्रिय हो गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में आर्थिक तनाव साम्प्रदायिकता की वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण था। इसी समय गोरक्षा आन्दोलन भी शुरू हुआ, जिसने साम्प्रदायिक सम्बन्धों को और कटु बनाया तथा बाद में इसके चलते 1880 एवं 1890 के दशक में साम्प्रदायिक दंगे हुये। गाय के प्रश्न को लेकर साम्प्रदायिक दंगों का यह सिलसिला 1916–17 तक चलता रहा। इस प्रश्न ने उत्तर भारत में ज्यादा साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया। 1883 से 1891 के बीच गेराल्ड बेरियर[4] ने पंजाब में ऐसे

पन्द्रह दंगों का उल्लेख किया है। पूर्वी संयुक्त प्रान्त एवं बिहार में 1888 एवं 1893 के बीच इन दंगों ने चरम रूप धारण कर लिया था। बलिया, बनारस, आजमगढ़, आरा, सारन, गया और पटना जिले इनसे बुरी तरह प्रभावित हुये।

पश्चिम भारत में भी गोरक्षा आन्दोलन का प्रसार हुआ, जब 1893 में बम्बई के गुजराती मिल मालिक ने गोरक्षा समाज का गठन किया। पश्चिम भारत में साम्प्रदायिकता को और अधिक विकसित करने में बाल गंगाधर तिलक द्वारा सामुदायिक स्तर पर आयोजित होने वाले गणपति उत्सव महत्वपूर्ण कारण थे। गणपति उत्सवों के लिये लिखे जाने वाले गीतों में खुले आम हिन्दुओं से कहा जाता था कि वे मुहर्रम में भाग न लें। इन गीतों में कुछ तो भड़काने वाले होते थे। जैसे– 'अल्लाह ने तुम्हें क्या वरदान दिया है कि तुम आज मुसलमान हो गये ? विदेशी धर्म से मैत्री न करो ...... गाय हमारी माता है। उसे मत भूलो।[5]

कलकत्ता के औद्योगिक उपनगरों में भी साम्प्रदायिक दंगों की पहली रिपोर्ट 1891 में मिलती है। इसके बाद टीटागढ़ और गार्डन रीच में 1896 में बकरीद पर साम्प्रदायिक तनाव हुआ और 1897 में उत्तर कलकत्ता में बड़े पैमाने पर दंगे हुये।

भारत में साम्प्रदायिकता के उद्‌भव और क्रमिक विकास के अध्ययन में सर सैयद अहमद खाँ और उनकी गतिविधियों का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना साम्प्रदायिकता के उद्‌भव को ठीक से नहीं समझा जा सकता है। सर सैयद अहमद की पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर नजर डालें तो यह लगेगा कि सर्वप्रथम वे मुसलमान थे। 1857 के विद्रोह के पहले जैसा कि उनके जीवनीकार हाली ने लिखा है कि उनकी धार्मिक प्रवृत्ति बहुत महत्वपूर्ण थी।[6] अन्य मुसलमानों की तरह उन्होंने भी धार्मिक विषयों पर लिखा, पैगम्बर मुहम्मद की जीवनी लिखी, सुन्नियों के पक्ष में शियाओं के विरुद्ध अपनी दलीलें दीं और बहावीवाद पर अपने विचार रखे। ये सभी कृत्य उनके कट्टर मुसलमान होने के परिचायक थे और किसी भी तीसरे दर्जे के मौलवी द्वारा लिखे जा सकते थे।[7]

1857 के विद्रोह के बाद सैयद अहमद के धार्मिक लेखन में बदलाव आया क्योंकि वे चाहते थे कि उनके धर्मावलम्बियों और ईसाई शासकों के बीच सम्बन्ध सुधरे। इसीलिये उन्होंने बाइबिल पर टिप्पणी लिखी जो कि उनके पहले के लेखन से कम कट्टर थी। इस टिप्पणी का

उद्देश्य मुस्लिम समाज को ईसाइयों के धार्मिक कार्यकलापों से परिचित कराना था। दूसरी ओर उन्होंने मुसलमानों के पुनर्वास की भी प्रक्रिया शुरु करने का प्रयास किया। ऐसा इसलिये जरूरी था कि 1857 के विद्रोह में मुस्लिम भागीदारी ने मुस्लिम समाज को औपनिवेशिक शासन की नजर से गिरा दिया। 1860 में सैयद अहमद ने अपने कई इश्तहारों में इस बात का खुलासा किया कि भारत में जेहाद लाजिमी नहीं है। ब्रिटिश शासन के प्रति मुसलमानों की भक्ति दिखाने के लिये उन्होंने कई ऐसी सूचनायें इन इश्तहारों के माध्यम से दीं जो कि इस बात को सिद्ध करती थीं कि 1857 के विद्रोह के समय मुसलमान ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार थे। ऐसे इश्तहारों की संख्या तीन थी जिनका संकलन 'एन एकाउन्ट आफ द लायल मोहम्मडन्स आफ इंडिया' में मिलता है।[8]

यह सत्य है कि विद्रोह के बाद सैयद अहमद का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों एवं सरकार के वैमनस्यपूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करना था। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी चिन्ता उर्दू बोलने वाले अभिजात वर्ग की स्थिति से थी, जो कि औपनिवेशिक शासन की नीतियों के कारण खतरे में थी। यहाँ यह ध्यान देना भी महत्वपूर्ण है कि उर्दू बोलने वाले मुसलमान केवल एक भाग थे, अन्य गैर मुस्लिम भी उर्दू की पढ़ाई किया करते थे। उर्दू भाषा मुसलमानों की भाषा नहीं थी।

भारतीय समाज के सन्दर्भ में व्याप्त भ्रान्तियों को दूर करने के लिये उन्होंने ब्रिटिश सरकार से यह आग्रह किया कि भारतीयों को विधायिका में प्रतिनिधित्व दिया जाय, क्योंकि इसके बिना सरकार यह नहीं जान सकती है कि किस तरह के कानून एवं विनियम पास नहीं किये जाने चाहिये। इसके बिना वह कभी इस तथ्य से वाकिफ नहीं हो सकती है कि उसे भी जनता की आवाज को सुनना चाहिए।[9] दूसरी ओर आम जनता में ब्रिटिश सरकार के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति थी, उसको दूर करने के लिये उन्होंने शिक्षा के ऊपर जोर दिया। उनका उद्देश्य ग्राहम के शब्दों में था— "शिक्षा, शिक्षा, शिक्षा', 'भारत के सभी सामाजिक राजनीतिक रोग इस उपचार से दूर किये जा सकते हैं।[10]

सैयद अहमद को पूर्ण विश्वास था कि भारतीय मुसलमानों की समस्याओं का निदान शिक्षा में ही निहित है, लेकिन वे यह निश्चित नहीं कर सके कि शिक्षा का स्वरूप क्या हो। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की शिक्षा

नीति का पूरी तरह विरोध किया क्योंकि उनके विचार से मैकाले की शिक्षा पद्धति यहाँ के रहने वाले लोगों की धार्मिक चिन्ताओं से परे थी। मैकाले ने ब्रिटिश सरकार की शिक्षा व्यवस्था में उसकी भाषा की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया था। इसके साथ ही फिका और हदीस को भी शिक्षा व्यवस्था से निकाल दिया गया था तथा फारसी के अध्ययन की भी अवहेलना की गयी थी। सैयद अहमद के अनुसार सरकार की यह मंशा थी कि हिन्दुस्तान में जो भी धर्मावलम्बी उनके आने के समय थे, उनको नष्ट किया जाय।[11] उन्होंने स्थानीय सरकार की उस नीति जिसमें देशी भाषाओं को प्रोत्साहित करना था, विरोध किया। 1859 में एक वक्तव्य[12] में उन्होंने यह तर्क दिया कि ऐसी भाषायें विशेषकर उर्दू उच्च शिक्षा के लिये उपयुक्त माध्यम नहीं है। उन्होंने अंग्रेजी भाषा को अपनाये जाने का समर्थन किया। उसी वर्ष मुरादाबाद में उन्होंने एक फारसी स्कूल की स्थापना की जो कि पारम्परिक शैली का स्कूल था। लेकिन उसमें नयी शिक्षा पद्धति के कुछ तत्वों का समावेश किया गया था। जैसे उपस्थिति पंजिका, निश्चित पाठ्यक्रम एवं परीक्षायें, किन्तु इसका महत्वपूर्ण पहलू आधुनिक इतिहास के अध्ययन पर जोर देना था। सैयद अहमद का यह मानना था कि यदि भारतीयों को अपने समसामयिक इतिहास के बारे में ज्ञान होता तो 1857 का विद्रोह टाला जा सकता था।[13] इस स्कूल की स्थापना में मुरादाबाद के स्थानीय हिन्दू एवं मुसलमानों ने सहयोग किया था।[14]

बाद में सैयद अहमद द्वारा स्थापित साइन्टिफिक सोसाइटी (1864), आधुनिकतावादी उर्दू पत्रिका 'तहज़ीब उल अखलाक' (1870) और अलीगढ़ एंग्लो ओरियन्टल कालेज (1875) ने पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के उच्च वर्गीय मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित किया। सैयद अहमद ने इस्लाम को अपने ही ढंग से परिभाषित किया और स्वतंत्र खोज (इश्तिहार) तथा कुरान के दिव्य ज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान द्वारा खोजे गये प्राकृतिक नियमों के बीच तथाकथित समानताओं पर बल दिया। फिर भी अलीगढ़ में धर्मशास्त्र की कक्षाओं का संचालन रूढ़िवादी मुल्ला ही करते थे और समय बीतने के साथ विशेषतः मोहसिन उल मुल्क के समय में अलीगढ़ के आधुनिकतावादी तत्व शिथिल पड़ते गये। इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात यह थी कि सर सैयद अहमद ने हमेशा इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि पाश्चात्य शिक्षा उच्चवर्गीय मुसलमानों को मुसलमानों के रूप में मिले जो मुसलमानों में सामूहिक एकता की भावना पैदा करे। उनके कार्यक्रम बड़े

सुचारु रूप से उस नई ब्रिटिश नीति का अनुसरण करते थे जिसका निर्माण हण्टर के 'इंडियन मुसलमान्स' द्वारा हुआ था। जिसे 1871 में मेयो ने नियुक्त किया था। इस नीति के तहत हण्टर का कहना था कि अंग्रेजों को मुसलमानों की एक ऐसी नई पीढ़ी के विकास में सहायक होना चाहिये, जिसमें पश्चिम के ज्ञान का खुशनुमा रंग हो। साथ ही उसे अपनी धार्मिक संहिता का भी पर्याप्त ज्ञान हो, ताकि वह अपने समुदाय के लोगों का पर्याप्त आदर प्राप्त कर सके।[15]

इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अलीगढ़ को ब्रिटिश सरकार का असाधारण संरक्षण मिला। जिसमें वायसराय लार्ड नार्थब्रुक द्वारा दिया गया दस हजार रूपये का निजी दान भी सम्मिलित था। सबसे बढ़कर यह ब्रिटिश समर्थन ही था जिसके कारण एक व्यक्ति जिसके धार्मिक विचार इतने अरूढ़िवादी थे कि उसके अपने सहधर्मियों ने काफिर घोषित कर दिया था, अपने सम्प्रदाय का हिमायती माना गया।[16] संयुक्त प्रान्त के मुसलमान जमींदारों एवं पारम्परिक नौकरी पेशा परिवारों ने सैयद अहमद को सामाजिक आधार प्रदान किया, जो विशेषाधिकार प्राप्त किन्तु धीरे–धीरे क्षीण पड़ते समूह थे। इस प्रकार हण्टर ने बंगाल की विशिष्ट स्थिति के आधार पर जहाँ कि शहरी उच्चवर्ग के मुसलमानों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी, का जो सामान्यीकरण किया था और जिसे अनेक अंग्रेज अधिकारियों एवं मुसलमान नेताओं ने स्वीकार कर लिया था, के विपरीत अलगाववाद का कारण मुसलमानों का पिछड़ापन नहीं था, अपितु यह पारम्परिक मुसलमान अभिजात वर्ग को हिन्दू व्यापारी साहूकार और व्यवसायिक समूहों से खतरा उत्पन्न होना था। जो जमीनें खरीद रहे थे, नगर पालिकाओं पर कब्जा जमा रहे थे और उनकी कीमत पर नौकरियाँ प्राप्त कर रहे थे। ऐसी ही स्थिति किन्तु उल्टे रूप में पंजाब में भी देखी जा सकती थी, जहाँ केनेथ जोन्स आर्य समाज के पुनरुत्थानवाद के प्रति बढ़ते आकर्षण का कारण अंशतः उस मुस्लिम चुनौती को मानते हैं, जो खत्री अरोड़ा और वाडिया समुदायों के व्यापारिक एवं व्यावसायिक प्रभुत्व को मिल रही थी।

आरम्भ में अंग्रेजों द्वारा अलीगढ़ आन्दोलन को समर्थन देने का कारण यह नहीं था कि उन्हें कांग्रेस छाप राष्ट्रवाद को संतुलित करने के लिये एक जवाबी आन्दोलन की आवश्यकता थी, बल्कि सरकार को भारतीय इस्लाम की कुछ एक अन्य प्रवृत्तियों से भय था। यहाँ पर ध्यान देने

योग्य बात यह है कि कांग्रेस इस समय तक ब्रिटिश सरकार के लिये कोई खतरा नहीं थी। ब्रिटिश सरकार को ज्यादा भय उस कट्टरवाद और विदेश विरोधी मानसिकता से था जिसे कुछ धार्मिक नेता जनसामान्य में प्रचारित कर रहे थे। जिसे पीटर हार्डी ने छोटी जोत वाले किसानों, मुल्लों, अध्यापकों, पुस्तक विक्रेताओं, छोटे कर्मचारियों एवं कुशल कारीगरों का औद्योगिक पूर्व निम्न मध्यवर्ग कहा है। जो लोग अपनी भाषा में पढ़ना लिखना जानते थे और जिनका धार्मिक जोश बड़े जल्दी ही उबाल में आ जाता था।[17] मोटे तौर पर हिन्दुओं के भी ऐसे समूह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पुनरुत्थानवादी एवं अतिवादी राष्ट्रवाद की ओर आकर्षित हो रहे थे।

मुसलमानों के बीच एक और भी शान्त प्रकृति की अंग्रेज विरोधी प्रवृत्ति देवबन्द के धार्मिक मठ में जीवित रही, जिसकी स्थापना 1867 में हुई थी। बहावियों के विपरीत यह कट्टर रूप से रूढ़िवादी थे और इसी कारण सैयद अहमद के प्रति वैमनस्य रखते थे कि उन्होंने धर्मशास्त्र में नयी परिभाषायें दी थीं साथ ही वे राजभक्त थे। देवबन्द ने अपेक्षाकृत गरीब विद्यार्थियों को आकर्षित किया जो पश्चिमी शिक्षा का व्यय नहीं उठा सकते थे। देवबन्द ने अपने यहाँ से निकलने वाले मदरसों के अध्यापकों के माध्यम से अपना प्रभाव बनाये रखा और बीसवीं सदी में कांग्रेसी राष्ट्रवाद को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया।

ब्रिटिश सरकार को सबसे अधिक भय अखिल इस्लामी भावनाओं के प्रसार से था। इन भावनाओं को उत्तेजित करने वाला स्रोत था— उस्मानिया सुल्तान तथा खलीफा का दूरस्थ व्यक्तित्व। विशेष रूप से 1876—78 के बाल्कन युद्ध एवं 1896—97 के यूनानी—तुर्की युद्ध के समय आधुनिक अखिल इस्लामवाद के संस्थापक जमालुद्दीन अलफगानी 1879—82 के बीच भारत में स्वयं उपस्थित थे तथा हैदराबाद एवं कलकत्ता में लिखते एवं व्याख्यान देते थे। यद्यपि जमालुद्दीन ने सर सैयद अहमद पर तीव्र प्रहार किये।[18] किन्तु स्वयं उनके धर्मशास्त्र सम्बन्धी विचार सैयद अहमद से कम अपारम्परिक नहीं थे और उन्होंने कलकत्ता में विद्यार्थियों को दिये व्याख्यानों में हिन्दू—मुस्लिम एकता की मार्मिक हिमायत की थी। वास्तव में उन्हें सैयद अहमद के पिट्ठू होने पर आपत्ति थी। इस बात के प्रमाण हैं कि 1890 के दशक तक कलकत्ता के मुसलमान पटसन मजदूरों तक को यह सिखाया जाने लगा था कि सुल्तान दूरस्थ ही सही एक शक्तिशाली संरक्षक है।

1897 के कलकत्ता दंगों में अखिल इस्लामवाद का योगदान रहा। 20 वर्ष बाद यही खिलाफत आन्दोलन के माध्यम से एक सशक्त साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति बना। साथ ही राष्ट्रवाद के बढ़ते कदम पर भी अंकुश रखने का प्रयास किया।

इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज में हिन्दू और मुसलमान समुदायों के बीच संघर्ष उतना उग्र नहीं था जितना कि इन दोनों समुदायों के भीतर होने वाला संघर्ष। किन्तु 1880 एवं 1890 के दशकों में सम्प्रदायवाद भी पहली बार एक अखिल भारतीय आयाम ग्रहण कर रहा था। उर्दू एवं देवनागरी विवाद तथा गोरक्षा इसके दो महत्वपूर्ण मुद्दे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में गोरक्षा एक महत्वपूर्ण मुद्दा था जिसने हिन्दू एवं मुसलमान के बीच बढ़ती खाईं को और बढ़ाया। यह एक ऐसा मुद्दा था जिसने अभिजात वर्ग और लोकव्यापी साम्राज्यवाद को एक धरातल पर ला खड़ा किया। गोरक्षा के हिमायती हिन्दुओं को आशा थी कि इस सम्बन्ध में कोई कानून बनेगा जिसके लिये वे आन्दोलनरत थे। संयुक्त प्रान्त की कई म्यूनिस्पल कौंसिलों ने उपनियम पारित किये थे, जो बूचड़खानों एवं कबाब की दुकानों पर स्वच्छता के तथाकथित आधार पर पाबन्दी लगाते थे। मुसलमान राजनीतिज्ञों को भय था कि चुनावों के फलस्वरूप जो हिन्दू बहुमत आयेगा वह उस बात पर और अधिक पाबन्दी लगायेगा, जिसे अनेक लोग अपने धर्म का अनिवार्य अंग समझते थे।

दयानन्द सरस्वती ने "गऊ करुनानिधि" शीर्षक से एक किताबुचा प्रकाशित किया था और 1880 के दशक के बाद उत्तर भारत के अनेक भागों में गोरक्षिणी सभायें बनने लगी थीं। जिनको कुछ वकीलों एवं जमींदारों के संरक्षण के साथ ही कतिपय घुमक्कड़ साधुओं की गतिविधियों से प्रोत्साहन मिलता था। गाय न केवल पुरातन काल से धार्मिक प्रतीक रही थी, बल्कि किसान के लिये भूमि के बाद सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक पूँजी थी। दूसरी ओर पढ़े लिखे हिन्दू इस तर्क को मानते थे कि गोरक्षा से समस्त भारतीयों के स्वास्थ्य एवं समृद्धि में वृद्धि होगी। 1892—93 में गोरक्षिणी सभायें अधिक जुझारू बनने लगी थीं। जो शायद वर्ष भर पूर्व 'एज आफ कन्सेन्ट बिल' के पारित किये जाने के प्रति रूढ़िवादी हिन्दुओं के रोष को दर्शाता है। गायों की बिक्री या वध पर बलपूर्वक हस्तक्षेप तथा सभारूपी न्यायालयों की स्थापना की जो रिपोर्ट मिलती है, जिसमें कसाइयों को गाय बेंचने पर जुर्माना या सामाजिक बहिष्कार का दण्ड दिया जाता था ने मुस्लिम तथा हिन्दू साम्प्रदायिकता को आगे बढ़ाने का कार्य किया।

यह वही समय था जब इस्लामी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ बकरीद पर गोकुशी की अनिवार्यता पर बल दे रही थीं। यही जून–जुलाई 1893 में बड़े स्तर पर हुये साम्प्रदायिक दंगों का आधार बना। ये दंगे आजमगढ़ के मऊ कस्बे से आरम्भ हुये जहाँ बड़ी संख्या में मुसलमानों पर गाजीपुर एवं बलिया से आयी भीड़ ने आक्रमण किया। बलिया में दंगे सबसे अधिक संगठित थे, जहाँ एक राजपूत जमींदार अधिक सक्रिय था। गोहत्या के मुद्दे पर सर्वाधिक खून खराबा सारन, गया और पटना में हुआ जहाँ बड़े–बड़े पशु मेले लगते थे। सबसे हिंसक साम्प्रदायिक दंगा बम्बई शहर में हुआ। यद्यपि कि यहाँ मुद्दा गोहत्या का न होकर हिन्दुओं द्वारा मस्जिदों के आगे से जुलूस निकालना था। इन दंगों में करीब अस्सी लोग मारे गये थे। दंगों के दो अन्य स्थान जूनागढ़ एवं दूरस्थ रंगून थे। ऐसे देशव्यापी दंगे पहले कभी नहीं हुये थे। निश्चय ही आधुनिक राष्ट्रवादी आन्दोलन के लिये यह बुरा लक्षण था, जो जोर पकड़ रहा था।

एक और महत्वपूर्ण विवादित मुद्दा भाषा की समस्या थी, जिसने हिन्दी–उर्दू विवाद को जन्म दिया। हिन्दी आन्दोलन की शुरुआत सन् 1860 के दशक में बनारस के कुछ शिक्षित हिन्दुओं ने की, जब बाबू शिवप्रसाद ने 1868 में लिपि से सम्बन्धित एक ज्ञापन दिया जिसमें यह तर्क दिया गया था कि उत्तर पश्चिम प्रान्त एवं अवध में उर्दू एवं फारसी के अध्ययन को जो सरकारी मदद दी जा रही है, उसके कारण हिन्दी का अध्ययन एवं उसका विकास प्राथमिक स्तर पर भी अवरुद्ध हो रहा था। इस ज्ञापन में हिन्दी और देवनागरी लिपि को एक साथ जोड़ दिया गया था। बाबू शिवप्रसाद ने इस ज्ञापन के माध्यम से यह माँग की कि फारसी शब्दावली को सरकारी कामकाज की भाषा से हटा दिया जाय और उसके स्थान पर हिन्दी को लाया जाय। 1873 में इसी तरह का एक स्मारक पत्र उस समय के उपराज्यपाल सर विलियम म्योर को दिया गया था। 1881 में हिन्दी आन्दोलन को एक महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी जब बिहार में हिन्दी और देवनागरी लिपि को उर्दू एवं फारसी लिपि के स्थान पर सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में मान्यता दी गयी।[19] बाद में सन् 1900 में मैकडॉनेल (संयुक्त प्रान्त का तत्कालीन गर्वनर) ने इस बात की इजाजत दे दी कि सरकारी पत्राचार देवनागरी लिपि में किया जा सकता है। इसके साथ ही सभी नवनियुक्त मुलाजिमों को देवनागरी एवं फारसी लिपि दोनों की जानकारी होना अनिवार्य कर दिया गया। इस आदेश ने उन मुस्लिम

परिवारों के समक्ष समस्या खड़ी कर दी जो सरकारी ओहदों पर थे। यद्यपि उनके लिये यह सौभाग्य था कि मैकडॉनेल की इस नीति का उतनी कड़ाई से पालन नहीं किया गया जितना कि मैकडॉनेल चाहता था। फिर भी इतना निश्चित था कि सरकारी सेवारत मुसलमान ब्रिटिश नीति में मौलिक परिवर्तन का एहसास कर रहा था। फारसी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से हटा दिया गया था। तहसीलदार और उपजिलाधिकारियों की उस सूची को केवल इस आधार पर निरस्त कर दिया गया, जिसमें मुसलमानों की संख्या अधिक थी।[20]

इस तरह के आदेश जारी किये गये थे कि किसी भी सरकारी कार्यालय में पाँच हिन्दुओं पर तीन मुसलमान कर्मचारी/अधिकारी से ज्यादा न हों। जैसे ही देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता दी गयी, मुसलमानों ने एक 'मुस्लिम रक्षक संघ' का गठन किया, जिसकी अध्यक्षता छत्तारी के नवाब ने की। यह निर्णय किया गया कि उत्तर भारत के मुसलमानों के प्रतिनिधियों की एक बैठक की जाय और देवनागरी लिपि सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव पर चर्चा कर एक ज्ञापन उपराज्यपाल को दिया जाय। इलाहाबाद में भी एक उर्दू रक्षक संघ की स्थापना 1898 में की गयी थी। करामत हुसेन के निर्देशन में यह सक्रिय हो गया।[21] लखनऊ की एक बैठक में अग्रणी मुस्लिम नेताओं ने हामिद अली खाँ की अध्यक्षता में एक बैठक की, जिसमें उर्दू की रक्षा के लिये एक समिति का गठन किया गया।

देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता देने सम्बन्धी प्रस्ताव ने मुस्लिम राजनीति को अलीगढ़ और उसके आस–पास के सीमित क्षेत्र से निकालकर एक विस्तृत आधार दिया। आगरा के जमींदार अवध के ताल्लुकेदार, उलेमा, वकील और उस समय के तमाम मुस्लिम कांग्रेसी नेताओं जैसे अलीगढ़ के हफीज अब्दुल रहीम, अवध पंच के सम्पादक सज्जाद हुसेन तथा लखनऊ के हमीद अलीखाँ ने अपने आपको इस आन्दोलन से पूरी तरह से जोड़ लिया। सरकार ने लखनऊ की बैठक का अपने अनुसार विश्लेषण किया और आन्दोलनरत मुसलमानों को दो श्रेणियों में रखा। पहली श्रेणी में वे लोग थे जो धनी एवं प्रभावकारी थे और दूसरी श्रेणी में ऐसे सम्भ्रान्त युवा थे जिनका प्रगतिशील चरित्र था।[22]

ब्रिटिश सरकार ने यह विभाजन इस आधार पर किया था कि इन दो श्रेणियों के लोग सरकार के प्रति क्या दृष्टिकोण रखते हैं। उदाहरण के लिये पहसू के नवाब, जमींदार और विधायिका में मुस्लिम प्रतिनिधि शान्त

रहे। मैकडॅानेल द्वारा एक झिड़की ही अधिकांश जमींदारों को सही रास्ते पर लाने के लिये काफी होती थी। लेकिन मोहसिन उल मुल्क दूसरे दृष्टिकोण का था। मई महीने में उपराज्यपाल की एक सख्त चेतावनी की अवहेलना करते हुये सरकारी दृष्टिकोण के प्रति अपना विरोध आन्दोलन जारी रखा और अगस्त में लखनऊ में बैठक की अध्यक्षता की। क्रोधित होकर मैकडॉनेल ने अलीगढ़ को मिलने वाली सभी सहायता बन्द कर दी, किन्तु विरोध आन्दोलन में सम्भ्रान्त युवा लगे रहे। इन लोगों ने अब यह महसूस किया कि सर सैयद अहमद की सरकार पर निर्भर रहने की नीति खोखली थी। ये लोग अपने हित की रक्षा के लिये और अधिक उग्र कार्यवाही की माँग करने लगे। इनमें अलीगढ़ का स्नातक गुलाम उस सकलेन एक प्रमुख व्यक्तित्व था। अब इन लोगों के बीच यह भावना भी पनपने लगी कि मुसलमानों का भी एक राजनीतिक संघ होना चाहिये। गुलाम उस सकलेन ने अपनी पत्रिका 'अस्र ए जदीद' (स्थापना 1903) में मुसलमानों के राजनीतिक संगठन की आवश्यकता के कारण दिये। उनके अनुसार मुस्लिम राजनीतिक संघ नहीं होने के कारण मुसलमानों को कई तरह की हानि हुई है और उनके हित अब भी दबाये जा रहे हैं। जैसे कि हिन्दी—उर्दू विवाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से फारसी का हटाया जाना और म्यूनिस्पल एवं स्थानीय निकायों में मुसलमान सदस्यों की कमी।[23]

इसके साथ ही इस बात को स्पष्ट किया कि मुसलमान कांग्रेस में शामिल नहीं हो सकते हैं क्योंकि कांग्रेस निर्वाचन के सिद्धान्त एवं प्रतियोगी परीक्षा की हिमायती है। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि वे अन्य मुद्दों पर कांग्रेस के साथ सहयोग कर सकते हैं। जैसे कि नमक कर में कमी, यहाँ के लोगों को रोजगार दिलवाने का कांग्रेस का कार्यक्रम इत्यादि। इन सम्भ्रान्त युवाओं ने राजनीतिक संघ की बात कर और इस दिशा में कार्य कर सरकार की नजर से मुसलमानों को एक बार फिर दूर कर दिया और सैयद अहमद खाँ ने ब्रिटिश सरकार के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध बनाया था, उसे नष्ट करने का काम किया। यदि कांग्रेस के साथ हाथ मिलाते तो संभावना यह थी कि मुसलमानों को भविष्य में जो विशेष सुविधायें मिलने वाली थीं उसकी संभावनायें भी खत्म हो जाती। यह एक खतरनाक नीति होती। यही कारण है कि धनी एवं प्रभावकारी मुसलमानों ने इसे रोकने की चेष्टा की। मॉरिसन ने यह सुझाव दिया कि अग्रणी मुसलमानों की एक परिषद बना दी जाय।[24]

मोहसिन उल मुल्क अब भी अनिश्चय की स्थिति में थे। उन्होंने बाद में इस बात पर जोर दिया कि मुसलमानों का राजनीतिक प्रतिनिधि ऐसे लोगों को होना चाहिए जो कि सरकार के समक्ष अपनी माँग को आदरपूर्वक और सही रूप में रख सकें, जिससे कि ब्रिटिश सरकार उनको सुने और अपनी कार्यवाही करे। लेकिन इस तरह के तर्क एवं कदम उग्र मुस्लिम नौजवानों को संतुष्ट नहीं कर सकते थे। बाद में सैयद अहमद के विश्वासपात्र विकार उल मुल्क ने इस सम्बन्ध में निश्चित कदम उठाये तथा मुसलमानों के लिये राजनीतिक संगठनों को मूर्त रूप देने का प्रयास किया। जिसमें उग्र नौजवान भी अपनी बात रख सकते थे। विकार उल मुल्क उस समय तक अमरोहा म्यूनिस्पल बोर्ड में थे। इन्होंने भी इस बात को स्वीकार किया कि भारत के मुसलमानों का भाग्य भारत में ब्रिटिश राज की उपस्थिति एवं उसके स्थायित्व में ही निहित है। ब्रिटिश शासन के रुप में एक अच्छा और भरोसेमंद मित्र मिला है।[25] जन आन्दोलन पर जोर न देने का निश्चय किया, क्योंकि इस समय शासक वर्ग की मदद की आवश्यकता थी क्योंकि वे लोग अल्पसंख्यक थे, इसलिये उनकी आवश्यकतायें भी विशेष थीं।[26] इस तरह के प्रयास ही अन्त में 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना में सहायक हुये जिसमें ब्रिटिश सरकार ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

एक अति महत्वपूर्ण घटना जिसने भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में अपना प्रभाव छोड़ा, वह थी दिसम्बर 1985 में कांग्रेस की स्थापना। उस समय के उत्तर भारतीय मुस्लिम अभिजात वर्ग ने इस संगठन की स्थापना का विरोध किया। इसमें सर सैयद अहमद खान अग्रणी थे। सैयद अहमद खान की यह प्रवृत्तिं आश्चर्य में डालने वाली थी क्योंकि इससे पहले उन्होंने भी इस बात की वकालत की थी कि भारतीयों को विधायिका में शामिल किया जाय और उनको इंग्लैंड जाने का अवसर प्रदान किया जाय जिससे कि वे सिविल सर्विस परीक्षा में सम्मिलित हो सकें। उन्होंने 1884 में अपने पंजाब दौरे के समय हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात की थी। लेकिन जैसे ही संयुक्त प्रान्त में कांग्रेस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की कोशिश की सैयद अहमद के रुख में व्यापक परिवर्तन आ गया। कुछ लोगों का मानना है कि वे अलीगढ़ के प्रिन्सीपल थियोडोर बेक के प्रभाव में थे। दूसरी ओर कतिपय लोगों का मानना है कि वे सरकारी सुविधाओं के कारण ब्रिटिश सरकार के अनुगृहीत थे। लेकिन फ्रांसिस राबिन्सन का यह कहना है कि कांग्रेस की

माँग एवं सैयद अहमद की माँग में जमीन आसमान का अन्तर था। उनके अनुसार उन्होंने 1858 में भारतीयों के विधायिका में प्रवेश सम्बन्धी माँग उठायी थी, जिसमें उन्होंने निर्वाचन की बात नहीं की थी। 1870 के मध्य में उन्होंने चुनाव और प्रतिनिधि सरकार को भारत के लिये पूरी तरह से खारिज कर दिया था।[27]

सैयद अहमद ने 1883 में स्थानीय स्वशासन अधिनियम पर चर्चा के दौरान अपने विचार को पूरी तरह से व्यक्त किया। उन्होंने कहा था कि यदि चुनाव के माध्यम से प्रतिनिधियों की नियुक्ति की जाती है तो वह मात्र बहुसंख्यक लोगों का प्रतिनिधित्व करेगा, जबकि भारत जैसे देश में जहाँ कि जाति विभिन्नतायें हैं, जहाँ विभिन्न नस्लों में सम्बन्ध नहीं है, जहाँ धार्मिक अन्तर हिंसक है और जहाँ आधुनिक शिक्षा ने समाज के सभी स्तरों पर बराबर प्रगति नहीं की है। वहाँ पर निर्वाचन का सिद्धान्त लाभकारी नहीं होगा। बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यक समुदाय की भावनाओं और हितों को अनदेखा करेगा और अशिक्षित जनता सरकार को किसी भी उपाय के लिये उत्तरदायी ठहरायेगी।[28] इसी प्रकार राबिन्सन के अनुसार उन्होंने प्रतियोगिता परीक्षा का भी समर्थन नहीं किया। वास्तव में वे इसके विरोधी थे, क्योंकि इससे उर्दू बोलने वाले अभिजातवर्ग को नुकसान उठाना पड़ता था। दिसम्बर 1886 में थियोडोर बेक ने लोकसेवा आयोग को यह कहा था कि प्रतियोगिता परीक्षा मुसलमानों और सामान्य तौर पर उच्चवर्गीय लोगों राजपूत कुलीन वर्ग को सरकारी सेवा से वंचित कर देगी। अतः इसके राजनीतिक प्रभाव बुरे होंगे। इसलिए राबिन्सन के अनुसार सैयद अहमद का विरोध स्वाभाविक ही था।[29]

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

भारत में साम्प्रदायिकता के दूसरे चरण की शुरुआत मुस्लिम लीग की स्थापना (1906) से की जा सकती है और इसका अन्त खिलाफत आन्दोलन के शुरू होने के पूर्व तक रखा जा सकता है। इस अवधि में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ गठजोड़ खुलकर सामने आता है। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को लखनऊ पैक्ट के द्वारा 1909 के भारतीय विधान परिषद अधिनियम के अन्तर्गत पृथक निर्वाचक पद्धति को स्वीकृति देनी पड़ी।

मुस्लिम लीग के उदय की पृष्ठभूमि 1900 से ही देखी जा सकती है। जब सम्भ्रान्त युवाओं के द्वारा मुस्लिम राजनीतिक संगठन के गठन का प्रयास होता है। लेकिन वह फलीभूत नहीं हो पाता है। दिसम्बर 1901 में इस तरह के संगठन की आवश्यकता मुस्लिम समुदाय के बीच कम होने लगती है क्योंकि इसी समय संयुक्त प्रान्त के ले. गर्वनर मैकडॉनेल को हटा दिया जाता है और उसके स्थान पर ला तोशे को नियुक्त किया जाता है, जिसकी रुझान मुसलमानों के पक्ष में थी। इसी के तुरन्त बाद नदवात उल उलेमा का महासचिव अतहर अली, जो मैकडॉनेल के उत्पीड़न के भय से हैदराबाद भाग गया था, वापस संयुक्त प्रान्त लौट आया। उर्दू के पक्ष में भी नये ले. गवर्नर का दृष्टिकोण मुसलमानों के पक्ष में था। 1903 के मध्य तक द्विभाषी प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन नहीं किया गया था और न ही दोनों भाषाओं हिन्दी एवं उर्दू में सरकारी आदेश जारी किये गये थे। मुसलमान अब भी सरकारी नौकरियों में आसानी से शामिल हो रहे थे।[30] इस तरह धनी एवं प्रभावी मुस्लिम व्यक्तियों का समूह सरकार के इस नये दृष्टिकोण के कारण सम्भ्रान्त युवकों के राजनीतिक संगठन की चाह को नजर अन्दाज करने में कामयाब हो रहा था।

यद्यपि 1903—06 के बीच मुसलमानों को सरकारी समर्थन प्राप्त था, फिर भी संयुक्त प्रान्त के मुसलमान इस बात को भलीभाँति जानते थे कि उनकी स्थिति अब भी कमजोर है क्योंकि उर्दू पर फिर प्रहार शुरू हो गया था। हिन्दुओं की यह कोशिश थी कि शिक्षा पद्धति से मुस्लिम सांस्कृतिक प्रभाव को बिल्कुल हटा दिया जाय।[31] इसके अतिरिक्त चुनाव के सिद्धान्त का विस्तार किया जा रहा था और मुसलमान इस बात को देख रहे थे कि वे लोग जिस तरह विश्वविद्यालय के सीनेट के चुनाव में पराजित हो रहे थे उसी तरह प्रान्तीय विधायिकाओं के चुनाव में भी उन्हें हार का मुँह देखना पड़ रहा था। वास्तव में राजनीतिक प्रजातांत्रिक स्वरूप मुस्लिम नौजवानों को विचलित कर रहा था। इसके बाद मुस्लिमों के प्रति शुभेच्छा रखने वाले पूर्वी बंगाल एवं असम के ले. गवर्नर सर वैम्फील्ड को 1906 में एक हिन्दू आन्दोलन के कारण हटा दिया गया, जिसने मुसलमानों को और चिन्तित किया।

ऐसे ही समय में भारत सचिव ने अपने बजट भाषण में यह घोषणा की कि सरकार की यह मंशा है कि भारत में विधायिकाओं के आकार एवं शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हो। इसने मुस्लिम युवाओं को अधिक विचलित

किया। सरकार की इन घोषणाओं के कारण बहुत से मुस्लिम नवयुवक कांग्रेस में शामिल होने की धमकी देने लगे। इस तरह की संभावनाओं को बहुत पहले से कुछ अखबार जैसे सज्जाद हुसेन का 'आजाद' जमालुद्दीन अहमद का 'हमदर्द' और हसरत मोहानी का 'उर्दू ए मुल्ला' एक विकल्प के रूप में व्यक्त कर रहे थे क्योंकि इसके द्वारा ही ब्रिटिश सत्ता को मुस्लिम हितों की रक्षा हेतु कदम उठाने को विवश किया जा सकता था।[32] 1905 में अलीगढ़ के दो मुस्लिम नवयुवक तुफेल अहमद और हसरत मोहानी कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में उपस्थित थे और मई 1906 में अलीगढ़ में अलीगढ़ कालेज छात्रसंघ ने ध्वनिमत से यह प्रस्ताव पास किया कि हिन्दू और मुसलमानों को राजनीति में मिलकर काम करना चाहिए।[33]

4 अगस्त 1906 को अलीगढ़ कालेज के प्रिन्सीपल आर्चबोल्ड ने मोहसिन उल मुल्क को इस बात की सलाह दी कि वे लोग वायसराय को एक ज्ञापन दें। मोहसिन उल मुल्क एवं आर्चबोल्ड के बीच पत्राचार से यह बात साफ हो जाती है कि सरकार कितनी दूर तक मुसलमानों के पक्ष में थी। मोहसिन उल मुल्क ने यह दावा किया कि उन्हें पूरे भारत से मुसलमानों के पत्र आ रहे हैं। जिसमें प्रायः यह कहा जा रहा है कि सर सैयद अहमद और उनकी स्वयं की नीति ने मुसलमानों के लिये कोई अच्छा परिणाम नहीं दिया है और सरकार बिना आन्दोलन के किसी भी समुदाय की इच्छा को पूरा नहीं कर रही है। इसलिये मुसलमानों को अलीगढ़ कालेज के लिये किसी तरह की सरकारी मदद की आशा नहीं करनी चाहिए।[34] स्पष्ट है कि इस तरह की बात करके मोहसिन उल मुल्क सरकार को एक अवसर देना चाहते थे कि वह अलीगढ़ मुस्लिम नेताओं की राजनीति का खुलकर समर्थन करे, जिससे कि असंतुष्ट मुस्लिम युवाओं को फिर से वापस लाया जा सके।

यह स्मरण पत्र मोहसिन उल मुल्क ने इमाद उल मुल्क सैयद हुसेन बिलग्रामी की सहायता से तैयार किया था। अन्य मुस्लिम नेताओं विशेषकर विकार उल मुल्क ने भी अपने सुझाव दिये थे। इसे 15/16 सितम्बर को लखनऊ में आहूत अखिल भारतीय मुस्लिम प्रतिनिधि सम्मेलन में विचार के लिये रखा गया था। कुछ संशोधनों के बाद इस स्मरण पत्र को एक अक्टूबर 1906 को वायसराय को ज्ञापित किया गया। यद्यपि ज्ञापन में इस बात का दावा किया गया था कि इसमें कही गयी बातें भारत के सम्पूर्ण मुसलमानों के विचार हैं। लेकिन फ्रांसिस राबिन्सन इससे सहमत नहीं होते

हैं। उनका कहना है कि ढाका के नवाब सलीमुल्लाह और नवाब अली चौधरी ने इस बात पर जोर दिया था कि ब्रिटिश सरकार से बंगाल विभाजन को रद्द न करने का दृढ़ आश्वासन माँगा जाय लेकिन उत्तर भारत के मुसलमानों ने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। स्मरण पत्र न केवल अलीगढ़ मुस्लिम नेताओं द्वारा लिखा गया था बल्कि उनके हितों की रक्षा करता था।[35]

स्मरण पत्र में इस बात का उल्लेख किया गया था कि मुसलमानों में पारम्परिक सत्ता और सरकारी सेवा की एक परम्परा रही है। इसमें मुसलमानों के राजनीतिक महत्व को भी दिखलाने की चेष्टा की गयी। लेकिन स्मरण–पत्र के एक बहुत बड़े हिस्से में इस बात पर जोर दिया गया था कि नये शक्ति संतुलन के ढाँचे में मुसलमानों की स्थिति को किस प्रकार मजबूत किया जाय। संयुक्त प्रान्त के मुसलमानों ने म्यूनिस्पिल एवं जिला बोर्डों में अपने अनुभव के आधार पर इस बात की शिकायत की कि मुस्लिम करदाताओं का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो रहा है और मनोनयन भी अप्रभावकारी ही सिद्ध हो रहा है। इसका हल सुझाते हुये यह माँग की गयी कि पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाय। जिसमें संख्या, सामाजिक स्तर, स्थानीय प्रभाव और समुदाय की विशेष जरूरतों को ध्यान में रखा जाय। अन्त में एक और महत्वपूर्ण बात जो ज्ञापन में उठायी गयी थी वह थी एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना, जिसमें सरकार से सहायता एवं समर्थन की अपेक्षा की गयी थी।

मिण्टो ने एक को छोड़कर ज्ञापन के करीब सभी बिन्दुओं को नजरअन्दाज कर दिया। उसने निर्वाचित सरकार की समस्या के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस बात की जानकारी दी कि एक समिति इस मुद्दे पर गौर कर रही है। ज्ञापनकर्ता इसके बाद भी मिण्टो के जवाब से संतुष्ट थे। जैसा कि मोहसिन उल मुल्क एवं वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ के बीच हुये पत्राचार से स्पष्ट होता है। जिसमें उन्होंने वायसराय के प्रति आभार व्यक्त करते हुये कहा था कि वायसराय मुसलमानों के अधिकारों के प्रति सहानुभूति रखते हैं और इसका आधार मुसलमानों का राजनीतिक महत्व है। लेकिन मुस्लिम युवाओं में असन्तोष था। वे लोग निराश थे कि वायसराय ने मुस्लिम विश्वविद्यालय, सिविल सेवा और उच्च न्यायालयों में नियुक्ति के सम्बन्ध में किसी भी तरह का कोई आश्वासन

नहीं दिया। इस तरह शिमला प्रतिनिधिमंडल का एक मुख्य उद्देश्य असफल हो गया और वह था मुस्लिम उदारवादी नेताओ द्वारा मुस्लिम नवयुवकों को नियंत्रित करना।

नवाब सलीमुल्लाह लखनऊ की बैठक में अपनी पराजय और बंगाल की समस्याओं को स्मरण पत्र (Memorial) में शामिल नहीं किये जाने से निराश थे। लेकिन अब उन्होंने स्वतंत्र रुप से कदम उठाने का निश्चय किया और शिमला प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों के बीच इस आशय का एक पत्र वितरित किया कि अखिल भारतीय स्तर पर मुसलमानों का एक संगठन बनाया जाय। ऐसे विचार का आगा खाँ एवं मोहसिन उल मुल्क ने विरोध किया क्योंकि इससे अलीगढ़ के मुसलमानों के नेतृत्व पर बंगाली मुस्लिमों से खतरा हो सकता था। लेकिन सलीमुल्लाह अपने विचार पर अडिग रहे और उन्होंने घोषणा की कि नवम्बर 1906 में वे ढाका में मुसलमानों के अखिल भारतीय महासंघ की एक बैठक करेंगे। मुस्लिम नवयुवकों से मदद मिलने की पूरी संभावना थी और इससे अलीगढ़ मुस्लिम नेताओं के इस दावे पर कि वे पूरे भारत में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करते हैं पर बुरा प्रभाव पड़ता। फिर अब भी मुस्लिम युवाओं के बीच यह बात होती रहती थी कि मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होना चाहिए। इसलिये नवाब सलीमुल्लाह का अखिल भारतीय मुस्लिम संगठन सम्बन्धी अपील करना लाजिमी था। वास्तव में अलीगढ़ के बहुत से नवयुवक ढाका की प्रस्तावित बैठक में भाग लेने के लिये गये जिसकी अध्यक्षता विकार उल मुल्क ने की। इसी बैठक में 30 दिसम्बर 1906 को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का विधिवत गठन किया गया। गठन सम्बन्धी प्रस्ताव नवाब सलीमुल्लाह ने प्रस्तुत किया। इसका अनुमोदन एवं समर्थन तीन प्रभावी मुस्लिम युवाओं हकीम अजमल खाँ, जफर अली खाँ एवं महमूद अली द्वारा किया गया।

अंग्रेजों का साम्प्रदायिक अलगाववाद को प्रोत्साहित करना एक निर्विवाद तथ्य है और मुस्लिम लीग के उदय में भी उसकी भूमिका संदेह से परे नहीं है। यद्यपि कि मुस्लिम लीग के समर्थक तिरस्कारपूर्वक राष्ट्रवादियों के इस आरोप का खण्डन करते हैं कि पूरा आन्दोलन ही अंग्रेजों का नाटक मात्र था और राजाज्ञा से किये जाने वाले खेल से अधिक कुछ नहीं था। फिर भी ब्रिटिश शासकों की मिलीभगत से इन्कार नहीं किया जा सकता। 15 अगस्त 1906 को मिण्टो ने मार्ले के समक्ष स्वीकार किया था कि पूर्वी बंगाल एवं असम में फुलर हिन्दू एवं मुसलमानों

को लड़ा रहे हैं और उनके उत्तराधिकारी ने नयी नियुक्तियों में मुसलमानों का पक्ष लेना जारी रखा है। उन्होंने ढाका के नवाब सलीमुल्लाह को चौदह लाख रूपये का कर्ज दिलवाने के लिये मिण्टो पर जोर डाला और कहा कि यह 'बहुत बड़ा राजनीतिक मामला' है। इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि प्रधानाचार्य आर्चबोल्ड के माध्यम से मोहसिन उल मुल्क या अन्य मुसलमान नेता, वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ और लखनऊ के कमिश्नर हरकोर्ट बटलर जैसे अधिकारियों के सीधे सम्पर्क में रहते थे। मुस्लिम लीग का गठन करते समय 29 अक्टूबर 1906 को आगाखाँ ने डनलप स्मिथ को आश्वासन दिया था कि उन्होंने मोहसिन उल मुल्क को हिदायत दी है कि वे निजी तौर पर सरकार की पूरी सहमति लिये बिना कोई कदम न उठाये। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था हितों की वस्तुगत समानता, जो आने वाले दशकों में सरकारी तंत्र एवं हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों के उच्च वर्गीय सम्प्रदायवादियों के बीच बार–बार दिखायी पड़ती है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि दिसम्बर 1906 में भारत धर्ममहामंडल की बैठक में दरभंगा के महाराजा ने घोषणा की थी कि हिन्दुओं के लिये निष्ठा या राजभक्ति धर्म का तत्व है।[36]

मुस्लिम लीग को पहली राजनीतिक सफलता अपने तीन वर्ष की अवस्था में ही मिल गयी जब ब्रिटिश सरकार ने 1909 के भारतीय विधान परिषद अधिनियम के द्वारा पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इससे पहले 1909 के आरम्भ में ही अमीर अली के नेतृत्व में जाने वाले एक प्रतिनिधिमण्डल ने अलग–अलग निर्वाचक मंडलों की जगह एक सामान्य निर्वाचक मण्डल बनाने की मार्ले की योजना को निरस्त करवाने में शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर ली। ऐसा टोरियों के साथ उनके नजदीकी सम्बन्धों के कारण हो पाया था। इसने लिबरल प्रशासन को चौंका दिया। 1 नवम्बर 1909 को निजी रूप से मिण्टो ने मार्ले के समक्ष स्वीकार किया था कि मैं नहीं समझता कि मुसलमानों को जितनी सीटें दी जा रही है उन पर उनका जरा भी हक है।

मुसलमान राजनीतिक अभिजन को उस समय बड़ा सदमा पहुँचा जब दिसम्बर 1911 में जार्ज पंचम ने दिल्ली दरबार में बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया। सम्राट ने 1905–06 में स्वयं इस समुचित 'वरदान' का सुझाव दिया था, जब वे प्रिन्स आफ वेल्स के रूप में भारत आये थे। आरम्भ में तनिक हिचक के बाद वायसराय हार्डिंग तथा भारत सचिव कुक को यह

विचार पर्याप्त आकर्षक लगा कि इसमें अन्य संभावित 'वरदानों' की भॉति कोई अतिरिक्त व्यय नहीं करना पड़ता।

मुसलमानों एवं ब्रिटिश शासन के बीच सम्बन्धों में दूरी बढ़ने लगी थी। इसका कारण था 1911–12 में इटली और बाल्कन के युद्धों में इंग्लैंड द्वारा तुर्की को सहायता न देना। अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाने के प्रस्ताव को हार्डिंग द्वारा अस्वीकार किया जाना और 1913 में कानपुर में एक मस्जिद के साथ लगे चबूतरे को तोड़ने के परिणामस्वरूप होने वाला दंगा। इस तरह 1914 तक ऐसा लग रहा था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बीच दूरी बढ़ रही है। लेकिन वास्तव में भारत में ब्रिटिश शासन किसी का भी पक्ष न लेकर अपने हितों को ही सर्वोपरि रखता था।

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग को 1916 में एक महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी, जब कांग्रेस ने 'लखनऊ पैक्ट' के तहत मुस्लिमों के लिये पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था स्वीकार कर ली। लखनऊ समझौते के समय मुसलमानों का सांविधानिक आकर्षण स्पष्ट था कि मुसलमान हमेशा विशेष निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व करेंगे।[37] उत्तर प्रदेश में लेजिस्लेटिव कौंसिल की 30 प्रतिशत सीटों का निर्वाचित होना निश्चित हुआ था।[38] मुसलमानों के बहुल मताधिकार को समाप्त कर दिया गया था। सामान्य निर्वाचन में भाग लेने से उन्हें रोक दिया गया था, क्योंकि वे विशेष निर्वाचन में भाग लेते थे।[39]

लखनऊ पैक्ट जो 'कांग्रेस लीग सांविधानिक सुधार योजना के नाम से प्रसिद्ध हुआ[40] दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इससे कांग्रेस राजनीति में उत्तर प्रदेश की शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व की शुरुआत हुई। सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का केन्द्र समुद्री किनारों से हटकर हमेशा के लिये देश के केन्द्र (उत्तर प्रदेश) में आ गया।"[41] लेकिन यह एक ऐसा समझौता था, जिसने कांग्रेस के चरित्र पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। लीग की साम्प्रदायिक माँगों को स्वीकार कर लेने से उसने सम्पूर्ण भारतीयों की ओर से बोलने का अधिकार खो दिया। यद्यपि कि इस समझौते से आगामी चार वर्षों के लिए साम्प्रदायिक सद्भाव की मिसालें कायम हुईं, किन्तु सम्मेलन के दौरान दोनों पक्षों द्वारा जो मन्तव्य प्रस्तुत किये गये, प्रच्छन्न रूप से वे साम्प्रदायिक मनःस्थिति का भी द्योतन करते हैं।

यहाँ समझौते के बाद भी साम्प्रदायिक स्थिति का आकलन किया जा सकता है। 1916 के लखनऊ मुस्लिम लीग अधिवेशन के स्वागत

समिति के अध्यक्ष सैयद नबी उल्ला ने कहा था कि यदि मुस्लिम नेता साम्प्रदायिक होकर विरोधी आन्दोलन चलाने की भूल करते हैं, तो हिन्दू–मुस्लिम सहयोग के नवजात आन्दोलन के प्रारम्भ में ही समाप्त हो जाने की आशंका है।[42] ऐसा इसलिये था कि उत्तर प्रदेश में स्थिति वास्तव में गम्भीर थी। मदन मोहन मालवीय, चिन्तामणि, तेजबहादुर सप्रू जैसे महत्वपूर्ण नेताओं ने मुसलमानों को दी गयी छूट के विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। नौकरशाही का खेल सफलता के नजदीक तक पहुँच गया था। कुछ मुसलमान भी विरोधी आन्दोलन करने एवं कांग्रेस से बहिष्कार की बात सोचने लगे थे।[43]

वास्तव में कांग्रेस और लीग के संयुक्त अधिवेशन में रजा अली और कांग्रेस के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गये थे। इलाहाबाद के सैयद रजा अली मुस्लिम समुदाय के लिये 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व उत्तर प्रदेश में चाहते थे। चिन्तामणि और गोकर्णनाथ मिश्र ने रजा अली की माँग को तर्कहीन बताया। अन्त में सैयद वजीर हसन, जो लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, के प्रयास से मामला सुलझा। उन्होंने मुस्लिम लीग सुधार समिति के सदस्यों को व्यक्तिगत स्तर पर कहा कि उन्हें 30 प्रतिशत स्थानों के लिए सहमत हो जाना चाहिए।[44] इस प्रकार स्पष्ट है कि लखनऊ समझौते में उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेताओं का सांविधानिक सन्दर्भों में दृष्टिकोण स्वार्थी था और इसे साम्प्रदायिक सौहार्द की दृष्टि से सकारात्मक कदम नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि कि इस दौरान हिन्दू–मुस्लिम सहयोग में साम्प्रदायिक भ्रातृत्व की भावना विभिन्न धार्मिक उत्सवों, पर्वों के अवसर पर देखने को मिली। इलाहाबाद में हिन्दू और मुसलमान दशहरा एवं मोहर्रम के अवसरों पर एक–दूसरे से गले मिले तथा पान एवं सिगरेट से एक दूसरे का स्वागत किया।[45] नगर में किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक घटना नहीं घटी। आजमगढ़ एवं आगरा जैसे शहरों में जहाँ धार्मिक अवसरों पर साम्प्रदायिक दंगे प्रायः हो जाया करते थे, 1917 में वहाँ भी पूर्ण शान्ति रही।[46] आगरा में होमरूल लीग एवं जिला कांग्रेस समिति ने संयुक्त रूप से मोहर्रम के जुलूसों में भाग लिया।[47] इस प्रकार जनवरी 1917 से अप्रैल 1919 के बीच का समय उत्तर प्रदेश में न केवल आश्चर्यजनक हिन्दू–मुस्लिम एकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण था, वरन स्थानीय स्तर पर साम्प्रदायिक सद्भावना का आधार भी पोषित हुआ।

लखनऊ पैक्ट के होने तक हिन्दुओं एवं मुसलमानों की राजनीतिक गतिविधियाँ व्यवस्थापिका में आसन्न सुधारों के द्वारा निर्धारित हो रही थीं। अगस्त 1917 में भारत सचिव मॉण्टेग्यू ने इस बात की घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार भारत में धीरे-धीरे एक ऐसी उत्तरदायी सरकार स्थापित करना चाहता है, जो कि ब्रिटिश सरकार की अभिन्न अंग बनी रहे। 10 नवम्बर 1917 को मॉण्टेग्यू भारत आया। अपने प्रवास के दौरान अनेक छोटे-बड़े संगठनों के साथ बृहत स्तर पर विचार-विमर्श किया। इस दौरान मुस्लिम सम्प्रदाय के 44 प्रतिनिधि मंडलों ने उससे मिलकर अधिकाधिक अधिकारों की माँग की। इन प्रतिनिधि मंडलों में उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेताओं का बाहुल्य था। 1918 के अन्त तक मॉण्टेग्यू के ऊपर बृहत स्तर पर साम्प्रदायिक एवं धार्मिक माँगों की बौछार कर दी गयी। इन माँगों में उत्तर प्रदेश के माँगपत्रों की सूची बृहत् थी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का मॉण्टेग्यू व्यक्तिगत विरोधी था। 1909 में मार्ले-मिण्टो सुधार योजना में इसका समावेश वह भारतीय इतिहास की बड़ी भूल मानता था। उसके मतानुसार उक्त घटना (1909 का मार्ले मिण्टो सुधार) का परिणाम बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त या बंगाल विभाजन की अपेक्षा अधिक विनाशकारी हुआ।[48]

मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना में कांग्रेस-लीग योजना की कुछ धाराओं में परिवर्तन कर दिया गया। इसमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व सम्बन्धी धारा में भी परिवर्तन कर दिया गया। उत्तर प्रदेश के अधिकांश मुस्लिम राजनीतिज्ञों ने सुधार योजना का विरोध किया क्योंकि इससे वे लखनऊ समझौते के अनुकूल प्रदान किये गये मुस्लिम प्रतिनिधित्व सें वंचित हो गये थे।[49] सरकार द्वारा इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भर्त्सना करने से भी मुसलमानों में सरकारी नीति के प्रति क्षोभ था। कुछ मुस्लिम राजनीतिज्ञों ने विरोध को इस रूप में भी प्रस्तुत किया, जैसे वे मुस्लिम हितों के प्रतीक हों। 1918 के दिल्ली के मुस्लिम लीग अधिवेशन में डा. मुख्तार अहमद अंसारी ने सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुये कहा था कि "पृथक निर्वाचन तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न हमारे वर्तमान राजनीतिक क्रियाकलापों की जीवन एवं आत्मा है।"[50] उत्तर प्रदेश में 105 सदस्यों वाली लेजिस्लेटिव एसेम्बली में तीस स्थान मुसलमानों के लिए आरक्षित किये गये। इनमें से 11 विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित होने थे। 1918 के अन्त तक इन धाराओं के प्रभाव से मुस्लिम राजनीतिज्ञ अवगत हो

चुके थे। प्रारम्भ में उनमें कुछ मतभेद रहा, परन्तु बाद में वे मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार योजना के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने लगे। इतना अवश्य था कि मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों के प्रति मुसलमान प्रायः सशंकित थे। खिलाफत तथा धार्मिक स्थान के प्रश्न पर सरकार के दृष्टिकोण से उनमें शंकाये बढ़ गयीं।[51]

इस बीच मुस्लिम लीग में मौजूद अतिवादी तत्वों पर धार्मिक, मुल्लाओं का प्रभाव बढ़ने लगा था। इसे 1916 के लखनऊ पैक्ट एवं 1918 के मुस्लिम लीग अधिवेशन में उलेमा की उपस्थिति[52] के रूप में देखा जा सकता है। मुस्लिम लीग जो अब तक मुस्लिम राजनीति के केन्द्र में थी, राजनीतिक परिदृश्य से ओझल होती सी लगी, जब मुसलमानों का एक नया संगठन 'अखिल भारतीय खिलाफत संगठन' अस्तित्व में आया, जिसमें हिन्दुओं ने भी सक्रिय भूमिका अदा की। यहाँ तक कि आर्य समाज से सम्बन्ध रखने वाले स्वामी श्रद्धानन्द एवं पं. नेकीराम ने भी मुस्लिम लीग की बैठकों में भाषँण दिया।[53] इस सहयोग के फलस्वरुप 'एक समय ऐसा भी आया कि मुस्लिम राजनीति से सम्बन्धित सम्पूर्ण दिशा निर्देशन सैयद अहमद, मोहसिन उल मुल्क तथा विकार उल मुल्क के हाथों से निकलकर हिन्दू बनिया (महात्मा गांधी) के हाथों में आ गया।'[54] दूसरी तरफ मुसलमान भी कांग्रेस संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों के द्वारा तुर्की सुल्तान के साथ किया गये व्यवहार के विरोधस्वरूप प्रादुर्भूत खिलाफत आन्दोलन से साम्प्रदायिकता के तीसरे चरण की शुरुआत मानी जा सकती है। भारतीय मुसलमान यह चाहते थे कि तुर्की सुल्तान का नियंत्रण मुसलमानों के पवित्र स्थानों के ऊपर बना रहे। वास्तव में इनकी तीन मुख्य माँगे थी, जिन्हें मुहम्मद अली ने पेरिस में राजनयिकों के समक्ष रखा — 1. मुसलमानों के पवित्र स्थानों पर तुर्की के सुल्तान खलीफा का नियंत्रण रहे। 2. खलीफा के अधीन इतना भू–भाग रहे कि वह इस्लाम की रक्षा कर सके और 3. जजीर तुल अरब अर्थात अरब, सीरिया ईराक और फिलीस्तीन के ऊपर मुसलमानों की सम्प्रभुता बनी रहे। इस आन्दोलन में नरमदलीय और जुझारू दो धारायें देखने को मिलती हैं। महात्मा गाँधी का इन दोनों प्रवृत्ति के लोगों से

सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। नरम वर्ग के लोग जिसमें बम्बई के चोटानी जैसे समृद्ध व्यापारी थे, ने संवैधानिक मार्ग अपनाने की वकालत की। दूसरी ओर जुझारू वर्ग के लोग जिसमें निम्न मध्यमवर्गीय पत्रकार उलेमा सम्मिलित थे देशव्यापी हड़ताल करने पर बल दिया।

इस आन्दोलन के अतिशय धार्मिक दृष्टिकोण के बावजूद कांग्रेस द्वारा दिये गये समर्थन के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम नेताओं के दृष्टिकोण में अन्तर्निहित साम्प्रदायिक दृष्टि का विवेचन किया जा सकता है क्योंकि आन्दोलन की असफलता के बाद उत्पन्न साम्प्रदायिक तनाव इसकी पुष्टि करते हैं। अक्टूबर (1919 ई) का आरम्भ होते ही खिलाफती नेता खिलाफत दिवस के प्रति जनमत तैयार करने में संलग्न हुये। खिलाफत दिवस पर सभी मुसलमानों के व्रत रहने एवं प्रार्थना करने, अपने व्यवसायों को स्थगित करने, दुकानें बन्द करने, बड़ी सभायें बुलाने तथा तुर्की को धोखा दिये जाने के विरोध में प्रस्ताव पारित करने की योजना थी।[55] इस सम्बन्ध में खिलाफती नेताओं ने प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। उत्तर प्रदेश में उग्रवादी खिलाफती नेताओं ने अक्टूबर के दूसरे सप्ताह में समस्त भारतीयों से 17 अक्टूबर को दुकानें बन्द रखने का आग्रह किया।[56] उनके आग्रह में यह आकर्षण भी था कि यदि समस्त भारतीय तुर्की के प्रश्न पर मुसलमानों का साथ देते हैं, तो मुसलमान गोहत्या का निषेध करेंगे।[57] मौलाना अब्दुल बारी और महात्मा गांधी के बीच इस विषय पर कोई पूर्व समझौता होने का आभास मिलता है।[58] अधिकांश हिन्दुओं एवं हिन्दू नेताओं ने मुसलमानों के उपरोक्त दृष्टिकोण को एक चाल समझा। परन्तु 'आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्तों के उपरोक्त नेताओं की इस चाल को अवश्य सफलता मिली।[59]

1920 के मध्य तक आते–आते उत्तर प्रदेश में खिलाफत आन्दोलन को सभी वर्गों का समर्थन मिलने लगा था। सहयोग का स्वरूप उस समय अधिक स्पष्ट हुआ जब, इलाहाबाद के कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेताओं ने खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों का साथ दिया। इनमें मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सुन्दरलाल, पुरुषोत्तम दास टण्डन एवं कृष्णकान्त मालवीय प्रमुख थे। ये भारतीय नेता लखनऊ समझौते के प्रति प्रायः ईमानदार बने रहे। लेकिन दूसरी ओर खिलाफत आन्दोलन में धार्मिक कट्टरता का समावेश होता गया। राष्ट्रीय नेताओं के कई बार ध्यान दिलाने के बावजूद उग्र धार्मिक खिलाफती नेताओं ने कोई ध्यान नहीं दिया।

परिणामस्वरूप मार्च 1920 के अन्त तक प्रान्त में राष्ट्रीय नेताओं को पुनः अपनी नीति पर विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इन नेताओं के असन्तोष का स्पष्टीकरण मई के प्रारम्भ में बरेली के 'राजनीतिक डिवीजनल सम्मेलन' में हुआ। इस सम्मेलन में शौकत अली ने खिलाफत के प्रश्न पर प्रभावशाली भाषण दिया था। सम्मेलन की समाप्ति के बाद अनेक भारतीय नेताओं ने जिलाधीश के पास जाकर यह स्वीकार किया कि खिलाफत की शिक्षा एक क्रान्ति की शिक्षा थी, अतः उन्होंने इससे अपने को पूर्णतया अलग कर लिया था।''[60] उपरोक्त भारतीय नेताओं का पृथकत्व मुस्लिम धार्मिक कट्टरता का परिणाम था, जिसने बाद की साम्प्रदायिक स्थितियों को और अधिक जटिल बनाया।

मई 1920 तक गाँधी जी नरम दल वालों के दृष्टिकोण के पक्षधर थे। लेकिन जब 14 मई 1920 को तुर्की के साथ सेव्र की संधि की कड़ी शर्तें प्रकाशित की गयीं और इसके बाद 28 मई 1920 को पंजाब के उपद्रवों से सम्बन्धित हण्टर आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो गाँधी ने देशव्यापी हड़ताल की नीति का न केवल समर्थन किया बल्कि उसे कार्यान्वित करने में अपनी सक्रिय भूमिका अदा की। 30 और 31 मई 1920 को बनारस में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई गयी। इसमें तुर्की के भविष्य के साथ–साथ हण्टर समिति की रिपोर्ट पर विचार किया गया। लम्बे विचार–विमर्श के बाद भी असहयोग पर सहमति नहीं हो सकी। खिलाफत समस्या पर व्यापक विचार–विमर्श और राष्ट्रीय नीति तैयार करने के उद्देश्य से अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इस प्रकार एक से तीन जून 1920 को इलाहाबाद में सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन को प्रभावशाली बनाने के लिए सभी भारतीयों से उपस्थित होने का आग्रह किया गया था।[61] सम्मेलन में कुल 6 महत्वपूर्ण सभायें हुई, जिनमें केन्द्रीय खिलाफत समिति की दो सभा, हिन्दू एवं मुस्लिम नेताओं की संयुक्त दो सभायें और दो सभा उलेमा की हुई।[62] यहाँ भी धार्मिक दृष्टिकोण की सक्रियता खटकने वाली बात थी क्योंकि इलाहाबाद स्टेशन पर कुछ स्थानीय मुसलमानों एवं स्वयं सेवकों ने 'शौकत अली का स्वागत तलवारें खींचकर किया एवं उन्हें अल्लाहो अकबर के नारों के बीच शहर में घुमाया गया।[63]

केन्द्रीय खिलाफत समिति की बैठक में भी धार्मिक दृष्टिकोण का ही प्रभुत्व था। समिति की बैठक में असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव के समय

शाब्दिक झड़पें भी हुईं जिसमें शौकत अली के अन्धानुभक्तों का बोलबाला रहा।[64] विवाद उस समय उत्पन्न हुआ जब कुछ सदस्यों ने यह आशंका व्यक्त की कि कांग्रेस असहयोग में उनका सीधे सहयोग नहीं करेगी, जिस पर अनेक सदस्यों ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। अब्दुल बारी ने हिन्दुओं पर मुसलमानों के साथ खिलवाड़ करने का आरोप लगाया और भावावेश में गाँधी को उत्तरदायी ठहराया।[65] इस मुस्लिम दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर स्वाभाविक हुई। उसी दिन रेलवे थियेटर में रात्रि में हिन्दू–मुस्लिम नेताओं की संयुक्त सभा हुई। सभा में यद्यपि 300 व्यक्ति उपस्थित थे, परन्तु हिन्दुओं की संख्या बहुत कम थी। केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के निदेशक ने स्वीकार किया था कि "गुप्तचरों तथा बाहरी लोगों को न घूमने देने के लिये सभा में सभी सावधानियाँ बरती गयी थीं।"[66] गैर मुस्लिम भारतीयों में तेजबहादुर सप्रू, चिन्तामणि, एनीबेसेन्ट, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, महात्मा गाँधी, मदनमोहन मालवीय जैसे नेता उपस्थित थे, लेकिन हिन्दुओं की कुल संख्या 25 से अधिक नहीं थी।

केन्द्रीय खिलाफत समिति की कार्यवाही में अग्रणी कांग्रेसी नेताओं ने यह मत व्यक्त किया कि 15 सितम्बर 1920 से पहले (जबकि कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन होना था) वे असहयोग में भाग नहीं ले सकेंगे। कांग्रेस नेताओं के इस दृष्टिकोण पर शौकत अली ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने क्रोध में बहुत कुछ कह डाला। पं. मदन मोहन मालवीय 'जो सम्मानपूर्वक भाषण सुनने के अभ्यस्त थे, निर्वाक बैठे रहे।'[67] इस सभा की महत्वहीनता इसी से स्पष्ट है कि "संयुक्त सम्मेलन के समक्ष कोई प्रस्ताव नहीं रखा गया, जिससे कोई प्रस्ताव पारित नहीं हो सका।"[68] मुसलमानों में भी कई प्रश्नों पर मतभेद थे, किन्तु शौकत अली तथा अब्दुल बारी के तीव्र आक्रमण से वे खुलकर विरोध नहीं कर सके।[69] अन्त में आन्दोलन को पूरी तरह से गाँधी के नेतृत्व में छोड़ दिया गया।

दो जून की सभा में उग्रवादी मुसलमानों का तेवर और भी आक्रामक हो गया। हसरत मोहानी ने अंग्रेजों को भारत से बाहर करने के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण करने वाली किसी भी अफगान सेना में चले जाने की बात कही, इस पर कुछ हिन्दू नेताओं ने उनसे स्पष्टीकरण माँगा। इस पर शौकत अली बीच में कूद पड़े। उन्होंने आक्रामक स्वर में कहा कि 'उनके धार्मिक स्थलों को पहले ही छीना जा चुका है। इस्लाम को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है और अब कुछ बचा भी नहीं है। यदि कोई

भी मुसलमान आक्रमणकारी खिलाफत के पक्ष में अंग्रेजों को दण्ड देने बाहर से आता है तो मुसलमान उनके साथ हाथ मिलायेंगे। अतः अंग्रेज अपने अन्याय तथा इस्लाम के प्रति क्रूरता के लिये ऐसे ही दण्ड के भागी हैं।[70] सोमानी, जफर अली खाँ, आजाद आदि ने उनका समर्थन किया, परन्तु उपरोक्त भावनात्मक भाषण अनेक भारतीयों को प्रभावित नहीं कर सका। लाजपत राय ने तो उन्हें चेतावनी दी कि – 'शौकत अली की तरह व्यवहार करने पर हिन्दू उनका विरोध करेंगे।'[71] इस प्रकार स्पष्ट है कि मुस्लिम धार्मिक मुद्दों के आधार पर चलाये गये खिलाफत आन्दोलन में मुस्लिम नेताओं का दृष्टिकोण धार्मिक पूर्वाग्रह से युक्त था, क्योंकि आन्दोलन के समाप्त होने पर साम्प्रदायिक घटनाओं की बाढ़ आ गयी।

खिलाफत आन्दोलन अखिल इस्लामवाद की पराकाष्ठा थी। बहुत से मुसलमान धार्मिक भावनाओं के कारण इसे समर्थन दे रहे थे। चौरीचौरा काण्ड के बाद असहयोग आन्दोलन की समाप्ति हुई और इसके बाद के वर्षों में हिन्दू एवं मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विस्तार बड़ी तेजी से हुआ। यह इस काल की सबसे गंभीर, स्थायी और नकारात्मक संवृत्ति थी। सितम्बर 1924 में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में एक हिंसक हिन्दू विरोधी उपद्रव हुआ, जिसमें 155 लोग मारे गये।[72] अप्रैल और जुलाई 1926 के बीच कलकत्ता में दंगों की तीन लहरें आयीं, जिनमें 138 लोग मारे गये।[73] उसी वर्ष ढाका, रावलपिंडी और दिल्ली में भी उपद्रव हुये। 1923–27 के बीच संयुक्त प्रान्त जो सर्वाधिक दंगा प्रभावित प्रान्त था, में 91 साम्प्रदायिक उपद्रव हुये।[74] इन सभी साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में दो मुख्य मुद्दे थे– मुसलमानों की माँग थी कि मस्जिद के आगे बाजे न बजाये जायें और हिन्दुओं की माँग थी कि गोहत्या बन्द की जाय।

तेजी से बढ़ते साम्प्रदायिक संगठनों एवं विचारधाराओं ने अभिजन सम्प्रदायवाद और जन सम्प्रदायवाद के बीच एक कड़ी प्रदान की। इसमें मुस्लिम साम्प्रदायिकता को आगे बढ़ाने में तबलीग एवं तंजीम का प्रसार, 1924 का कोहट उपद्रव, खिलाफत संगठनों के तितर–बितर हो जाने पर मुस्लिम लीग की पुनः सक्रियता और 1926 में स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या ने अपना योगदान किया। 1924 के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये मुहम्मद अली जिन्ना ने ऐसे संघ की माँग की जिसमें मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को हिन्दुओं के प्रभुत्व से बचाने के लिये पूर्ण प्रान्तीय स्वायत्तता प्राप्त हो। यह माँग अलग निर्वाचक मंडलों के अतिरिक्त थी। इस तरह यह कहा जा

सकता है कि 'दो राष्ट्र के सिद्धान्त' की पृष्ठभूमि धीरे-धीरे तैयार हो रही थी। दूसरी ओर हिन्दुओं में भी साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ रही थी। वास्तव में तंजीम और तबलीग बहुत सीमा तक आर्य समाजियों के शुद्धि और संगठन के जवाब थे। यहाँ ध्यातव्य है कि आर्य समाजियों ने मोपलों द्वारा बलपूर्वक हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के बाद शुद्धि आन्दोलन चलाया था, जिसे श्रद्धानन्द द्वारा 1923 के बाद संयुक्त प्रान्त में भी आरम्भ किया गया। इसका उद्देश्य उन मलकान राजपूतों, गूजरों और बनियों को पुनः हिन्दू बनाना था, जिन्हें मुसलमान बनाया गया था।

हिन्दू साम्प्रदायिकता का एक और आयाम असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद हिन्दू महासभा का फिर से सक्रिय होना था। विदित है कि हिन्दू महासभा की स्थापना पं. मदन मोहन मालवीय और कुछ पंजाबी नेताओं ने हरिद्वार में कुंभ मेले (1915) में की थी। लेकिन असहयोग आन्दोलन के दिनों में यह निष्क्रिय हो चुकी थी। किन्तु 1922-23 में बड़े पैमाने पर इसका पुनरुत्थान हुआ। अगस्त 1923 के बाद इसके बनारस अधिवेशन में शुद्धि का कार्यक्रम भी सम्मिलित था और हिन्दू आत्मरक्षा जत्थों के निर्माण का आह्वान किया गया था। यह अधिवेशन आर्यसमाजी सुधारवादियों एवं सनातन धर्मसभा के रूढ़िवादियों के गठजोड़ से बने एक साझे हिन्दू मोर्चे का प्रतिनिधित्व करता था, जिसके अध्यक्ष मालवीय स्वयं थे। हिन्दी को हिन्दुओं से जोड़ने वाली बात काफी हद तक महासभा वालों की प्रचार थी। इस कारण इसका विशेष आकर्षण भी मुख्यतः उत्तर भारत तक सीमित रहा। इनसे बढ़कर जो सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई वह थी, 1925 में नागपुर में तिलक के पुराने सहयोगी वी.एस. मुंजे के अनुयायी के.बी. हेडगेवार द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना, जिसने हिन्दुओं को उग्र बनाने एवं उनमें साम्प्रदायिक भावनाओं का विकास करने में अहम् भूमिका अदा की।

नवम्बर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत किये गये सुधारों के कार्यान्वयन के मूल्यांकन के लिये साइमन कमीशन का गठन किया। 1919 के अधिनियम में यह प्रावधान किया गया था कि दस वर्ष के अन्तराल पर एक ऐसे आयोग का गठन किया जायेगा। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव और भारत में तेजी से बदल रहे राजनीतिक परिदृश्य को ध्यान में रखते हुये ब्रिटिश सरकार को इस प्रकार के आयोग का गठन करना पड़ा। यह पूरी तरह से यूरोपीय लोगों का

आयोग था। अतः सभी प्रतिष्ठित राजनीतिक समूहों ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। किन्तु मुस्लिम समुदाय के लोगों द्वारा बहिष्कार का समर्थन नहीं किया गया। मुसलमानों के द्वारा संयुक्त प्रान्त के कुछ जिलों में कमीशन के विरोध में प्रस्तावित हड़ताल तथा बहिष्कार के खिलाफ सभा हुई थी। लेजिस्लेटिव कौंसिल के कुल इकतीस मुस्लिम सदस्यों में से इक्कीस ने घोषणा पत्र जारी करते हुये कमीशन के खिलाफ प्रस्तावित हड़ताल तथा बहिष्कार की घोषणा का विरोध किया।[75] संयुक्त प्रान्त के शासन की दृष्टि में 3 फरवरी की जिस हड़ताल का अत्यधिक प्रचार किया गया था, वह मुस्लिमों के अलग रहने, हिन्दुओं के आधे मन से भाग लेने तथा वर्षा होने से सभाओं के न होने के कारण असफल रही।[76] किन्तु भारतीय समाचार पत्रों के अनुसार–"3 फरवरी की हड़ताल अभूतपूर्व सफलता के साथ हुई।"[77] स्पष्ट है कि मुस्लिम मानस राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को अलग किये हुये था, जिसका कारण उसका धार्मिक–साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी था जैसा कि नेहरू रिपोर्ट पर उनकी प्रतिक्रिया से ज्ञात होता है।

भारत सचिव लार्ड बरकेनहेड के व्यंग्य कि भारतीय किसी भी व्यवहारिक राजनीतिक योजना पर एकमत होने में अक्षम हैं, ने भारतीयों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि उन्हें एक ऐसे संविधान की रूपरेखा तैयार करनी चाहिये जो सभी को स्वीकार्य हो। इसके लिए एक सर्वदलीय सम्मेलन की बात होने लगी। जिन्ना ने मार्च 1927 में ही मुस्लिम नेताओं को समझौते के लिये तैयार कर लिया था, जिसके अनुसार अगर संयुक्त निर्वाचक मंडलों के साथ–साथ मुसलमानों को आरक्षित सीटों के लिये एक तिहाई प्रतिनिधित्व तथा पंजाब, बंगाल एवं तीन नये मुस्लिम बहुल प्रान्तों सिन्ध, बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में मुसलमानों को जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व देने का वादा किया जाता तो मुसलमान पृथक निर्वाचक मंडलों को छोड़ने के लिये तैयार हो जाते। इस प्रस्ताव को दिसम्बर 1927 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में दोहराया गया। यद्यपि कि मुहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के एक विद्रोही गुट का अधिवेशन लाहौर में हुआ, जिसमें इन प्रस्तावों का प्रबल विरोध किया गया।

दूसरी ओर हिन्दू महासभा ने मुसलमानों के इस रवैये पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। 24 मार्च 1928 को अयोध्या में अवध हिन्दू सम्मेलन का आयोजन किया गया था। सम्मेलन की अध्यक्षता डा. बी.एस.मुंजे ने की थी। कुल उपस्थिति 3000 थी। प्रान्त के सभी जिलों के प्रतिनिधि थे। डा.

मुंजे ने जहाँ एक ओर अछूतों को ऊपर उठाने का आग्रह किया, वहीं दूसरी ओर स्वराज प्राप्ति का एकमात्र उपाय हिन्दू संगठन को बताया था। उन्होने मुसलमानों का आह्वान किया था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में मोल—तोल का भाव छोड़कर हिन्दुओं का साथ दें और उनसे कन्धें से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ें। हिन्दू स्वराज्य चाहता है पर हिन्दुत्व को देकर नहीं।[78] इतना ही नहीं अप्रैल 1928 में हिन्दू महासभा के नेता एन.सी. केलकर ने जबलपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकृत कराया था, जिसमें इस बात का आह्वान किया गया था कि गैर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में दीक्षित किया जाय। ऐसी बातें हिन्दुओं में साम्प्रदायिक भावनाओं को निश्चित रूप से भड़काती थीं और जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया मुस्लिम समुदाय में भी होती थी।

मई 1927 में ही कांग्रेस ने जिन्ना के प्रस्ताव को करीब—करीब स्वीकार कर लिया था, लेकिन पंजाब और महाराष्ट्र से साम्प्रदायिक दबाव पड़ने पर कांग्रेस को अपनी बात से पीछे हटना पड़ा। फरवरी 1928 में दिल्ली एवं मई में बम्बई में सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। अगस्त में लखनऊ में नेहरू रिपोर्ट अंतिम रूप से प्रस्तुत हुई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को लेकर इस सम्मेलन में समझौता वार्ताओं एवं झड़पों का लम्बा सिलसिला चला। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने आमतौर पर नये मुस्लिम बहुल प्रान्तों एवं पंजाब तथा बंगाल में बहुसंख्यकों के लिये सीटों को आरक्षित किये जाने का विरोध किया। नेहरू रिपोर्ट ने महासभा को अनेक रियायतें प्रदान की। इसमें प्रत्येक स्थान पर संयुक्त निर्वाचक मंडलों का प्रस्ताव था। आरक्षित सीटें या तो केन्द्र में होनी थीं या केवल उन प्रान्तों में जहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक थे। राजनीतिक संरचना मोटे तौर पर एकात्मक रहती, जिसमें केन्द्र के पास अवशिष्ट शक्तियाँ भी रहतीं।

नेहरू रिपोर्ट पर मुस्लिम प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से नकारात्मक रही। कानपुर में संयुक्त प्रान्त के 'आल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस' का अधिवेशन 5 नवम्बर 1928 को शौकत अली की अध्यक्षता में हुआ। अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट की आलोचना की गयी थी। पृथक निर्वाचन क्षेत्रों, प्रान्तीय कौंसिल में मुसलमानों की वर्तमान संख्या को बरकरार रखने तथा उर्दू भाषा को संरक्षण प्रदान करने की माँग की गयी थी। संयुक्त प्रान्त के शासन की दृष्टि से अली इमाम, डा. एम.ए. अन्सारी, महाराजा महमूदाबाद और शौकत अली जैसे मुस्लिम नेता इस सभा में अल्पमत में थे क्योंकि रिपोर्ट तैयार करने के लिये नेहरू कमेटी को धन्यवाद देने का प्रस्ताव मात्र

चार मतों से पारित हुआ था। शासन ने स्वीकार किया था कि नेहरू रिपोर्ट के विरुद्ध मुस्लिम विरोध तेजी से बढ़ रहा था।[79] नेहरू रिपोर्ट पर जिन्ना ने 1929 में अपनी चौदह सूत्री योजना प्रस्तुत की जो बाद में लीग के प्रचार आन्दोलन का आधार हुई। ये चौदह सूत्र नेहरू कमेटी की रिपोर्ट के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझावों के विरोधी थे। इस योजना की मुख्य बातें थीं कुछ विषयों पर प्रान्तीय स्वायत्तता के साथ संघीय राज्य की स्थापना, केन्द्रीय विधायिका सभा में कम से कम एक तिहाई मुस्लिम प्रतिनिधित्व, पृथक निर्वाचन इकाइयाँ, किसी भी केन्द्रीय या प्रान्तीय मंत्रिमण्डल में एक तिहाई मुस्लिम मंत्रियों की व्यवस्था।'[80] महासभा के नेता एम.आर. जयकर इससे सहमत नहीं थे। जिन्ना ने आगे बढ़कर पृथक निर्वाचक मंडल की बात फिर उठायी और कहा कि यह व्यवस्था तब तक चलनी चाहिये, जब तक कि हिन्दू अन्य बातों को स्वीकार न कर लें।

इस समय की मुस्लिम राजनीति पर दृष्टिपात किया जाय तो नेहरू रिपोर्ट पर न केवल उनमें विभाजन था अपितु बहुसंख्यक दृष्टिकोण साम्प्रदायिक भी था। 30 और 31 मार्च 1929 को दिल्ली में मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ।[81] इस अधिवेशन का मूल उद्देश्य मुसलमानों की राजनीतिक एकता स्थापित करना था। इस अधिवेशन के पहले तक मुसलमान साधारणतः दो दलों में विभक्त थे। एक दल मुस्लिम लीग का और दूसरा सर मु. शफी का था। यह दूसरा दल भी अपने को मुस्लिम लीग कहता था। अतएव पहला दल जिन्ना लीग और दूसरा दल शफी लीग के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि शफी लीग घोर साम्प्रदायिक था। जिन्ना लीग तो कुछ शर्तों पर नेहरू रिपोर्ट मानने को तैयार थी, परन्तु शफी लीग बिल्कुल तैयार नहीं थी। परिणामस्वरूप भारत के मुसलमानों की राजनीतिक विषयों पर कोई एक राय नहीं थी और दिल्ली अधिवेशन का यह उद्देश्य कि मुसलमानों में राजनीतिक एकता कायम की जाय, भी सफल नहीं हुआ और परिणाम विपरीत हुआ, दोनों दलों को मिलाने के लिये लीग का जो अधिवेशन बुलाया गया था, उसके स्थान पर चार दल बन गये।[82]

इनमें पहला दल स्वराज्यवादी था, वह नेहरू रिपोर्ट का समर्थक था। यह मानता था कि मुसलमानों का हित राष्ट्रीयता में ही है, साम्प्रदायिकता हानिकारक है। यह संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों का पक्षपाती था और इस बात पर जोर देता था कि केन्द्रीय सरकार मजबूत होनी चाहिये, जिससे वह सब

प्रान्तों को एक साथ बनाये रख सके। मौलाना अबुल कलाम आजाद, डा. एम.ए. अन्सारी, टी.ए.के. शेरवानी राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। दूसरा दल जिन्ना का था, जो संयुक्त निर्वाचन को अच्छा तो समझता था, लेकिन मानने के लिये तैयार नहीं था। तीसरा शफी दल था, जो मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक दावा करता था और समझता था कि हिन्दू स्वयं सिर झुकाने को बाध्य होंगे। जिन्ना और शफी में मौलिक मतभेद इतना ही था कि शफी साहब दिखा रहे थे कि मुसलमान किसी दशा में पृथक निर्वाचन का त्याग नहीं करेंगे और जिन्ना साहब त्याग करने को तैयार थे, यदि उसका पूरा मूल्य मिल जाय। चौथा दल दिल्ली मुस्लिम कान्फ्रेंस वालों का था, वह इस बात पर जोर देता था कि प्रान्तों को ही सारा अधिकार दिया जाय। इसका अभिप्राय था कि मुस्लिम प्रान्तों में मुसलमान और हिन्दू प्रान्तों में हिन्दू मनमानी कर सकेंगे। यदि एक प्रान्त में हिन्दू मुसलमानों पर मनमानी करेंगे, तो दूसरे प्रान्त के हिन्दू से बदला लिया जायेगा। यह दल पूर्ण स्वतंत्रता भी चाहता था और साम्प्रदायिक अधिकार भी। इस अन्तर्विरोध को स्वीकार करते हुये नई दिल्ली में मुस्लिम लीग की कौंसिल की 31 मार्च 1929 की बैठक में जिन्ना ने कहा था – "मैं खुद राष्ट्रवादी हूँ पर मैं यह कहने को राजी हूँ कि मुसलमानों में तीन दल हैं, एक नेहरु योजना स्वीकार करना चाहता है, दूसरा अस्वीकार करना और तीसरा समझौता करना।"[83] स्पष्ट है कि इन माँगों एवं मन्तव्यों पर एकमत न होना मात्र राजनीतिक ऐक्य का न होना ही नहीं था, बल्कि इसके पीछे साम्प्रदायिक दृष्टि काम कर रही थी।

ऐसे ऊहापोह के वातावरण में मुसलमानों की ओर से एक सकारात्मक प्रयास दृष्टिगत होता है, जब जुलाई 1929 में इलाहाबाद में राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों ने अपनी सभा करके 'राष्ट्रीय मुस्लिम दल' का गठन किया था।[84] दल के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद और मंत्री टी.ए.के. शेरवानी थे। संयुक्त प्रान्त में राष्ट्रीय मुस्लिम दल को संगठित करने का भार टी.ए.के. शेरवानी, मंसूर अली नदवी, चौ. खलीकुज्जमाँ तथा रफी अहमद किदवई को सौंपा गया था। दल का उद्देश्य था– भारत में मुसलमानों में राष्ट्रीयता का भाव बढ़ाना, मुसलमानों को राष्ट्रीय लड़ाई में सम्मिलित करने के लिए उत्साहित करना और बहुसंख्यक सम्प्रदाय और अल्पसंख्यक सम्प्रदाय में ऐसा सम्बन्ध उत्पन्न करना, जिससे बहुसंख्यक सम्प्रदाय के लोग अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोगों के अधिकार का विचार

व्यापक देशभक्ति की दृष्टि से करें और अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोग सच्ची राष्ट्रीयता की दृष्टि से अपने अधिकारों का विचार करें।[85]

हिन्दू महासभा ने भी सूरत के अधिवेशन में जो निर्णय लिया था उसके अनुसार दिसम्बर 1928 में नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया था, किन्तु अब उसने समर्थन वापस ले लिया। इसका कारण यह बताया गया था कि दिल्ली में मुस्लिम कान्फ्रेन्स ने नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया था। अतः महासभा भी समर्थन नहीं करती, क्योंकि महासभा ने इसलिए समर्थन किया था कि इससे सब सम्प्रदायों में एकता हो जाय, पर मुस्लिम कान्फ्रेंस ने इस पर पानी फेर दिया।[86] लेकिन हिन्दू महासभा का यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि दिल्ली का मुस्लिम कान्फ्रेन्स सम्पूर्ण मुस्लिम समुदाय का निर्णय न होकर एक वर्ग विशेष का निर्णय था। इस प्रकार नेहरू रिपोर्ट जैसे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय सांविधानिक मसविदे पर मुस्लिम समुदाय में तो विभाजन था ही, हिन्दू महासभा का निर्णय भी सराहनीय नहीं था। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार किये जाने की स्थिति में कांग्रेस जनवरी 1930 से आन्दोलन आरम्भ करने के लिये कृत संकल्प थी। ऐसी स्थिति में मुस्लिम समुदाय के वर्ग विशेष तथा हिन्दू महासभा द्वारा नेहरू रिपोर्ट का समर्थन न किया जाना राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करना था। इस तरह 1919–29 के काल में साम्प्रदायिकता ने अपने लिये सुदृढ़ स्थान बना लिया था। हिन्दू एवं मुसलमान एक ऐसी स्थिति में पहुँच गये थे, जहाँ से राजनीतिक दृष्टि से एक होना मुश्किल हो रहा था। वास्तव में जब सर्वदलीय सम्मेलन ने जयकर के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया, तो जिन्ना ने कहा था कि – "यह रास्तों के अलग हो जाने जैसी स्थिति है", और दो वर्ष बाद जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन हुआ तो मुस्लिम नेतृत्व ने मुसलमानों को इस आन्दोलन से अपने आपको अलग रखने की अपील की।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन में अपने को अलग रखने की नीति की पुष्टि संयुक्त प्रान्त से सम्बन्धित एक रिपोर्ट से भी होती है– वस्तुतः 1932 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन को अस्तित्व प्रदान करने में संयुक्त प्रान्त का सर्वाधिक योगदान था। दूसरा तथ्य यह भी था कि संयुक्त प्रान्त में इस संघर्ष को जीवित रखने में हिन्दुओं ने ही अपना रक्त बहाया था। इसकी पुष्टि के लिये 2 दिसम्बर 1932 को संयुक्त प्रान्तीय सरकार के सचिव द्वारा भारत सरकार को भेजे गये पत्र का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। पत्र में

प्रान्त के विभिन्न जेलों में बन्द किये गये लोगों के विषय में एक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। जो निम्नलिखित था।[87]

1. लखनऊ कैम्प जेल में 1735 कैदियों में 1721 (99.2 प्रतिशत) हिन्दू थे।
2. लखनऊ जिला जेल में 765 कैदियों में 735 (98.7 प्रतिशत) हिन्दू थे।
3. रायबरेली जेल में सभी कैदी हिन्दू थे।
4. फैजाबाद जेल में 140 में 135 (96.4 प्रतिशत) हिन्दू थे।

यद्यपि कि आँकड़े पूरे प्रदेश से नही हैं फिर भी इससे मुस्लिम अलगाव के बारे में महत्वपूर्ण सूचना मिलती है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता के चौथे चरण में मुस्लिम लीग एक राजनीतिक पार्टी के रूप में बिखरी पड़ी थी और उसका अस्तित्व ही संकट में था। इसलिये इस दौरान मुस्लिम साम्प्रदायिकता विद्यमान तो थी लेकिन उसका स्वरूप दबा हुआ था। किन्तु इस अवधि में एक महत्वपूर्ण घटना चक्र में भारतीय समाज को और विखण्डित करने के उद्देश्य से 1932 के द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडॉनेल द्वारा कम्यूनल अवार्ड की घोषणा की गयी, जिसमें भारत में रह रही निम्न जातियों के लिये भी पृथक निर्वाचक मंडल की बात कही गयी। इस सम्मेलन में दलित जातियों का प्रतिनिधित्व बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर कर रहे थे। सम्मेलन में अखिल भारतीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे गाँधी जी ने इसका विरोध किया और बाद में भारत आकर उन्होंने इस प्रावधान के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारम्भ किया लेकिन इस समस्या का समाधान 'पूना पैक्ट' के तहत खोज लिया गया। जिसमें हरिजन या निम्न जातियों के लिये कुछ सीटें आरक्षित की गयीं।

मुस्लिम लीग 1936 में अस्तित्व के संकट के दौर से गुजर रही थी, लेकिन जब मु. अली जिन्ना लन्दन से बैरिस्टर की प्रैक्टिस छोड़कर वापस भारत आये और मुस्लिम लीग की बागडोर एक बार फिर सँभाली तो उसे नया जीवन मिला। जिन्ना ने उस वक्त अपनी इच्छा जाहिर की थी कि वे कम्यूनल एवार्ड को भूलने के लिये तैयार हैं और भारत सम्बन्धी जो वृहत

प्रश्न हैं, उन पर ध्यान केन्द्रित करने को भी तैयार हैं। यद्यपि कि मुस्लिम लीग और जिन्ना की लोकप्रियता जनता के बीच नगण्य ही थी। मुस्लिम लीग इस समय सामाजिक रूढ़िवादियों से भरी पड़ी थी। आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्तर और शिक्षा ही लीग में प्रवेश के लिये निर्धारक का काम करते थे।

जिन्ना के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न मुस्लिम लीग को न केवल पुनर्जीवित या संगठित करना था बल्कि उन्हें 1937 के प्रान्तीय विधान सभाओं के होने वाले चुनावों के लिये तैयारी भी करनी थी। यहाँ पर इस तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि कांग्रेस और लीग दोनों ने ही 1935 के अधिनियम के प्रति अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुये कहा था कि यह एक्ट भारतीयों की राजनीतिक इच्छाओं को संतुष्ट करने में नाकाम रहा है। नेहरू ने तो इस एक्ट को दासता का चार्टर[88] कहा था। कांग्रेस ने 1936 में एक प्रस्ताव पारित कर कहा था कि भारतीय संविधान का निर्माण एक संविधान सभा द्वारा ही किया जा सकता है, जिसका गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।[89] लीग ने भी संघ के ढाँचे सम्बन्धी प्रावधानों की आलोचना करते हुये इसे एक अति प्रतिक्रियावादी प्रावधान कहा था। साथ ही उसने यह भी कहा कि वह प्रान्तों में दिये गये प्रावधानों को कार्यान्वित करने के लिए तैयार है।[90] कांग्रेस ने भी प्रान्तीय स्वायत्तता को कार्यान्वित करने में अपना योगदान देने का निश्चय किया। इस तरह दोनों ही पार्टियों ने अपने विरोध के बावजूद प्रान्तीय विधान सभा के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया, लेकिन दोनों के ही निहित उद्देश्य भिन्न थे। दोनों चुनाव के माध्यम से अपनी पार्टी के संदेशों को जनता तक पहुँचाना चाहती थीं।[91]

जिन्ना ने मुस्लिम लीग को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से ढाका के नवाब द्वारा शुरू की गयी यूनाइटेड मुस्लिम पार्टी और फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी को मुस्लिम लीग में सम्मिलित कर पार्टी के क्षेत्रीय आधार को विस्तृत करने का प्रयास किया, हालाँकि पंजाब में फजली हुसेन की यूनियनिस्ट पार्टी और बिहार में यूनाइटेड मुस्लिम और अहरार पार्टियों ने मुस्लिम लीग में अपना विलय करने से इन्कार कर दिया। इसी तरह मध्य प्रान्त एवं सिन्ध में भी मुस्लिम नेताओं को लीग में लाने का जिन्ना का प्रयास असफल रहा।[92] इस तरह व्यक्तिगत और प्रान्तीय प्रतिद्वन्दिता एक ही मुस्लिम पार्टी के निर्माण में अवरोधक बनी।[93]

संयुक्त प्रान्त में जिन्ना को मुस्लिम युनिटी बोर्ड के साथ गठबन्धन करने में सफलता मिली। मुस्लिम युनिटी बोर्ड का गठन 1933 में युनिटी कान्फ्रेन्स (एकता सम्मेलन) में किया गया था। जिसमें मुस्लिम कान्फ्रेन्स और राष्ट्रीय मुसलमान नामक संगठन, जिसका नेतृत्व खली-कुज्जमाँ कर रहे थे, एक संयुक्त मोर्चा बनाकर मुसलमानों के राजनीतिक हित को संरक्षित और विकसित करना चाहते थे। संयुक्त प्रान्त के राज्यपाल सर हेरी हेज ने लिखा है कि इन लोगों ने जिन्ना से इसलिये हाथ मिलाया, क्योंकि मुस्लिम लीग का प्रभाव संयुक्त प्रान्त में अधिक था।[94]

1936 में मुस्लिम लीग का बम्बई में चौबीसवाँ अधिवेशन हुआ। इसकी अध्यक्षता करते हुये सैयद वजीर हसन ने कहा कि मुस्लिम लीग का अन्तिम ध्येय मुसलमानों का सांविधानिक विकास करना है और स्वशासन, पूर्ण स्वतंत्रता, उत्तरदायी सरकार इत्यादि जो भी होना हो वह ब्रिटिश क्राउन की छत्रछाया में ही हो।[95] इसी सत्र में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें पूर्ण स्वतंत्रता की बात नहीं की गयी बल्कि पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की बात कही गयी।[96]

कांग्रेस और लीग के चुनाव घोषणा-पत्र दोनों के उद्देश्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करते थे। लीग का घोषणा-पत्र अस्पष्ट था। जिसमें किसी भी मुद्दे पर अपनी प्रतिबद्धता नहीं व्यक्त की गयी थी। इसमें केवल मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों के प्रति ही चिन्ता व्यक्त की गयी थी। साथ ही अस्पष्ट रूप से ग्रामीण जनसंख्या के सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक उत्थान पर भी ध्यान देने की चेष्टा की गयी थी।[97] नेहरू द्वारा तैयार कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र में 1935 के अधिनियम को नकार दिया गया और इस बात को केन्द्रीय रूप से स्पष्ट किया कि भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में जनता को अहम् भूमिका निभानी है।[98]

जैसे-जैसे चुनाव नजदीक आता गया कांग्रेस (विशेषतः नेहरू) और लीग के बीच दूरी बढ़ती गयी। उदाहरण के लिये 1936 के फैजपुर कांग्रेस में नेहरू ने इस बात पर जोर दिया कि भारत में स्वतंत्रता संघर्ष की लड़ाई दो शक्तियों के बीच है। पहली शक्ति कांग्रेस है जो कि भारत की स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करती है और दूसरी भारत में ब्रिटिश सरकार और इसके समर्थक हैं जो इसका विरोध करते हैं और इसे दबाने का प्रयास करते हैं।[99] जिन्ना ने इस पर कड़ी आपत्ति की और नेहरू को आगाह किया

कि भारत में एक तीसरा पक्ष भी है और यह पक्ष मुस्लिम का है।[100] नेहरू का यह विचार था कि जो स्वतंत्रता के लिये संघर्ष कर रहा है, वह कांग्रेस के साथ है और जो सम्प्रदायवाद को इसमें शामिल कर रहा है, वह स्वतंत्रता के लिये बहुत ज्यादा उत्सुक नहीं है।[101] यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिये कि जिन्ना का एकमात्र उद्देश्य मुस्लिम लीग को मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करना था और इसे भारतीय राजनीति में अग्रिम पंक्ति में खड़ा करना था, जिसमें कि वह बाद में कामयाब भी होते हैं।

1937 के चुनावों में कांग्रेस का प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा। उसे कुल 1585 असेम्बली सीटों में से 711 पर विजय प्राप्त हुई और 11 में से पांच प्रान्तों—मद्रास, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त एवं संयुक्त प्रान्त में पूर्ण बहुमत मिला और बम्बई में लगभग पूर्ण बहुमत। सरकारी समर्थन के बावजूद संयुक्त प्रान्त में छत्तारी के नवाब की नेशनल एग्रीकल्चरिस्ट पार्टी और मद्रास में जस्टिस पार्टी को मुँह की खानी पड़ी। मुस्लिम चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस 58 सीटों पर लड़ी और 26 पर विजयी रही। इसके बावजूद उसे आत्मसन्तोष इस बात से था कि मुस्लिम लीग मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधि होने का अपना दावा सिद्ध करने में असफल रही थी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में लीग एक भी सीट नहीं पा सकी थी और पंजाब के 84 चुनाव क्षेत्रों में से केवल दो और सिन्ध के 33 में से केवल तीन स्थानों पर जीत सकी थी। अनुसूचित जातियों की अधिकांश सीटों पर कांग्रेस ने विजय प्राप्त की थी, लेकिन बम्बई इसका अपवाद था, जहाँ अम्बेडकर की इण्डिपेन्डेंट लेबर पार्टी ने 15 में 13 सीटें जीती थीं।[102]

चुनाव में विजय हासिल करने के बाद भी कांग्रेस में इस बात पर मतैक्य नहीं था कि प्रान्तों में कांग्रेस सरकार का गठन करे या नहीं। मार्च 1937 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में राजेन्द्र प्रसाद और पटेल ने सशर्त पद ग्रहण करने के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव रखा। शर्त यह थी कि प्रान्त में कांग्रेस एसेम्बली पार्टी का नेता संतुष्ट हो और सार्वजनिक रूप से वक्तव्य दे सके कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का उपयोग नहीं करेगा। जयप्रकाश के नेतृत्व में वामपंथ का विरोध 78 के मुकाबले 135 मतों से पराजित हो गया। इस प्रकार दक्षिणपंथ के विचार को स्वीकृत मिल गयी। जी.डी.बिड़ला ने एक पत्र में इसे कांग्रेस के दक्षिणपंथ की महान विजय कहकर इसका स्वागत किया। यद्यपि लिनलिथगो ने सार्वजनिक

रूप से यह आश्वासन देना स्वीकार नहीं किया था कि गर्वनर अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे, लेकिन जुलाई 1937 तक कांग्रेस ने प्रान्तों में सरकार बनाने का निर्णय कर लिया था। इस आधार पर कि बदली हुई परिस्थितियों में गर्वनर द्वारा अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग सरल नहीं होगा। संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, बम्बई एवं मद्रास में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पद भार संभाला और कुछ महीनों बाद पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त एवं सितम्बर 1938 में असम में कांग्रेस मंत्रिमण्डल बना जिसमें दल–बदल का सहारा लिया गया। इस तरह के राजनीतिक कुकृत्यों में आश्चर्यजनक रूप से कांग्रेस के वामपंथी अध्यक्ष सुभाष चन्द्र बोस की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी।

चुनाव के बाद मुस्लिम लीग को अपनी कमजोर राजनीतिक स्थिति का अहसास हुआ। जिन्ना ने इसी कारण किसी भी दल या समूह से सहयोग करने की इच्छा व्यक्त की जिसके आधारभूत सिद्धान्तों का निर्धारण आम सहमति से हो।[103] साथ ही जिन्ना ने यह साफ कर दिया था कि मुस्लिम लीग का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहेगा और मुसलमानों से मुस्लिम लीग के साथ लामबन्द होने की अपील की। नेहरू जिन्ना की शर्तों पर मुस्लिम लीग के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं थे क्योंकि उन्हें विश्वास था कि कांग्रेस अपने बल पर आर्थिक मुद्दों के आधार पर मुसलमानों को अपने पक्ष में कर लेगी। कांग्रेस ने इसी के बाद मुसलमानों के बीच जन अभियान शुरू किया। जिन्ना को यह अपमानजनक लगा। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के ऐसे किसी भी जन अभियान की सफलता मुस्लिम लीग को खतरे में डाल देती, इसलिये भी जिन्ना का विरोध लाजिमी था। इसने दोनों के बीच कटुता को बढ़ाया। जिन्ना के अनुसार कांग्रेस का यह प्रयास मुसलमानों को खण्डित/विभाजित या कमजोर करने की एक चाल है और मुसलमानों को उनके नेताओं से अलग–थलग करने का प्रयास है।[104]

इस बीच संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम लीग और कांगेस के बीच सरकार बनाने हेतु बातचीत चल रही थी। ऐसा कहा जाता है कि गोविन्द बल्लभ पन्त ने लीग को किसी भी कांग्रेस मंत्रिमण्डल में दो सीटें देने का वायदा किया, लेकिन इससे नेहरू नाराज हो गये।[105] नेहरू किसी भी ऐसे विचार को अपनी सहमति नहीं दे सकते थे, जिसमें साम्प्रदायिक संगठनों के साथ सहयोग बिना किसी आम राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों के माध्यम से होता। नेहरू के अनुसार ऐसे संगठन प्रतिक्रियावादी तत्वों के हाथ में थे,

जो ब्रिटिश शासन से सुविधायें पाने के इच्छुक थे। इस तरह संयुक्त प्रान्त में कांग्रेस—लीग मंत्रिमंडल बनने की आशा क्षीण हो गयी। दूसरी ओर जिन्ना ने भी खलीकुज्जमाँ के कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने की इच्छा का खुला विरोध किया, क्योंकि ऐसे कार्य मुसलमानों के बीच केवल मतभेद पैदा करते थे।[106] इसके तुरन्त बाद मई 1937 में संयुक्त प्रान्त मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित कर कहा कि कांग्रेस और लीग के बीच उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर है, इसलिये मुस्लिम लीग को कांग्रेस की किसी ऐसी नीति में शामिल नहीं होना चाहिये जो कि संविधान को तोड़ने का काम करती हो।[107] मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच शत्रुवत व्यवहार जून 1937 में अपने चरम पर पहुँचा, जब झांसी हमीरपुर, उरई क्षेत्र में उपचुनाव होने वाला था। जिन्ना ने इस चुनाव में इस्लाम धर्म का राजनीतिक दुरुपयोग किया।

1937 के अपने अध्यक्षीय भाषण में जिन्ना ने कांग्रेस के विरुद्ध एक तरह से युद्ध की घोषणा कर दी। उनके भाषण में कांग्रेस को हिन्दुओं का संगठन एवं प्रान्तीय कांग्रेस सरकारों को हिन्दू राज की संज्ञा दी गयी। जिन्ना ने यह आरोप लगाया कि कांग्रेस पूरी तरह से हिन्दूवादी नीति का अनुसरण कर रही है। अपने आरोप को पुष्ट करते हुये उन्होंने हिन्दी, वन्देमातरम् और राष्ट्रीय झण्डा जैसे मुद्दों को उठाया। उन्होंने कहा कि थोड़ी सी शक्ति और उत्तरदायित्व मिलने पर बहुसंख्यक समुदाय ने यह दिखा दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिये है।[108] बाद में यही मुस्लिम लीग के पीरपुर रिपोर्ट का आधार बना, जिसमें कांग्रेस सरकार के कार्यकलापों पर मुसलमानों की सामूहिक नाराजगी को व्यक्त किया गया। यह रिपोर्ट बहुत हद तक बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत की गयी थी, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि मुसलमानों को मुस्लिम लीग के पक्ष में लामबन्द करने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने से मना कर दिया क्योंकि भारत को कांग्रेस की सहमति के बिना ही युद्ध में झोंक दिया गया था। अपना विरोध दिखाने के लिये कांग्रेस ने अपनी प्रान्तीय सरकारों को अक्टूबर 1939 में त्यागपत्र देने का निर्देश दिया। इसे मुस्लिम लीग ने मुक्ति दिवस (22 दिसम्बर 1939) के रूप में मनाया। इसमें बाबा साहब अम्बेडकर भी सम्मिलित हुये। यह भी मुस्लिम लीग की मुसलमानों के बीच पैठ बनाने की एक चाल थी जिसमें वह

प्रतिग्राह्य रही। इतना ही नहीं दिसम्बर 1940 के अपने लाहौर अधिवेशन में लीग ने स्पष्टतः पाकिस्तान की मॉग की। लीग ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहयोग देने का प्रस्ताव किया यदि ब्रिटिश सरकार मुसलमानों के हितों के प्रति सजग रहे। इस तरह मुस्लिम लीग का कांग्रेस विरोध ब्रिटिश सरकार के लिये किसी भी प्रस्ताव में वीटो का काम करने लगा। 29 जुलाई 1942 के अपने बम्बई अधिवेशन में लीग ने प्रस्ताव पारित कर मुसलमानों से भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रबल विरोध करने की अपील की। यद्यपि कि बहुत से मुसलमानों ने व्यक्तिगत रूप से आन्दोलन में हिस्सेदारी की। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच दूरी घटने के बजाय, लगातार बढ़ती जा रही थी, जिसको पाटने की संभावना उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। इसके बाद 1944 में सी. राजगोपालाचारी द्वारा प्रतिपादित फार्मूला सामने आया जिसमें सिद्धान्त रूप में पाकिस्तान को स्वीकार कर लिया गया था किन्तु इस आधार पर गाँधी एवं जिन्ना के बीच हुई वार्ता असफल हुई।

राजगोपालाचारी ने यह तर्क दिया था कि पाकिस्तान की माँग भयावह नहीं है। इन प्रस्तावों के आधार पर यदि बातचीत सफल हो जाती तो बंगाल एवं पंजाब में जो हिन्दू बहुल क्षेत्र थे वे अलग हो जाते और मुसलमानों को उन्हीं क्षेत्रों में आत्मनिर्णय का सिद्धान्त दिया जाता, जहाँ वे बहुसंख्यक थे। सिखों को भी भारत में ही रहने दिया जाता। इस फार्मूले के तहत सुझाये गये प्रावधान विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ही लागू होते। इसके द्वारा यह कहा जा सकता है कि जिन्ना को पाकिस्तान के सम्बन्ध में अपने विचार को और स्पष्ट करने का मौका दिया गया। जिन्ना के लिये भारत की समस्या का एकमात्र निदान या हल भारत के विभाजन पाकिस्तान या हिन्दुस्तान में निहित था। दूसरी ओर गाँधी का यह दृढ़ मत था कि मुसलमान एक राष्ट्र नहीं हैं। मात्र इस्लाम धर्म के आधार पर उन्होंने यह तर्क दिया कि क्या दोनों राष्ट्र एक हो जायेगें, यदि भारत के सभी लोग इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लें। भारत के बहुसंख्यक मुसलमान वास्तव में धर्मान्तरित हैं। इसलिये भी उन्हें अलग राष्ट्र के रूप में नहीं देखा जा सकता।

गाँधी–जिन्ना वार्ता की असफलता से पंजाब यूनियनिस्ट पार्टी, सिख समुदाय और हिन्दू महासभा के लोग प्रसन्न हुये। लेकिन लीग से सम्बन्ध रखने वाले भी खुश थे, क्योंकि गांधी ने पाकिस्तान की माँग को

सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया था। गांधी–जिन्ना वार्ता ने, जिन्ना का राजनीतिक कद जो कि भारत छोड़ो आन्दोलन के समय से छोटा हो गया था, को एक बार फिर बढ़ा दिया।

इसके बाद वेवल योजना के तहत भारत के सांविधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास भी असफल सिद्ध हुआ, क्योंकि मुस्लिम लीग ने यह माँग की कि मुसलमानों को वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में नामित करने का अधिकार सिर्फ लीग को है। कांग्रेस इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकती थी। इसलिये यह योजना भी असफल हुई और जिन्ना ने एक बार फिर मुस्लिम साम्प्रदायिकता का राजनीतिक उपयोग किया। इसके बाद कैबिनेट मिशन भारत आया और उसके द्वारा भारत में सांविधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास किया गया। कैबिनेट मिशन ने भारत के राजनीतिक नेताओं से गहन विचार–विमर्श के बाद अपनी योजना दी। जिसमें पाकिस्तान की माँग को यह कहकर ठुकरा दिया गया कि यह न केवल अव्यवहारिक है बल्कि इसे स्वीकार करने से अनेक प्रशासनिक सैनिक और आर्थिक परेशानियाँ सामने आयेंगी। इसके अतिरिक्त सिखों की स्थिति भी विचित्र हो जायेगी जो कि पाकिस्तान की माँग का समर्थन नहीं करते थे। लेकिन दूसरी ओर ब्रिटिश प्रान्तों को इस तरह से तीन समूहों में बाँटा गया, जिससे कि पाकिस्तान को स्वीकार करने की ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की इच्छा भी प्रकट होती थी।

कांग्रेस ने शुरू में इस योजना को अस्वीकार कर दिया और मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार कर लिया, लेकिन बाद में कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया और वायसराय ने कांग्रेस को अन्तरिम सरकार बनाने को कहा। इससे जिन्ना नाराज हुये और उन्होंने 29 जुलाई 1946 को मुस्लिम लीग की बैठक में कैबिनेट मिशन योजना को अस्वीकार करने की घोषणा की। लीग ने 16 अगस्त 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस का आयोजन करने का निश्चय किया। जिन्ना ने अपने भाषण में साफ–साफ कहा कि अब तक मुस्लिम लीग संवैधानिक एवं अहिंसक नीति का पालन कर रही थी, लेकिन अब वह प्रत्यक्ष कार्यवाही करेगी जो हिंसक भी हो सकती है। परिणामस्वरूप 16 अगस्त 1846 को बंगाल में नरसंहार हुआ जिसमें करीब चार हजार लोगों की जाने गयीं जिसे 'ग्रेट कलकत्ता किलिंग' के नाम से जाना गया। इसके बाद साम्प्रदायिक दंगा बंगाल के अधिकांश भागों जैसे नोआखली, टिपेरा आदि में भड़क उठा। इन साम्प्रदायिक दंगों

का प्रभाव पहले बिहार में और उसके बाद संयुक्त प्रान्त, बम्बई और अन्त में पंजाब में मार्च 1947 में पडा। इन दंगों ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का धार्मिक विभाजन अब नहीं रोका जा सकता है। वास्तव में ये दंगे विभाजन के लिये ही थे। इस राजनीतिक विवशता को कांग्रेस ने समझा और बाद में जब माउण्टबेटेन गवर्नर जनरल होकर भारत आया और 3 जून 1947 को भारतीय नेताओं के समक्ष विभाजन की योजना रखी तो कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग ने भी इस योजना को स्वीकार किया यद्यपि कि पंजाब एवं बंगाल का बड़ा भूभाग इस योजना में सार्वभौम पाकिस्तान के अन्तर्गत नहीं आता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पूर्वी उत्तर प्रदेश में साम्प्रदायिकता का विकास गोरक्षा आन्दोलन से पूरी तरह से जुड़ा हुआ था। यद्यपि 1880 के दशक में गोरक्षा आन्दोलन का मुख्य केन्द्र पंजाब एवं मध्य प्रान्त था। इस आन्दोलन का सबसे गहरा प्रभाव भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में ज्यादा देखने को मिलता है। यह प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़, बलिया और गाजीपुर जिलों में अत्यधिक था और बिहार के सारन एवं शाहाबाद जिलों में यह उतना ही प्रभावकारी था। पूर्वी उत्तर प्रदेश में गोरक्षा आन्दोलन अन्ततः भीषण साम्प्रदायिक दंगे के रूप में 1893 में परिणत होता है जो कि बकरीद के अवसर पर हुआ। मऊनाथ भंजन जो तत्कालीन आजमगढ़ जिलें में था, इस दंगे का प्रमुख केन्द्र बना। इस क्षेत्र तथा आस–पास के हिन्दुओं ने भारी संख्या में एकत्र होकर मुसलमानों के ऊपर आक्रमण किया।

फ्रांसिस राबिन्सन ने लिखा है कि गोरक्षा आन्दोलन उत्तर प्रदेश में पंजाब से 1886 में आया, जबकि उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि गाय एक वस्तु नहीं है और इसलिये मुसलमानों द्वारा गायों की हत्या कानून के दायरे में नहीं आता है। उन्होंने आगे लिखा है कि बाद में इस आन्दोलन का प्रभाव शहरों में हिन्दू हितों की रक्षा के लिये हुआ और इसका गहरा प्रभाव पड़ा क्योंकि उत्तर प्रदेश की शहरी जनसंख्या में मुसलमानों की जनसंख्या का अनुपात दो–तिहाई था। इसलिये उग्र हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के उग्र समर्थक भी शहरों में ही केन्द्रित थे।[109] जान मैकनेल गोरक्षा आन्दोलन का विश्लेषण करते हुये लिखते हैं कि गोरक्षा आन्दोलन और 1892 के विधान परिषद सुधार कानून के ऊपर कांग्रेस और मुसलमानों में असहमति के कारण साम्प्रदायिक दंगे हुये। उनका कहना है कि 1893

के बाद जन भावना बहुत विस्तृत नहीं थी और हिन्दू नेताओं का यह मानना था कि मुसलमानों का अलगाव किसी भी संभावित लाभ के लिये बहुत भारी कीमत थी।[110] ज्ञान पाण्डेय का तर्क है कि 1892 का अधिनियम और कुछ हिन्दू नेताओं की इच्छा इतने बड़े आन्दोलन या इसके बिखराव के लिये बहुत ही संकीर्ण कारण था।[111]

इससे यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान अधिकाधिक सुविधाओं की प्राप्ति की होड़ में साम्प्रदायिक भावनाओं का सहारा लिया गया। इसके पीछे अभिजातवर्ग की अपनी स्थिति को बनाये रखने की कोशिश भी स्पष्टतः दिखायी देती है, जिसने ब्रिटिश शासन को यह मौका दिया कि वह अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए अपने स्वार्थों के अनुरूप ऐसे वर्गो का उपयोग करे और ब्रिटिश शासन ने अपनी नीतियों के द्वारा समय–समय पर ऐसी ही किया। लेकिन बाद में यह देखने को मिलता है कि जैसे–जैसे राजनीतिक चेतना बढ़ती गयी जनसामान्य की भागीदारी बढ़ती गयी और नेतृत्व वर्ग द्वारा उनकी भावनाओं को धार्मिक आधार पर और अधिक तीव्रता से उभारा जाने लगा और यह प्रचार काफी तीव्रता से किया जाने लगा कि उनके हित धार्मिक आधार पर संगठित रहने पर ही सुरक्षित रह सकेगें।

सन्दर्भ

1. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1995.
2. सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ. 81.
3. कूपलैण्ड आर., कॉंस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इंडिया, लंदन, 1944, पृ. 29.
4. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 82.
5. कैशमेन आर., द मिथ आफ द लोकमान्य, पृ. 78, सुमित सरकार की आधुनिक भारत में, पृ. 83.
6. हाली, 'हयात ए जवायद', हसन के एजूकेशनल मूवमेंट में उद्धृत, पृ. 69.
7. न्यायमूर्ति शाहदीन ने 1904 में अपना आकलन दिया, जो कि जे.एम. एस. बलजान जूनियर के द रिफार्म एण्ड द रिलीजियस आइडियाज आफ सर सैयद खान में उद्धृत, लीडेन, 1949, पृ. 48.
8. राबिन्सन फ्रांसिस, सेप्रेटिज्म एमॅग इंडियन मुस्लिम्स : द पालिटिक्स आफ द यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम्स 1860—1923, लन्दन, 1974, पृ. 90.
9. ग्राहम, लाइफ एण्ड वर्क आफ सर सैयद अहमद खान, के.सी.एस. आई, न्यू एण्ड रिवाइज एडीशन, लन्दन 1909, पृ. 48, फ्रांसिस राबिन्सन के सेप्रेटिज्म एमॅग .... में उद्धृत पृ. 91.
10. वही, पृ. 28.
11. वही, पृ. 91.
12. यह वक्तव्य हाली के 'हयात ए जवायद' में उद्धृत है। विस्तृत व्याख्या के लिये हसन का एजूकेशनल मूवमेंट, पृ. 88—89.
13. सैयद अहमद का भाषण गाजीपुर साइन्टिफिक सोसाइटी के उद्घाटन अवसर पर 9 जनवरी 1864 को दिया गया। ग्राहम के पृ. 53 पर उद्धृत है।
14. हसन की वही पुस्तक, पृ. 88—89.

15. हण्टर, डब्ल्यू. डब्ल्यू. इण्डियन मुसलमान्स, दिल्ली, 1969, पुनर्मुद्रित, सुमित सरकार के आधुनिक भारत में उद्धृत, पृ. 100.

16. राबिन्सन फ्रांसिस, वही पुस्तक, पृ. 131.

17. हार्डी पीटर, मुस्लिम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1972, पृ. 58.

18. विस्तृत के लिये जमालुद्दीन अफगानी के ए रिफ्यूटेशन आफ द मेटेरियलिस्ट्स, 1882.

19. ब्रास पाल आर., लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1974, पृ. 130.

20. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 134.

21. वही, पृ. 135.

22. एकराम एस.एस., माडर्न मुस्लिम इंडिया एण्ड द बर्थ आफ पाकिस्तान 1858–1951 द्वितीय संस्करण, लाहौर, 1965, पृ. 86.

23. गुलाम उस सकलेन का लार्ड कर्जन के नाम खुला पत्र, जो पंजाब आब्जर्बर (लाहौर) 16 मई 1900 के अंक में प्रकाशित और हमीद अली खान के द वर्नाकुलर कन्ट्रोवर्सी में उद्धृत, पृ. 45.

24. अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट, 19 सितम्बर 1901, एम.एस. जैन के अलीगढ़ मूवमेन्ट्स वर्जिन एण्ड डेवलपमेंट 1858–1906, आगरा, 1965, पृ. 149.

25. नवाब विकार उल मुल्क का पायोनियर के सम्पादक के नाम पत्र, अगस्त 1903 जो कि लखनऊ से प्रकाशित एडवोकेट मे 22 अगस्त 1903 को उद्धृत।

26. वही

27. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 117.

28. फिलिप सी.एच. द्वारा सम्पादित इवाल्यूशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान 1858–1947, सेलेक्टेड डाक्यूमेंट्स, लंदन, 1872, पृ. 185.

29. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 141.

30. सेन्ट्रल इन्टेलीजेन्स के निदेशक की साप्ताहिक रिपोर्ट 24 अगस्त 1907, राबिन्सन एफ., के सेप्रेटिज्म एमँग .... में उद्धृत, पृ. 142.

31. इंडियन पीपुल, इलाहाबाद, 24 अगस्त 1906.

32. मोहसिन उल मुल्क द्वारा आर्चबोल्ड को लिखा पत्र 4 अगस्त 1906, राबिन्सन एफ. के सेप्रेटिज्म एमॅग .... में, पृ. 143.
33. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 144.
34. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 170.
35. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 144.
36. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 170.
37. होम डिपार्टमेंट, पब्लिक डिपाजिट, मई 1918, फाइल संख्या 285.
38. वही
39. वही
40. उ.प्र. राज्य अभिलेखागार जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेंट, फाइल संख्या 140/1916.
41. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 350.
42. उ.प्र. राज्य अभिलेखागार, जी.ए.डी. फाइल संख्या 140/1917.
43. यूनाइटेड प्राविन्सेज, नेटिव न्यूज पेपर्स रिपोर्ट, इण्डियन डेली टेलीग्राफ, 5 अक्टूबर 1916.
44. उ.प्र. राज्य अभिलेखागार, जी.ए.डी. फाइल संख्या 140/1917.
45. लीडर, इलाहाबाद, 18 सितम्बर 1917.
46. लीडर, इलाहाबाद, 15 नवम्बर 1917.
47. लीडर, इलाहाबाद, 4 नवम्बर 1917.
48. एन इण्डियन डायरी, खण्ड 2 पृ. 72 माण्टेग्यू पेपर्स, 39.
49. ट्रिब्यून, 10 अगस्त 1918, सर्चलाइट 15 अगस्त 1918.
50. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष डा. मुख्तार अहमद अंसारी का भाषण, दिसम्बर 1918, होम पोलिटिकल, ए, मार्च 1919, फाइल संख्या 251–9.
51. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 290.
52. वही, पृ. 289.
53. वही
54. वही

55. इण्डिपेण्डेन्ट, 12 अक्टूबर 1919.
56. होम पोलिटिकल, बी, अक्टूबर 1919, फाइल संख्या 360—63.
57. वही
58. वही
59. फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, यू.पी., अक्टूबर 1919, द्वितीय पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, नवम्बर 1919, फाइल संख्या 16.
60. फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यू.पी., मई 1920, प्रथम पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल संख्या 94.
61. फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यू.पी. मई 1920, द्वितीय पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल संख्या 95.
62. होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल संख्या 109.
63. होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल संख्या 109.
64. वही
65. वही
66. वही
67. फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, यू.पी. जून 1920, प्रथम पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल संख्या 96.
68. वही
69. वही
70. होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल संख्या 109.
71. वही
72. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 270.
73. वही, पृ. 271.
74. वही
75. होम पोलिटिकल, फाइल संख्या 1/1928, फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, द्वितीय पक्ष, जनवरी 1928.
76. वही
77. नेटिव न्यूजपेपर्स रिपोर्ट 11 फरवरी, 1828 को समाप्त होने वाले सप्ताह के लिये आज तथा लीडर पत्रों की राय।

78. आज, बनारस, 30 मार्च
79. होम पोलिटिकल, फाइल संख्या 1/1928, फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, प्रथम पक्ष, नवम्बर 1928.
80. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन, 1976, पृ. 330.
81. लीडर, इलाहाबाद, 2 अप्रैल 1929.
82. आज, बनारस, 3 अप्रैल 1929.
83. आज, बनारस, 3 अप्रैल 1929.
84. लीडर, इलाहाबाद, 30 जुलाई 1929.
85. लीडर, इलाहाबाद, 30 जुलाई 1929.
86. लीडर, इलाहाबाद, 3 अप्रैल 1929.
87. होम पोलिटिकल, फाइल संख्या 23/66/1932.
88. ग्वेयर एम. एण्ड अप्पादुरई ए. (संपा.), स्पीचेज एण्ड, डाक्यूमेंट्स आन द इंडियन कॉंस्टीट्यूशन (1921–27) भाग 1, आक्सफोर्ड, पृ. 386.
89. वही, पृ. 385.
90. वही, पृ. 384–85.
91. सिंह अनीता इन्दर, द वर्जिन्स आफ द पार्टीशन आफ इण्डिया (1936–47) आक्सफोर्ड, 1995, पृ. 2.
92. वही, पृ. 1–2.
93. जैदी जेड.एच., मुस्लिम पालिटिक्स, पृ. 248–49.
94. हंग द्वारा लिनलिथगो को 21 मई 1836 को लिखा पत्र, हंग करेसपांडेस खण्ड 5, अनीता इन्दर सिंह की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 6.
95. पीरजादा एस.एस. (संपा), फाउण्डेशन आफ पाकिस्तान : आल इण्डिया मुस्लिम लीग डाक्यूमेंट्स, खण्ड–2, करॉची, 1970, पृ. 235.
96. वही, पृ. 248–49.
97. सिंह अनीता इन्दर, वही पुस्तक पृ. 7–8.
98. सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू खण्ड 7, पृ. 460.

99. वही, पृ. 598—614, नेहरू का फैजपुर में अध्यक्षीय भाषण

100. बाम्बे क्रानिकल, 4 जनवरी 1937, अनीता इन्दर सिंह की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 9.

101. सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू, खण्ड 7, पृ. 460.

102. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 393.

103. लीडर, इलाहाबाद, 1 मई 1937.

104. लीडर, इलाहाबाद, 12 मई 1937.

105. नेहरू द्वारा पन्त को लिखा 30 मार्च 1937 का पत्र ए.आई.सी.सी. फाइल सं. ई—1, 1936—37, पृ. 7.

106. लीडर, इलाहाबाद, 10 मई 1937.

107. वही

108. पीरजादा एस.एस., वही पुस्तक, पृ. 267—68.

109. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 78—79.

110. मैकनेल जे.आर., इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड अर्ली कांग्रेस, प्रिस्टन, 1977, पृ. 273.

111. पाण्डेय ज्ञान, रैलिंग राउण्ड द काऊ : सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन, 1888—1977, सब अल्टर्न स्टडीज, खण्ड—दो पृ. 62.
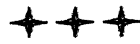
समकालीन प्रादेशिक साहित्य में साम्प्रदायिकता का निरूपण

राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा वैचारिक मंथन के लिये विशेष रूप से अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित की गयीं। पराधीनता के प्रति गहरे भावात्मक सरोकार की भावात्मक उत्तेजना और परिवर्तन के प्रति बलवती इच्छा ने मानसिक खुलेपन की पृष्ठभूमि तैयार की। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक सुधार और पुनरुत्थान आन्दोलनों से बीसवीं शताब्दी का साहित्य भी अछूता नहीं रहा, क्योंकि यह भारतीयता के स्वाभिमान एवं गौरव के उदय का समय था। स्वाभाविक था कि साहित्यकार भी अतीत की विस्मृति से उन सांस्कृतिक एवं धार्मिक तत्वों की सहज तलाश कर रहे थे, जिनसे कि इस भावना को और अधिक पुष्ट किया जा सके।

इसी क्रम में धर्म एवं साम्प्रदायिकता को लेकर समाज की स्थिति के प्रति उत्तर प्रदेश के हिन्दी साहित्यकार भी सचेत थे और इससे सम्बन्धित मुद्दों से बराबर संवाद स्थापित कर रहे थे। धर्म और साम्प्रदायिकता को लेकर समाज में विवाद के जो बिन्दु थे, या अतीत से चले आ रहे प्रतीकों, आख्यानों का जो उपयोग इस सन्दर्भ में हो रहा था, साहित्यकारों द्वारा उन्हें अपनी रचना में स्थान दिया जा रहा था। यह सब सहज अभिव्यक्ति के रूप में हो रहा था, न कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने के लिये क्योंकि साहित्यकारों द्वारा धर्म में व्याप्त पाखण्ड, ढोंग और उसकी साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की आलोचना भी की जा रही थी। साम्प्रदायिक फूट को समाप्त कर एकता का प्रयास भी उनके साहित्य द्वारा हो रहा था, साथ ही उसके लिए अपनी खुद की जवाबदेही और ब्रिटिश नीतियों द्वारा वैमनस्य को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति का भी पर्दाफाश किया जा रहा था।

इन्ही बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों से सम्बन्धित प्रमुख रचनाकारों के साहित्य में विद्यमान सरोकारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

आधुनिक हिन्दी के सर्जक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रचना संसार बहुआयामी है। साहित्य की कोई विधा उनकी लेखनी से अछूती नहीं रही। ऐसे

युगपुरुष के कर्तृत्व का विवेचन एक दुरूह कार्य है। इसके लिये भारतेन्दु की रचनाओं के साथ ही उनकी व्यक्तिगत एवं वैचारिक पृष्ठभूमि का अवलोकन भी आवश्यक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850—85) इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वंश परम्परा में उत्पन्न हुये थे।[1] भारतेन्दु जी के पिता गोपाल चन्द्र उपनाम गिरधरदास एक सत्कवि हो गये हैं। .... भारतेन्दु के हिन्दी, फारसी और अंग्रेजी के प्रथम शिक्षक, ईश्वरी दत्त तिवारी, मौलवी ताज अली और बापू नन्दकिशोर थे। इन्होंने कुछ दिन क्वींस कालेज बनारस में शिक्षा पायी। इन्होंने मराठी, बंगला, गुजराती, मारवाड़ी आदि अनेक भाषायें समय—समय पर स्वयं पढ़ लीं। इनके काव्य गुरु पं. लोकनाथ जी थे .... 14 वर्ष की अवस्था में बाबू गुलाब राय की कन्या मन्नो देवी से इनका विवाह हुआ, इनमें स्वेदश प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यों और कार्यों से स्वदेश प्रेम के सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं।[2] भारतेन्दु के आविर्भाव के समय देश का राजनीतिक क्षितिज........... आर्थिक धुँधलका और सामाजिक रूढ़ि अन्धता की छटपटाहट का परिणाम था। भारतेन्दु और उनका प्रभामण्डल जिसने उस व्यग्रता को वाणी दी थी, तत्कालीन राजनीतिक समझ और राजनीतिक चेतना को स्वर दिया था और जातीय स्तर पर घर कर गये पराधीनता बोध को झकझोरा था।[3]

भारतेन्दु का व्यक्तित्व विविधताओं से भरा हुआ था। कवि होने के साथ—साथ भारतेन्दु पत्रकार भी थे। "कवि वचन सुधा" और "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" उनके सम्पादन में प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध पत्रिकायें थीं।[4] उनके बारे में डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं — "वे राजभक्त होते हुए भी देशभक्त थे।"[5] एक ही साथ वे राजभक्ति और देशभक्ति दोनों का निर्वाह करते दिखायी पड़ते हैं। एक ही छन्द की पहली पंक्ति में वे क्राउन के वफादार दिखायी पड़ते हैं, तो दूसरी पंक्ति में देश की आर्थिक स्थिति उन्हें सताती है — अंग्रेज राज सुख साज, सबै विधि भारी / पै धन विदेश चलि जाति इहै अति ख्वारी।[6]

भारतेन्दु का सम्बन्ध समकालीन राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों एवं समाज सुधारकों से भी रहा। 'सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जब नेशनल फण्ड खोला और काशी पधारे तब भारतेन्दु ने उनकी सहायता की और एक जलसे में उनका सत्कार भी किया।[7] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र धार्मिक प्रवृत्ति के थे — "वे परम वैष्णव थे, पर वैष्णवता की व्याख्या उन्होंने धार्मिक कूप मण्डूकता से बाहर निकल कर की थी .... वैष्णव धर्म को प्राकृत धर्म से जोड़कर भारतेन्दु ने पूरी वैष्णव अवधारणा को नया आयाम दिया। उसकी अनेक बन्द खिड़कियाँ खोली। ताजी हवा में वैष्णव धर्म ने साँस ली और एक ऐसी वैष्णवता तैयार हुई, जो गाँधी जी

को भी रास आयी।"[8] बाबू साहब का धर्म परम वैष्णव था .... उनके सिद्धान्त में परम धर्म भगवत्प्रेम था .... सत्य, अहिंसा, दया शील, नम्रता और चरित्र को भी धर्म मानते थे, वह सब जगह को ब्रह्ममय और सत्य मानते थे।[9]

भारतेन्दु के समय की परिस्थितियों में इस पक्ष का विवेचन आवश्यक हो जाता है कि साम्राज्यिक दबावों के बावजूद रचनाकार राष्ट्रभक्ति की बात कैसे कर पाता था। भारतेन्दु के रचना कर्तृत्व से इसे समझा जा सकता है। भारतेन्दु अपने लोकप्रिय भाषण' भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, में कहते हैं — "अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग इस समय पर उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है।"[10] भारतेन्दु यह भी कहते हैं — "सन् 1857 के विद्रोह की घटना भविष्य में अंग्रेजों एवं भारतवर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये घातक हुई।"[11] लेकिन वे इस बात पर बल देते हैं कि — "जब महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढ़ा गया, लार्ड लिटन के दरबार में भारत के राजा महाराजाओं ने विक्टोरिया को साम्राज्ञी स्वीकार किया, इंडियन कौंसिल एक्ट, हाईकोर्ट एक्ट, स्वायत्त शासन एक्ट आदि के साथ ही सड़कों, रेलों, तार—डाक विभाग आदि की स्थापना से देश में एक सूत्रता स्थापित हुई थी और औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति में बहुत सहायता मिली।"[12] इस सन्दर्भ में शंभूनाथ जोशी का कथन महत्वपूर्ण है — "अपनी ग्यारह वर्ष की उम्र में जब उन्होंने महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर "अन्तर्दीपिका" (1861) लिखी, वे पारम्परिक राजभक्ति से आक्रान्त थे। उन्नीस वर्ष की उम्र में ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत आगमन पर "श्री राजकुमार स्वागत पत्र" लिखा तथा इसके एक साल बाद उनके काशी आने पर सुमनोञ्जलि अर्पित की, इनमें भी प्रचीन संस्कार हावी थे।"[13] इसी तरह की राजभक्ति का परिचय अन्यत्र भी मिलता है। 1884 में विक्टोरिया के चतुर्थ पुत्र के मरने पर बनारस में उन्होंने टाउन हाल में एक शोक सभा का आयोजन किया।[14] प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन पर भारतेन्दु ने इस प्रकार अपना उद्‌गार व्यक्त किया — "जिमि रघुवीर आये अवध।"[15]

इसके साथ ही वे साम्राज्यवादी शोषण का खुलासा कर देश के प्रति अपने साहित्यिक कर्मों का निर्वाह भी करते हैं। भारतेन्दु 'भारत दुर्दशा" में लिखते हैं — "सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई/हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।[16] इसी तरह "अन्धेर नगरी" में कहते हैं — हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम/चूरन जब से हिन्द में आया/इसका धन—बल सभी घटाया"[17] "हिन्दुस्तान के दरिद्र होने का कारण" लेख में साम्राज्यवादी

शोषण की इसी प्रवृत्ति को व्यक्त किया है – "रेल आदि से भी द्रव्य बढ़ने की आशा नहीं है, रेलवे कम्पनी वालों ने जो द्रव्य व्यय किया है, उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रूपया बाहर जाता है।"[18] तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में राज के प्रति पक्षधरता आम बात थी। प्रायः राजनीतिज्ञ भी इसी भावना को व्यक्त कर रहे थे – "रक्षा, शिक्षा एवं रेलों के लिहाज से तो अंग्रेजी राज्य अच्छा है।"[19] शिव कुमार मिश्र इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हैं – "राष्ट्रीयता की जो चिन्ता हममें आज है, उस युग में संभव नहीं थी और अपने युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की माँग हम भारतेन्दु बाबू से ही क्यों करें जबकि उस युग के नवजागरण के विचारकों में वह उस रूप में नहीं मिल पाती।"[20]

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के इन्हीं विविध पक्षों के परिप्रेक्ष्य में, धर्म एवं साम्प्रदायिकता के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। भारतेन्दु राजभक्त एवं देशभक्त दोनो थे, अतः उस समय के परिवेश को दृष्टिगत रखते हुये उन्होंने लिखा। इसके अतिरिक्त उनका एक परम्परागत धार्मिक रूप भी था, अतः उसका भी प्रभाव उनके साहित्य पर पड़ा। उनकी दृष्टि धर्म के विभेद कारी स्वरूप की ओर भी गयी तथा उनके साहित्य में ऐसे मिथकों एवं प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयाग भी हुआ, जो तत्कालीन स्थितियों में साम्प्रदायिक कहे जा सकते हैं। यद्यपि कि ऐसा करना किसी भी रचनाकार का उद्देश्य नहीं होता और न ही भारतेन्दु का था। यह इसलिये भी पुष्ट होता है कि उन्होंने अपने साहित्य में सौहार्द, समन्वय एवं एकता स्थापित करने की बात भी कही।

भारतेन्दु भारत के गौरवशाली अतीत के ऊपर गर्व करते हैं क्योंकि वर्तमान राजनीतिक दशा से वे क्षुब्ध ही नहीं थे, बल्कि इसके लिये उत्तरदायी कारणों को भी अच्छी तरह जान रहे थे। इसलिये जहाँ वे उस अतीत गौरव का स्मरण यह कह कर करते हैं – "कहाँ गये विक्रम, भोज, राम, बलि कर्ण, युधिष्ठिर/चन्द्रगुप्त, चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर/कहँ क्षत्री सब मरे जरे, सब गये कितै गिर .... रक्षहु अपनो आर्यमग"[21] वहीं इसके लिये उत्तरदायी कारण 'आपसी कलह" को मानते हैं तथा मुस्लिम शासन के विनाशकारी रूप की ओर संकेत भी करते हैं – पृथ्वीराज, जयचन्द कलह करि जवन बुलाये/तिमिर लंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो/अलादीन, औरंगजेब मिलि धरम नसायो/विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो" [22] आपसी फूट का संकेत "हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" कविता में भी करते है – "लखहु एक कैसे सबै मुसलमान क्रिस्तान/हाय फूटि इक हमहिं में कारन परत न जान।"[23]

"भारत दुर्दशा" नाटक में भी इस फूट की ओर संकेत किया गया है – "करि कलह बुलाई जवन सैन भारी।"[24] इसी नाटक में 'सत्यानाश फौजदार" से कहलाते हैं – "होके जयचन्द हमने एक बार/खोल ही दिया हिन्द का द्वार/हलाकू चंगेजो तैमूर/हमारे अदना–अदना सूर/दुरानी अहमद नादिर शाह/फौज के मेरे तुच्छ सिपाह।"[25] इसी नाटक में सत्यानाश फौजदार के माध्यम से कहते हैं – "फिर अन्त में भिन्नता आयी, इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना–पीना सब एक–एक योजन पर अलग कर दिया।"[26] इसी तरह "अँधेर नगरी" नाटक में "जैसे काजी वैसे पाजी/ रैयत राजी टका सेर भाजी/ले हिन्दूस्तान का मेवा फूट और वैर"[27] कहकर न केवल समकालीन स्थितियों में साम्राज्यवादी शासन की विभेदकारी नीतियों की ओर संकेत किया है, अपितु अतीत से चली आ रही इस प्रवृत्ति को प्रमाणित भी किया है।

मध्यकाल में मुस्लिम शासन की स्थापना एवं लम्बे शासन के बाद भी हिन्दू उन्हें अपना शासक नहीं मानते और विदेशी ही समझते हैं क्योंकि उनके मन में कहीं न कहीं उनके धर्म विरुद्ध एवं अत्याचारी कार्यों की स्मृति बनी हुई थी – 'जेहिं दल मल्यो प्रबल दल लेके बहुविधि जवन नरेश/नास्यो धरम–करम सबहिन के मारि उजार्‌यो देश/पृथ्वीराज के मरे लख्यो सो सुख कबहूँ नैन .... जदपि जवन गन राज कियो इतहीं बसिकै सहसाज/पै तिनकौ निज करि नहिं जान्यो कबहूँ हिन्द समाज/अकबर करिकै बुद्धिमता कुछ सो मेट्‌यो संदेह ...... औरहु औरंगजेब दिहो दुख सब विधि परम नसाय।[28] मुसलमानों को परदेशी मानने की प्रवृत्ति 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" कविता में भी है – "मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम/परदेसी जुलहान को मानहु भयो गुलाम।[29]

मध्ययुगीन संघर्ष एवं हिन्दुओं की दुरावस्था का चित्रण भारतेन्दु अपने साहित्य में करते हैं – "छाई अँधियारी सूझत नहिं राह कहुँ .... हिन्दू के नैन नीर निस दिन बरसावै।"[30] 'भारत जननी' नाटक में लिखते हैं – "इतर पदार्थो की गणना, मेरे शरीर का अब रक्त भी शेष नहीं। यवन सब चूस ले गये।[31] यहाँ संकेत साम्राज्यवादी शोषण की ओर भी है। 'नीलदेवी" नाटक में हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष का स्पष्ट चित्रण किया गया है। इसमें पंजाब प्रान्त के शासक सूर्यदेव एवं दिल्ली बादशाह के सिपहसालार अब्दुश्शरीफ के बीच संघर्ष से तत्कालीन विद्वेष पूर्ण स्थिति का पता चलता है – "अब्दुश्शरीफ – यहाँ के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कम्बख्तों से खुदा बचाये कभी उस बेईमान से सामने लड़कर

फतह नहीं मिल सकती .... अगर खुदा को इस्लाम की रोशनी का जिल्वा हिन्दोस्तान जुल्मत निशान में दिखाना मंजूर है, तो बेशक मेरी मुराद बर जायेगी।"[32] इसी नाटक में कहते हैं – "काफिर है पंजाब का सरदार खबरदार।"[33] यहाँ भी आपसी फूट का संकेत करते हैं – 'निज हरि सो ह्वैहैं बिमुख भारत भुववासी .... तुरकन हित करि हैं हिन्दू संग लराई/यवनन के चरनन रहिहैं सीस चढ़ाई।'[34] लेकिन इस नाटक में हिन्दुओं की विजय दिखाते हैं – "कुमार सोमदेव राजपूतों के साथ आते हैं, मुसलमानों को बाँधते और मारते हैं, क्षत्रिय लोग भारत वर्ष की जय, आर्य कुल की जय",[35] का घोष करते हैं।

मुस्लिम शासन की स्थापना के परिणाम स्वरूप शुरू हुई धर्मान्तरण की प्रक्रिया का भी भारतेन्दु ने उल्लेख किया है – "टके के वास्ते ब्राहमण से मुसलमान/टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान/टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचे।'[36] व्यक्तिगत रूप से भारतेन्दु ने भी यह प्रयास किया था – "अलीजान वेश्या से भारतेन्दु का लगाव था .... कभी हिन्दू थी। भारतेन्दु ने उसका शुद्धीकरण कर हिन्दू बना उसका नाम माधवी रखा।"[37]

मुस्लिम शासन के दौरान धर्म के नाम पर जो तोड़–फोड़ एवं विग्रहवादी भावनाओं का प्रसार हो रहा था, उसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं के भीतर जो पीड़ा उत्पन्न हो रही थी, भारतेन्दु ने उसे भी स्वर दिया – "जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मंदिर/तहँ महजिद बन गयी होत अब अल्लह अकबर।"[38] 'सरयूपार की यात्रा' नामक यात्रावृतान्त में लिखते हैं – "यह वही अयोध्या है, जो भारतवर्ष में सबसे पहले राजधानी बनायी गयी थी ...... सारे संसार के राज लोग इसी अयोध्या की कृपाण से किसी दिन दबते थे, वही अयोध्या अब देखी नहीं जाती। जहाँ देखो मुसलमानों की कब्रें दिखायी देती हैं।"[39] इसकी तुलना में अंग्रेजी शासन के धार्मिक दृष्टिकोण को उदार मानते हैं। 'श्री राजकुमार शुभागमन' कविता में इसी भाव को व्यक्त किया है – 'जैसे आतप तपित को छाया सुखद सुहात/जवनराज के अन्त तुव आगम तिमि बरसात/मसजिद लखि बिसुनाथ ढिंग परे हियो जो घाव/तापर मरहम सरिस यह तुव दरसन नर राव।'[40]

भारतेन्दु वर्तमान समय में हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष पर भी चिन्ता व्यक्त करते हैं – "अबकी बकरीद में भारतवर्ष के प्रायः अनेक नगरों में मुसलमानों ने प्रकाश रुप से जो गोवध किया है, इससे हिन्दुओं की सब प्रकार से जो मान

हानि हुई है, वह अकथनीय है। पालिसी परतन्त्र गवर्नमेंट पर हिन्दुओं की अकिंचनकरता और मुसलमानों की उग्रता भली भाँति विदित है, यही कारण है कि जानबूझकर भी वह कुछ नहीं बोलती, किन्तु हम लोगों को जो भारतवर्ष में हिन्दुओं के वीर्य से ही उत्पन्न हैं, ऐसे अवसर पर गवर्नमेंट के कान खोलने का उपाय अवश्य करणीय है। .... भागलपुर, मिरजापुर, काशी इत्यादि कई स्थानों में प्रकाश रूप से केवल हमारा जी दुखाने को हाँका कोठी यह अत्याचार हुआ है, जो किसी समाचार पत्र में प्रकाश भी हुआ है। हिन्दू, उर्दू, बंगाली, मराठी, अंग्रेजी सब भाषा के पत्रों में जिनके संपादक हिन्दू हों, एक बेर बड़े धूम से इसका आन्दोलन होना अवश्य है, आशा है कि अपने शंका भर आप इस विषय में कोई बात उठा न रखेगें।"[41] स्पष्ट है कि भारतेन्दु न केवल इसके प्रति चिन्तित हैं अपितु इसके विरुद्ध आन्दोलन छेड़ने के लिये हिन्दुओं को संगठित करने का प्रयास भी कर रहे थे।

भारतेन्दु जी अपने युग के रचनाकारों की तरह धार्मिक मुद्दों पर भी दृष्टि डालते हैं। इस समय के रचनाकार समस्त भारतवासियों को हिन्दू मानते हैं। इस प्रकार इस परिधि में अन्य धर्मावलम्बियों को लाकर उनके मन में शंका का बीज बो दिया गया, जो आगे चलकर साम्प्रदायिक त्रासदी को और अधिक घनीभूत करने में सहायक हुआ। भारतेन्दु के अनुसार – "सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है।"[42] बलिया के अपने प्रसिद्ध भाषण में कहते हैं – "भाई हिन्दुओं ! तुम भी मत मतान्तर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जाप करो। जो हिन्दूस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो।"[43] मुस्लिम समुदाय को इसी भाषण में सावधान करते हैं – "मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से बरताव करें। ऐसी बात जो हिन्दुओं का जी दुखाने वाली हो, न करें। अभी तक बहुतों को यही ज्ञान है कि दिल्ली, लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो वे दिन गये।"[44]

इसके बावजूद भारतेन्दु–साहित्य का दूसरा पक्ष भी था, जिसमें उन्होंने समन्वय सौहार्द एवं एकता की बात कही – "यह समय इन झगड़ों का नहीं है। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिये।"[45] इतना ही नहीं वे हिन्दू मुसलमान का रिश्ता द्योरानी जेठानी का ही मानते थे। "वे हिन्दू–मुसलमानों को आपस में लड़ाने की अंग्रेजों की नीति को अच्छी तरह समझते थे। अन्त तक वे जातीय एकता के लिये प्रयत्नशील रहे। इस जातीय एकता की भावना

का आधार उनकी व्यापक राष्ट्रीयता थी, जो सर्व धर्म समभाव पर आधारित थी। किसी भी धर्म की अच्छाई को वे नजर अन्दाज नहीं करते थे। उन्होंने कुरान का भी हिन्दी अनुवाद किया था।''[46] यही नहीं वे अंग्रेज शासकों से मुस्लिम शासकों की तुलना करते हुये कहते हैं – ''मुसलमान लोग अंग्रेजों की अपेक्षा सौ गुने अपव्ययी थे, परन्तु वे लोग इस देश के निवासी थे .... उनके अभिव्यय से भी देशवासियों का उपकार ही होता था।''[47] इस तरह भारतेन्दु अपने हिन्दूवादी आग्रहों के बावजूद दूसरे समुदाय के प्रति सहिष्णु थे।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु एक ऐसे युगद्रष्टा रचनाकार थे, जो अपने युग की परिस्थितियों में घट रही घटनाओं के प्रति न केवल सचेत थे, बल्कि अतीत के इतिहास से सन्दर्भ ग्रहण करते हुये भी पूर्वाग्रहों से मुक्त थे। यही कारण है कि उन्होंने यद्यपि कि मध्यमकालीन हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष की स्थितियों को विवेचित किया है तथा वर्तमान की तनावग्रस्त स्थितियों पर क्षोभ भी प्रकट किया था, किन्तु इस बात का ध्यान रखा है कि इससे किसी की भावनायें आहत न हो, इसी कारण उनकी रचनाओं में इस बात पर बल दिया गया है कि पूर्वाग्रहों को छोड़कर सौहार्द स्थापित किया जाय क्योंकि राजभक्त होने के बावजूद उन्हें साम्राज्यवादी खतरों का अच्छी तरह से ज्ञान था और इससे मुक्ति के लिये एकता की स्थापना उनकी दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण कदम था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध (1856 – 1947) पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जनपद के एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में पैदा हुये। इनके पिता भोला सिंह तथा माँ धार्मिक प्रवृत्ति की थीं, जिनका कि इनके व्यक्तित्व पर काफी प्रभाव था। प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में हुई और इसके बाद 1884 ई. में निजामाबाद (आजमगढ़) के हिन्दी मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त होने के बाद इनकी रुचि काव्य रचना की ओर अधिक हो गयी। ''हरिऔध के व्यक्तित्व निर्माण में प्रतिष्ठित सिख कवि बाबा सुमेर सिंह का बहुत बड़ा हाथ था .... सुमेर सिंह भारतेन्दु मंडल के सदस्य थे। यहीं उनका (हरिऔध) परिचय भारतेन्दु साहित्य एवं ''कवि वचन सुधा'' तथा ''हरिश्चन्द्र चन्द्रिका'' की फाइलों से हुआ और हिन्दी साहित्य की ओर उनकी अभिरुचि अत्यन्त तीव्रता से बढ़ी।[48]

हरिऔध संवेदनशील और युगबोध से अनुप्राणित कवि थे। समाज और राष्ट्र की कामनाओं व आवश्यकताओं के स्पन्दन का अनुभव करने में भी

समर्थ थे। वे देश और जनता की अभिव्यक्ति और आकांक्षाओं के प्रति भी संवेदनशील थे और उस संवेदना को प्रेषणीय बनाकर मुखरित करने में समर्थ थे। लोक कल्याण, जनकल्याण विधान समाज सुधार आदि की जिस चेतना का दीप भारतेन्दु ने जलाया था, उसकी प्रकाशदीप्ति तथा दीप्ति परिधि को हरिऔध जी फैलाना चाहते थे। साहित्य के अध्ययन से वे जनता को देशकाल के अनुरूप ऊपर उठाना चाहते थे।"[49]

स्पष्ट है कि हरिऔध जी भारतेन्दु युगीन चेतना एवं प्रवृत्तियों से प्रभावित थे। उनके काव्य में उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मिलता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि हरिऔध के काव्य में भी अतीत एवं हिन्दू धर्म के प्रति झुकाव दृष्टिगत होता है किन्तु उनके काव्य में उन शब्दों एवं प्रतीकों का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है, जिससे साम्प्रदायिक भावना फैलाने में सहायता मिलती है किन्तु जिस जातीयता एवं हिन्दुत्व का आग्रह उनकी रंचनाओं में आद्योपान्त मिलता है उससे ऐसा मानस अवश्य तैयार होता है। डॉ. कीर्तिलता के अनुसार – "राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम चरण में तथा उसके पूर्व ही साहित्यकारों ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के वर्णन में विशेष रुचि ली। आन्दोलन के द्वितीय चरण में भी भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण साहित्यकारों का प्रिय विषय रहा। प्रथम चरण में कवियों ने प्राचीन वैदिक संस्कृति के प्रति विशेष प्रेम प्रकट किया था। इस काल में साहित्यकारों ने वह क्षेत्र विस्तृत किया। इसमें हरिऔध का विशेष योगदान है।"[50] यहाँ शोध विषय की परिधि में हरिऔध की उन कविताओं का विवेचन होगा जो हिन्दुत्व एवं जातीयता से सम्बन्धित है।

हरिऔध ने अपने काव्य संग्रह 'काव्योपवन' (1909) की 'आर्यपंचक" शीर्षक कविता में भारत के अतीत गौरव का गान किया है। उन्होंने लिखा है कि एक दिन वह भी था जब हम बल बुद्धि और विद्या वाले थे, हम भी धीर, वीर और गुणशाली थे। जब कभी हम सामगान करते थे, तो पत्थर भी मोम हो जाते थे। जब हम विजय करने के लिये निकलते थे तो हमारी रण हुँकार सुनकर सभी दहल जाते थे .... हमने सभ्यता को जगत में फैलाया था। जावा में हिन्दुत्व का रंग जमाया था। जापान, चीन, तिब्बत, तातार व मलाया सभी ने हमसे ही धर्म का मर्म पाया था।[51] इसी संग्रह में हरिऔध का स्पष्ट मत है कि हम लोग हिन्दू रहकर ही भारत के रहते हैं। मुसलमानों में चाहे हिन्दू रक्त भी हो, फिर भी वे विदेशी संस्कृति से प्रेम करते हैं। इसी प्रकार ईसाई भी यूरोप का ही चाल–ढाल पसन्द करते हैं। ब्रह्म समाजियों और आर्य समाजियों के

लिये भी कवि ने कहा है कि कहने को यह भारतवासी बनते हैं, परन्तु ये भी यूरोप की बातों पर जाते हैं और जातीयता इन्हें नहीं भाती है। ये कलह और फूट फैलाते हैं।[52]

इससे स्पष्ट है कि कवि की सहानुभूति उन्हीं लोगों के साथ है, जो प्राचीन हिन्दू संस्कृति को अपनाने वाले हैं। धर्म और जाति के अतिरिक्त जो भावना में भी विदेशी संस्कृति को अपनाते हैं, उनसे कवि का विरोध है। आर्य समाज ने यद्यपि विदेशी संस्कृति को स्वीकार नहीं किया था लेकिन हरिऔध ने संभवतः इसीलिए ऐसी टिप्पणी की — "आर्य समाज ने सनातन हिन्दू धर्म में परिवर्तन करना चाहा था। इस संग्रहं की एक लावनी में श्राद्ध कर्म के बहाने उसकी महत्ता बताते हुये कौमियत को न छोड़ने का आग्रह किया है।[53] 'प्रियप्रवास' में भी हरिऔध ने कहा है कि अपनी जाति को संकट से उबारना मनुष्य का सर्वप्रथम कर्म है। ब्रज में दावानल लगने पर कृष्ण गोपों से कहते हैं वीरों बढ़कर स्वजाति का भला करो। हमें दोनों ओर अपार लाभ है, यदि उबार लिया तो स्व कर्तव्य पूरा होगा और यदि भस्म हो गये तो सुकीर्ति मिलेगी।[54]

हरिऔध को जातीयता से विशेष प्रेम है। 'पद्य प्रमोद'' में 'सुशिक्षा सोपान'' के अन्तर्गत 'अविनय'' शीर्षक कविता में कवि ने कामना की है कि हमारी नयी पौध की धमनियों में 'पूत जाति हित' की धारा बहे।[55] 'हमें चाहिए' शीर्षक कविता में भी कवि ने कहा है कि हमें ऐसा सुधारक चाहिए, जिसकी रुचि जातीय रंग के बीच रंगी हो।[56] 'सुविचार संग्रह' के अन्तर्गत 'आरम्भ शूरता' कविता में कवि ने हिन्दू जाति को सम्बोधित करके कहा है कि ज्ञान गौरवमयी हिन्दू जाति आरम्भ शूरता दोष को तजे बिना तू कर्मक्षेत्र में कभी जयी नहीं होगी।[57]

हरिऔध हिन्दुओं की भीरु प्रवृत्ति एवं आपसी फूट की चर्चा करते हैं और इसके लिये शिक्षा व्यवस्था को भी दोषी मानते हैं। उन्होने 'पद्य प्रसून' में लिखा है कि उस विद्यालय को विद्यालय कैसे मानें जिसमें कलह और फूट अपनी तान सुनावें ?[58] हिन्दुओं के सन्दर्भ में कवि का मत है — कायरता होड़ करके इनसे नाता जोड़ बैठी है, फूट आज पाँव तोड़ करके इनके घर बैठी है।[59] लोहा छूते ही हिन्दुओं के हाथ काँपते हैं। मन मरा हुआ है और तन में तनिक भी ताब नहीं रही। वीरता समाप्त हो गयी है और धीरता धरा में धँस गयी है। हम बहुत सी जातियों में बँटे जा रहे हैं और एकता के रंग में नहीं रहेंगे। हमारा बुरा हाल है, फिर भी फूट अभी नहीं छूटी है।[60] हरिऔध लिखते हैं कि अब तो

हम कायर और कपूत कहलाते हैं।[61] बैर ने बहुत पाँव पसारा है और हमें फूट का ही सहारा रह गया है।[62] 'चुभते चौपदे'' में लिखा है हममें डाह, फूट, बैर आदि सभी अवगुण हैं।[63] इनसे स्पष्ट होता है कि हरिऔध को अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि का पूरा ज्ञान था और इसी कारण वे तत्कालीन समय में भी हिन्दुओं मे व्याप्त ऐसी प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर सके।

'पद्यप्रसून' की अधिकांश कवितायें हिन्दू जातीयता से भरी पड़ी हैं। ''जीवन स्रोत'' के अर्न्तगत 'विद्यालय' शीर्षक कविता में कवि ने कहा है कि आदर्श विद्यालय में जाति संगठन की शुभ पूजा होगी। वहाँ सरस जातीय तान रस बरसायेगी। उस विद्यालय में महत्ता कहाँ, जहाँ रही सही जातीयता भी नष्ट हो जाय ? जातीय सभाओं के द्वारा जाति का अधः पतन हो रहा है। जाति–जाति के विद्यालय और सभायें अतिनिन्दित हैं, यदि वे संघ शक्ति का संचय न करें। उन विद्यालयों एवं सभाओं से क्या होगा जिनसे हिन्दू – गौरव का डोंगा डूब जाय। अंत में कवि ने प्रार्थना की है कि देश में जितने हिन्दू विद्यालय हों सभी एक सूत्र से बँधे। छात्र जाति – भाव से पूरित हों।[64] इसी संग्रह की 'जीवन – मरण' कविता हिन्दुओं की दीन दशा का चित्रण है। इसमें हरिऔध लिखते हैं कि मंदिर टूटते हैं, परन्तु हमारा कलेजा नहीं टूटता, ललनायें छिनती हैं, परन्तु हमारा खून नहीं खौलता, लाल लुटते हैं परन्तु हमारी आँख तक लाल नहीं होती।[65] स्पष्ट है कि हरिऔध के मत में इस्लाम के आगमन और उसके द्वारा हिन्दू धर्म और देवालयों पर किये गये आघात की पीड़ा थी यद्यपि कि उन्होंने स्पष्ट प्रतीक शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयास किया है।

'परिवर्तन' कविता में हरिऔध ने लिखा है कि हममें परिवर्तन पर परिवर्तन होते हैं, परन्तु वे जातीय भाव के गौरव को खोते हैं।[66] ''समझ का फेर'' शीर्षक कविता में कवि ने उस राष्ट्रीय भावना के प्रति क्षोभ प्रकट किया है जो जाति को मिटाती है। उन्होंने लिखा है कि जाति मिटी जा रही है तो उससे क्या ? हम तो युनिटी करने में मस्त है। माँ – बहन और बेटियाँ लुट जाँय, परन्तु मेल का मुँह देखकर हम उसे भी सह लेते हैं। धड़ल्ले से मन्दिरों में सत्याग्रह हो रहा है।[67] 'सेवा' शीर्षक कविता में लिखते हैं कि अगर जाति की कुछ भी सेवा नहीं की गयी और ऐसी बात जी में बनी जिसमें जाति हित का कुछ भी रंग न हो तो क्या बनी।[68] 'गौरवगान' शीर्षक कविता में स्वामी दयानन्द की प्रशंसा इसलिये करते हैं कि उन्होंने हमारे ह्रदय में जातीय भाव सजग करके जगाया और देशप्रेम के महामंत्र से मुग्ध बनाया। इसी कविता में

हरिऔध ने मन्दिरों के ध्वंस पर अपनी पीडा व्यक्त की है कि मन्दिर धूल में मिलते है, देवमूर्ति टूटती है और भारत जननी अपनी छाती कलप — कलपकर कूटती है, परन्तु हिन्दू जाग — जागकर आज भी नहीं जागे।[69] 'प्रेम' शीर्षक कविता में लिखते हैं कि बहुत सी जातियों की बहुत सी सभायें बलायें बन गयी हैं। अगर हमें हिन्दू नाम नहीं प्यारा है तो रसातल क्यों नहीं चले जायेंगे ? अन्त में कवि ने हिन्दुओं के जागने की कामना की है।[70] स्पष्ट है कि हरिऔध को हिन्दू धर्म के जातिगत भेद से काफी कष्ट था और इसे ही वे उनकी दुरावस्था का कारण मानते थे। इस सन्दर्भ में डॉ. कीर्तिलता को उद्‌धृत करना समीचीन है — "इस पूरी पुस्तक (पद्य प्रसून) में कवि का जाति प्रेम व्यक्त हुआ है, कहीं भी सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय कल्पना नहीं मिलती। कवि ने सामाजिक समस्याएं आदि भी हिन्दू जाति की ही उठाई हैं।"[71]

हरिऔध की कल्पलता जो कि उनके जीवन के आखिरी वर्षो में प्रकाशित हुई और साम्प्रदायिक दृष्टि से यह समय अति संवेदनशील भी था, में हिन्दू जातीयता का स्वर काफी प्रखर है। "सिद्धि साधना" कविता में लिखते है कि जाति की संख्या प्रतिदिन कम होती जा रही है, देव मन्दिर ढहाये जाते हैं और मूर्तियाँ टूटती हैं, पर्व और उत्सवों में अधिकतर बाधा होती है।[72] 'त्यागभूमि' कविता में लिखा है कि 'आर्य गौरव रवि गत तेज' है।[73] 'शिक्षा का उपयोग' शीर्षक कविता में शिक्षित युवकों में जातीय भावना के अभाव पर दुख प्रकट करते हुये लिखते हैं कि प्रतिदिन शिक्षित युवक वृन्द बढ़ता जाता है, पर उनमें हम जाति ममता कहाँ पाते हैं।[74] इसी प्रकार का क्षोभ 'मुरली की तान' शीर्षक कविता में प्रकट किया है कि जो हिन्दू बालक कहलाते हैं, वे हिन्दू कुल काल हैं। वे भारत ललना से लालित है परन्तु भारत के लाल नहीं हैं। उनका रोम — रोम देश प्रेममय है परन्तु वे जाति से प्यार नहीं रखते।[75] 'जीवन रणनाद' कविता में हिन्दुओं से आग्रह करते हैं कि उठकर आपनी धाक जमाओ।[76] ऐसा इसलिए था कि उनकी मनः स्थिति में अतीत का गौरव बसा हुआ था। जैसा कि "राजस्थान" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है कि वहाँ वीरता मूर्तिमन्त होकर भूतल का भार हरती थी, वहाँ धीरता धर्मधुरीण कंठ का हार थी। वीर सदा जाति हित बलिबेदी पर बलिदान होते थे, वहाँ बच्चों ने भी बलवानों के कान काटे थे और वीरबालायें रणभूमि में करवाल के समान चमकीं थीं।[77] स्पष्ट है कि अपनी समकालीन परिस्थितियों की साम्प्रदायिक स्थिति से वे रूबरू थे। यही कारण है कि उनकी कविताओं का स्वर जातीय आग्रह से युक्त है।

इस समय के साम्प्रदायिक अलगाव के लिये जिम्मेदार एक प्रमुख कारण गोरक्षा आन्दोलन भी था। हरिऔध ने इस पर भी लिखा है कि गोधन विध्वंस हो रहा है और कुल लाल दूध के लिये तरसते हैं।[78] इसी तरह वे उच्चस्थ हिन्दुओं की आलोचना करते हैं कि जो हिन्दू कुल कलश कहलाते हैं, सूझ उनकी बहुत आला है, परन्तु हिन्दू उर अन्तर की ज्वाला वे देख नहीं सकते। हिन्दुओं की नीची गरदन उनको पुलकित करती है। वे देश बन्धुता के प्रेमी और समता के दीवाने हैं, किन्तु जाति प्रेम के पैमाने वे तपाक से तोड़ते हैं।[79] इसीलिये वे 'विजया' शीर्षक कविता में यह कामना करते हैं कि — जाति हित में शिथिल जन की / है शिथिलता हरे विजयदशमी।[80] "होली" शीर्षक कविता में हरिऔध ने जातीयता की दीवारें ढह जाने पर क्षोभ व्यक्त करते हुए नवशिक्षितों में पुनः जातीयता को जगाने का आग्रह किया है। कवि के विचार से जाति ही अपनी जाति का भला कर सकती है। जाति अपने कीर्ति चिह्नों को मिटाकर नहीं जी सकती।[81] इसीलिये 'होलिकादहन' में वे कामना करते हैं — "रंगों रंग में उमंग अबीर गुलाल लगाओ/किन्तु अधिक जातीय रंगतों की दिखलाओ।"[82] इसके अतिरिक्त इस संग्रह की अन्य कवितायें 'कमनीय कामना' "होली के हथकंडे", "होली के स्वाँग" आदि में कवि का हिन्दू जाति एवं धर्म के प्रति प्रेम मुखरित हुआ है।

हरिऔध साहित्य के इस सर्वेक्षण द्वारा मैंने उनके साहित्य में आये हिन्दू जातीय स्वर को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में डा० कीर्ति लता का विचार है — "हिन्दू जातीयता का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले कवियों में मैथिलीशरण गुप्त एवं हरिऔध प्रधान हैं। मैथिलीशरण गुप्त के दृष्टिकोण में कुछ कालोपरान्त परिवर्तन होता है और वे हिन्दू — मुस्लिम एकता और राष्ट्रीयता के दृढ़ समर्थक हो जाते हैं। हरिऔध की हिन्दू भावना में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्हें उन हिन्दुओं से भी सहानुभूति नहीं जो देशबन्धुता के रंग में रंगे हुये हैं और जिनमें जातीयता का अभाव है।"[83] यद्यपि कि हरिऔध का साहित्य जातीय अग्रह से भरा पड़ा है किन्तु उन्होंने स्पष्ट प्रतीक शब्दों एवं मिथकों के प्रयोग से बचने की कोशिश की है जैसा कि बाद में तमाम परवर्ती साहित्यकारों ने किया है, लेकिन जीवन क अन्तिम समय तक उनके विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

प्रेमचन्द के साहित्य में उनके युग के साम्प्रदायिक वातावरण का जीवन्त चित्रण मिलता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि प्रेमचन्द के समय में राष्ट्रीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष महाकार ले चुका था। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रखर रूप से व्याप्त हिन्दू एवं मुसलमानों के मध्य साम्प्रदायिक भावना के आधार, उसके प्रतिफल तथा उससे छुटकारा पाने के लिये अपने सांकेतिक सुझाव के साथ साम्प्रदायिकता की समस्या को स्थान–स्थान पर उठाया है। प्रेमचन्द जैसे सजग एवं संवेदनशील रचनाकार के लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उन जैसा सजग रचनाकार अपने परिवेश के प्रति तटस्थ रह ही नहीं सकता था।

प्रेमचन्द हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उनकी रचनाओं में हिन्दू मुसलमानों के विषय में विस्तार के साथ लिखा गया है, इसलिये उनका साहित्य हिन्दू एवं मुसलमान दोंनो के बीच समान रूप से लोकप्रिय है। अपने साहित्य में उन्होंने न केवल हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों को बारीकी से उजागर किया है बल्कि पारस्परिक वैमनस्य और तनाव के समाधान के संकेत भी दिये हैं।

प्रेमचन्द को हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति की गहरी पहचान थी, दोनों संस्कृतियों के सम्बन्धों में निकटता को वे इस प्रकार विश्लेषित करते हैं – "हिन्दू मूर्तिपूजक हैं तो मुसलमान कब्रपूजक और स्थानपूजक नहीं हैं, ताजिये का शर्बत और सीरीनी कौन चढ़ाता है, मस्जिद को खुदा का घर कौन समझता है ? अगर मुसलमानों में एक सम्प्रदाय ऐसा है जो बड़े–बड़े पैगम्बर के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है तो हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय ऐसा है जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्म ग्रंथों को गपोड़े समझता है। यहाँ तक तो हमे दोनों संस्कृतियों में अन्तर नहीं दीखता है।"[84]

हिन्दू–मुस्लिम एकता का सवाल राष्ट्रीय एकता का सवाल था। प्रेमचन्द दोनों सम्प्रदायों की मनोवृत्तियों से भलीभाँति परिचित थे। वे उदारवादी हिन्दू थे। अपनी स्वतंत्रता के साथ दूसरे को भी स्वतन्त्र देखना चाहते थे। वे हिन्दू समुदाय के अन्धविश्वासों एवं रूढ़ि के कट्टर आलोचक थे। चूँकि हिन्दू सम्प्रदाय बहुल था और वे स्वयं हिन्दू थे, इसलिये वे सम्प्रदायगत सम्बन्धों को सुधारने में हिन्दुओं को अधिक सक्रियता से जूझते देखना चाहते थे।[85]

[illegible] के आपसी विवाद के कारण हिन्दू और मुसलमानों में आपस में कटुता की भावना उत्पन्न हो गया थी, परन्तु प्रेमचन्द इस कटुता को प्रोत्साहन देने के समर्थक नहीं थे। इस कटुता का विरोध करते हुये प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों एवं कहानियों में एक ओर विवशतावश इस्लाम अपनाने वाले हिन्दूओं को पुनः हिन्दू धर्म की ओर अग्रसर होते दिखाया है तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म के प्रचारक हिन्दू धर्म में निष्ठा रखने वालों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक द्वेष और दंगों के प्रश्न पर मुक्तभाव से विचार किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन की सफलता के लिये जहाँ और चीजें महत्वपूर्ण थीं, वहीं राष्ट्रीय एकता एक आधारभूत आवश्यकता थी। प्रेमचन्द ने इस बात को अच्छी तरह पहचाना था।

जब देश के किसी हिस्से से राष्ट्रीय एकता और धार्मिक उदारता की आवाज प्रेमचन्द को सुनायी देती थी, तो वह बड़े उत्साह से उसका स्वागत करते थे और अपनी कलम से उसका प्रसार करते थे। बम्बई मुस्लिम स्टूडेन्ट्स यूनियन में बम्बई सरकार के अर्थ सचिव सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्लाह द्वारा दिये व्याख्यान — ''बात–बात में अपने समुदाय के विशेष अधिकारों की हाँक लगाना अपमानजनक है। हमे सिर्फ योग्यता के बल पर आगे बढ़ना चाहिये''[86] पर प्रेमचन्द प्रसन्न होते हैं और टिप्पणी करते हैं कि इस साम्प्रदायिक होहल्ले के युग में यह भाषण चारो तरफ फैले हुये अंधकार में एक दीपक के समान है।[87]

हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रश्न पर प्रेमचन्द को किसी प्रकार का भ्रम नहीं था। जिन्दगी के हर पहलू में पारस्परिक एकता होते हुये भी उनमें कुछ विशिष्टता है जो उन्हें दूसरों से अलग करती है। वे घोषणा करते हैं — ''हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होगें, न होने चाहिये। दोनों की अलग–अलग सूरतें बनी रहनी चाहिये और बनी रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि उनके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो।''[88] साम्प्रदायिकता की समस्या पर प्रेमचन्द का विश्वास है कि जब तक हम अपने इतिहास, सभ्यता व संस्कृति और ऐसे ही दूसरे ढकोसलों पर राष्ट्र के आधारभूत सिद्धान्तों को होम करते रहेगें, उस पल तक यों ही फसाद होते रहेंगे। जब तक आरती और नमाज़, गोरक्षा और कुर्बानी एवं बाजे के मसलों पर जनता में उत्तेजना फैलाना असंभव नहीं हो जायेगा, उस वक्त तक यह मेलजोल का मसला हल नहीं होगा।[89] यह लक्ष्य तब प्राप्त होगा जब हिन्दू–मुस्लिम

मैत्री को सिर्फ राजनीतिक आवश्यकता न समझकर मनुष्य के आचरण और विचारण का अंश बना दिया जायेगा। इसी में राष्ट्र और देश का भविष्य सुरक्षित है।[90]

प्रेमचन्द ने साहित्य को साम्प्रदायिकता जैसे प्रश्न के समाधान का साधन माना। उसको बढ़ावा देने वाले साहित्य के वे विरोधी थे। चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखे गये 'इस्लाम का विषवृक्ष' का विरोध करते हुये उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा था – "इस चतुरसेन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विषवृक्ष' लिख डाला। इसकी आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्यूनल प्रोपेगण्डा का जोरों से मुकाबला करना होगा।"[91] उन्होंने बनारसी दास जी को भी इस सम्बन्ध में लिखा – "यह साम्प्रदायिकता फैलाने की एक बेहद शरारतभरी और नीच कोशिश है और उसका पर्दाफाश करना होगा।"[92] यही नहीं उन्होंने 24 जुलाई 1932 को जागरण में 'इस्लाम का विषवृक्ष' शीर्षक से लेख लिखकर चतुरसेन शास्त्री की साहित्य मण्डल दिल्ली से प्रकाशित इस पुस्तक का घोर विरोध किया था।[93] उन्होंने माधुरी 1 जनवरी, 1925 में 'कर्बला' और 'जमाना' लेख लिखकर साहित्य को साम्प्रदायिकता के पोषक रूप में न देखकर उसे इस प्रश्न के सुधारक के रूप में देखा।[94]

प्रेमचन्द ने पत्रकार की हैसियत से हिन्दू–मुस्लिम एकता सम्बन्धी प्रस्तावों का समय–समय पर सहर्ष स्वागत किया है। उनके अनेक लेखों में इस तरह की भावना के दर्शन होते हैं।[95] उनके लेखों के माध्यम से साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने, सहिष्णुता और एकता को बनाये रखने एवं, आपस में दोनों सम्प्रदायों के सद्भावी बनने पर बल दिया गया है।[96] साम्प्रदायिकता का सबसे बड़ा हल मानवता के पुजारी प्रेमचन्द हीरालाल के शब्दों में खोजते हैं। उनका कहना है – यहाँ तो मानवता के पुजारी हैं, चाहे इस्लाम कहो या हिन्दू धर्म में, या बौद्ध में या ईसाई मत में, अन्यथा मै विधर्मी ही भला। मुझे किसी मनुष्य से इसलिये तो द्वेष नहीं कि वह मेरा सहधर्मी नहीं है।[97] व्यक्तिगत जीवन में प्रेमचन्द हिन्दू–मुसलमान में भेद नहीं मानते थे। उन्होंने एक बार अपनी पत्नी से कहा था – "मैं एक इन्सान हूँ और जो इन्सानियत रखता हो, इन्सान का काम करता हो, मैं वही हूँ और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिन्दू हैं, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान नहीं हैं और इन दोनों में मेरे नजदीक कोई खास फर्क नहीं है, मेरे लिये दोनों बराबर हैं।"[98]

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक आन्दोलनों के साथ साम्प्रदायिकता पर मुख्य रूप से विचार अपने उपन्यास 'कायाकल्प' तथा कहानी 'मन्दिर और

मस्ज़िद'' में किया है।[99] इनके अलावा उनके साहित्य में जहाँ साम्प्रदायिकता का उल्लेख हुआ है, उनमें उपन्यासों में कर्मभूमि और कहानियों में 'हिंसा परमोधर्मः' तथा 'मन्त्र' हैं। अपने लेखन कर्म में न केवल तत्कालीन साम्प्रदायिक स्थिति का चित्रण कर रहे थे बल्कि साम्प्रदायिक तनावों को कम करने की कोशिश भी कर रहे थे। इसीलिए वे धर्म की थोथी मान्यताओं की आलोचना कर रहे थे – ''लोग इतने उत्साह से त्रिवेणी के संकरे घाट की ओर गिरते पड़ते लपके चले जाते थे कि यदि जल की शीतल धारा की जगह अग्नि का जलता कुण्ड होता तो भी लोग उसमें कूदते हुये जरा भी न झिझकते। कितने आदमी कुचल गये, कितने डूब गये, कितने खो गये, कितने अपंग हो गये, इसका अनुमान करना कठिन था, धर्म का विकट संग्राम था।''[100]

सच्चे धर्म का अर्थ समझाते हुये कायाकल्प में लिखते हैं – ''जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ नहीं समझेगें, हमारी यही दशा रहेगी, मुश्किल यह है कि जिन महापुरुषों से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से बढ़कर उदण्ड हो जाते हैं। मै तो नीति को ही धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक सी है, अगर अन्तर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिये। ये मानव जाति के निर्माता हैं, जो इनमें से किसी का अनादर करता है या उसकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचयदेता है। बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिये कि वह कैसा आदमी है न कि यह कि किस धर्म का आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा और अगर संसार में जीवित रहना है तो अपने हृदय में इन्हीं भावों का संचार करना पड़ेगा।''[101]

तत्कालीन साम्प्रदायिक दंगो की बहुलता के कारण प्रेमचन्द ने व्यापक रूप से अपनी रचनाओं में इस समस्या को उठाया है। 1916 की लखनऊ कांग्रेस में स्थापित हिन्दू–मुस्लिम हृदयग्राही एकता 1922 तक आते–आते अतीत की स्मृति बन गयी थी। 1921 में अंग्रेजी षडयंत्र का दुष्परिणाम मालाबार में मोपला मुसलमानों के विद्रोह के रूप में प्रस्फुटित हुआ। जिसका संकेत प्रेमचन्द की कहानी 'मंत्र' में किया गया है। इस कहानी के लीलाधर चौबे हिन्दू महासभा द्वारा हिन्दू–मुस्लिम दंगे के सन्दर्भ में मद्रास भेजे जाते हैं।[102]

इस विद्रोह ने साम्प्रदायिक दंगों की एक लम्बी श्रृंखला को जन्म दिया तो दूसरी ओर आर्य समाजियों का शुद्धि आन्दोलन प्रखरतर होता जा रहा था। प्रेमचन्द इन स्थितियों के प्रति सजग थे। 22 अप्रैल 1923 को मुंशी दया नारायण निगम के नाम लिखे गये पत्र में इस शुद्धि आन्दोलन का विरोध करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा था – "मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर मज़मून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ (विरोध) है। तीन–चार दिन में भेज सकूँगा। आर्य समाज वाले भिन्नायेंगें, लेकिन उम्मीद है आप जमाना में इस मजमून को जगह देगें।"[103] यह मजमून जमाना के 25 फरवरी 1924 के अंक में प्रकाशित हुआ था। जिसमें प्रेमचन्द ने लिखा था – "हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओं में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू संगठन और शुद्धि की इतनी गर्मबाजारी न होती और इन हंगामों में कमी हो जाती, जो इस वैमनस्य के कारण दिखायी पड़ते हैं।"[104] इसी लेख में प्रेमचन्द ने कहा कि हिन्दुओं द्वारा दस–पाँच हजार मलकानों की शुद्धि से उनकी प्रसन्नता व्यर्थ है। हिन्दुओं में राजनीतिक सहिष्णुता की आवश्यकता है।[105]

कायाकल्प उपन्यास में आगरे के प्रथम दंगे का मूल कारण भावना रूप में शुद्धि आन्दोलन और व्यवहार में इसके विरोध में मुसलमानों द्वारा गो हत्या की योजना है। आगरा शहर में गाय की कुर्बानी पर फिसाद हो जाता है। इसके पीछे कौन लोग हैं, प्रेमचन्द ने उन पर प्रकाश डाला है। आगरा हिन्दू सभा के मंत्री एवं सेवा समिति के सदस्य यशोदान्दन जब बनारस से आगरा आते हैं, तो एक थानेदार उनका असबाब देखना शुरू करता है। इस पर यशोदानन्दन आश्चर्यपूर्वक पूछते हैं – 'क्यों साहब आज यह सख्ती क्यों है ? थानेदार – "आप लोगों ने जो काँटे बोये हैं, उन्ही का फल है। शहर में फिसाद हो गया है।"[106] दूसरी ओर ख्वाजा महमूद (उपन्यास का पात्र) जिसे हिन्दू फरिश्ता सा आदर करते थे, जो हिन्दू–मुसलमान दोनों के सेवा समिति के सदस्य थे, मौलवी दीन मुहम्मद साहब की तकरीर से इतने भावावेश में आ जाते हैं कि कुर्बानी के प्रश्न को लेकर होने वाले दंगे–फिसाद की बागडोर अपने हाथ में ले लेते हैं। यशोदानन्दन इस प्रकार के कायापलट पर कहता है – "अगर महमूद में सचमुच यह कायापलट हो गयी है, तो मैं यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पेदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं है।"[107]

मौलवी दीन मुहम्मद के व्याख्यानों से प्रभावित होकर ख्वाजा महमूद कुर्बानी के पक्ष में दलील देता है – "कुर्बानी करना हमारा हक है। अब तक हम आपके जजबात का लिहाज करते थे, अपने माने हुये हक भूल गये थे, लेकिन

जब आप लोग अपने हकों के सामने हमारे जज़बात की परवाह नहीं करते तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके जज़बात की परवाह करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है, लेकिन कम से कम पाँच सौ बरसों में आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुर्दा हक को जिन्दा किया है इसीलिये न कि मुसलमानों की ताकत और असर कम हो जाय।'[108] दूसरी बार के दंगे का कारण होली के दिन एक मियाँ के वस्त्रों पर रंग के छींटे पड़ जाना है। होली के दिन मियाँ जी के कपड़े पर दो—चार छींटे पड़ गये।[109] फिर क्या था ? उन्होंने मस्जिद में आकर बाँग दी और मुसलमानों ने जब ललकार सुनी उनकी त्यौरियाँ बदल गयीं। दीन का जोश सिर पर सवार हो गया। शाम होते—होते दस हजार आदमी सिरों से कफन लपेटे, तलवारें लिये जामे मस्जिद के सामने आकर दीन के खून का बदला लेने के लिये जमा हो गये।[110] उधर हिन्दू समुदाय में भी पिचकारी छोड़ लोगों ने लाठियाँ सँभाली।[111]

'मंदिर और मस्जिद' कहानी के साम्प्रदायिक दंगे का कारण मुसलमानों द्वारा ठाकुरद्वारे पर आक्रमण है। आधीरात को ठाकुरद्वारे में कृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। सहसा मुसलमानों का एक दल लाठियाँ लिये हुये आ पहुँचा और मंदिर पर पत्थर बरसाना शुरु किया।[112] 'हिंसा परमोधर्मः' कहानी के साम्प्रदायिक दंगे की संभावना का कारण एक मुसलमान की मुर्गी का एक ब्राह्मण के घर में घुस जाना है।[113] इस कहानी में दिखाया गया है कि हिन्दू जामिद को शुद्ध करते हैं। एक ब्राहमण द्वारा मुसलमान को पीटे जाने से बचाने के अपराध में वह हिन्दुओं का कोपभाजन बनता है और फिर एक हिन्दू स्त्री की मुसलमान गुण्डों से रक्षा करने के कारण वह मुसलमानों का शत्रु बनता है।

प्रेमचन्द के साहित्य में उन स्थितियों की ओर भी संकेत किया गया है जिनके कारण साम्प्रदायिक दंगे भड़कते थे। साथ ही उन्हें लोगों की मनोवृत्तियों की अच्छी पहचान थी। शुद्धि गोहत्या, मंदिर या मस्जिद पर आक्रमण, दो सम्प्रदाय के लोगों के व्यक्तिगत झगड़े, लेन — देन आदि कुछ भी इसकी पृष्ठभूमि में हो सकता था। एक स्थायी कारण की ओर संकेत करते हुये चक्रधर (कायाकल्प का एक पात्र) कहता है — "लोगों का यह ख्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज करने का स्वप्न देख रहे हैं, बिल्कुल गलत है। मुसलमानों को केवल शंका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना बैर चुकाना चाहते हैं और उनकी हस्ती मिटा देने की फिक्र कर रहे हैं। इसी कारण वह जरा — जरा सी बात पर तिनक उठते हैं और मरने — मारने पर आमादा हो

जाते हैं।"[114] ख्वाजा महमूद मुसलमानों की ताकत और असर के कम हो जाने की आशंका से ग्रस्त हैं।[115] 'कर्मभूमि" के जिला हाकिम मि. गजनवी को स्वराज मिल जाने से मुसलमानों की दशा खराब हो जाने का भय है। उनके अनुसार मुझे अगर स्वराज्य से खौफ है तो यह कि मुसलमान की हालत कहीं और खराब न हो जाय। गलत – गलत तवारीखें पढ़ – पढ़ कर दोनों फिरके एक – दूसरे के दुश्मन हो गये हैं और मुमकिन नहीं कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानों से पुरानी अदावतों का बदला न लें।[116]

प्रेमचन्द अपने लेखन के माध्यम से उन परिस्थितियों को भी उद्‌घाटित करते है, जिससे साम्प्रदायिक उन्माद फैलता है। 'कायाकल्प' के पच्चीसवें परिच्छेद में प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक दंगा – फिसादों के कारणों, उसके स्वरूप और परिणामों को भलीभाँति दर्शाया है। प्रेमचन्द लिखते हैं – "हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती थीं। जरा – जरा सी बात पर दोनों दलों के सिरफिरे जमा हो जाते थे, दो – चार अंग भंग हो जाते थे। कहीं बनिये ने डंडी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दुकान पर धावा बोल दिया। कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया, इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लुट गये। दूसरे मुहल्लों में कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुये, क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था एक सईद का। दानों ही दल मज़हब के नशे में चूर थे। .... हिन्दुओं ने महावीर दल बनाया, मुसलमानों ने अली गोल सजाया .... ख्वाजा साहब ने फतवा दिया जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सबाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदान से श्रेष्ठ है।"[117]

प्रेमचन्द इसी उपन्यास में साम्प्रदायिक हिंसा की क्रूरता का चित्रण कुछ इस प्रकार करते हैं – "हिन्दू मुहल्लों के द्वार बन्द हो गये, बेचारे कोठरियों में बैठ जान की खैर मना रहे थे कि यह संकट हटे। रास्ते में जो हिन्दू मिला वह पिटा, घर लुटने लगे, हाय – हाय का शोर मच गया, दीन के नाम पर ऐसे – ऐसे कर्म होने लगे जिन पर पशुओं को भी लज्जा आती है, पिशाचों के रोयें खड़े हो जाते हैं। लेकिन बाबू यशोदानन्दन के मरने की खबर पाते ही सेवादल के युवकों का खून खौल उठा। सेवादल के दो सौ युवक तलवारें लेकर निकल पड़े और मुसलमान मुहल्ले में घुसे। दो – चार पिस्तौल और बन्दूकें भी खोज निकाली गयीं। हिन्दू मुहल्ले में जो कुछ मुसलमान कर

रहे थे, मुसलमान मुहल्ले में वहीं हिन्दू करने लगे। अहिंसा ने हिंसा के आगे सिर झुका दिया। वे ही सेवा व्रतधारी युवक जो दीनों पर जान देते थे, अनाथों को गले लगाते थे और रोगियों की सुश्रुषा करते थे, इस समय निर्दयता के पुतले बने हुये थे। पाशविक वृत्तियों ने कोमल वृत्तियों का संहार कर दिया था। उन्हें न दीनों पर दया आती थी न अनाथों पर, हँस — हँसकर भाले और छुरे चलाते थे, मानो लड़के गुड़िया पीट रहे हों। उचित तो यह था कि दोनों दलों के योद्धा आमने — सामने खड़े हो जाते और खूब दिलों के अरमान निकालते, लेकिन कायरों की वीरता और वीरों की वीरता में बड़ा अन्तर है।"[118]

एक दूसरे सम्प्रदाय के प्रति शंका और स्थायी भय समय पाकर धीरे —धीरे साम्प्रदायिक विप्लव का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रेमचन्द साहित्य में इन कारणों के आधार पर प्रारम्भ में हुये दंगों की सूचना मिलती है। अंग्रेज प्रशासक चाहते थे कि भारतवर्ष में साम्प्रदायिक दंगे होते रहें। प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में लिखते हैं — "हिन्दू मुस्लिम एकता हुक्काम की नजरों में काँटे की तरह खटकती थी। इसीलिये जब धनी — मानी लोग किसी ऐसे आन्दोलन का उत्साह के साथ स्वागत करें, जिससे एकता को नुकसान पहुँचने का यकीन है तो जाहिर है कि उनका उसमें शरीक होना उनके मन की बात नहीं, बल्कि किसी की प्रेरणा से होने वाली बात है।"[119] उन्होंने दोनों सम्प्रदायों में ऐसे व्यक्ति पैदा कर दिये थे कि जो अपने स्वार्थ के लिए एक दूसरे सम्प्रदाय को भिड़ाना चाहते थे। ऐसी मनोवृत्ति का परिचय प्रेमचन्द 'सेवा सदन" में तेग अली के माध्यम से करवाते हैं — "आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है, हर ओर इन्साफ का नाम न लीजिये। अगर आप मुदर्रिस हैं तो हिन्दू लड़कों को फेल कीजिये।तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइये, मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं का सजा दीजिये। सब इन्सपेक्टर पुलिस हैं तो हिन्दुओं पर झूठे मुकदमें दायर कीजिये। तहकीकात करने जाइये तो हिन्दुओं के बयान गलत लिखिये, अगर आप चोर हैं तो किसी हिन्दू के घर में डाका डालिये, अगर आपको हुश्न और इश्क का खब्त है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उड़ाइये। तब आप कौम के खादिम, कौम के मुहासिन, कौमी किश्ती के नाखुदा, सब कुछ हैं।"[120]

इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले सामाजिक जीवन के सभी महत्वपूर्ण हिस्सों को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये अपने हित में ढालने की कोशिश करते हैं। प्रेमचन्द ने इसे 'सेवासदन' के तेग अली के माध्यम से बड़े तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है — "इस वक्त उर्दू — हिन्दी का झगड़ा, गोकशी का मसला, जुआखाना, इन्तखाब, खुद का मुआविजा कानून, इन सबों से मज़हबी तास्सुब

के भडकाने में मदद ली जा रही है।"[121] प्रेमचन्द यह भी जानते थे कि दोनों वर्गो में ऐसे लोग हैं जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सम्प्रदायवाद को जीवित रखना चाहते हैं। कायाकल्प के अन्तर्गत ऐसे लोगों का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। ख्वाजा महमूद के शब्दों में वे कहते हैं – "दोनों कौमों में कुछ लोग हैं जिनकी इज्जत और जब्त दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक न एक शिगूफा छोड़ा करते हैं।"[122] प्रेमचन्द यह मानते थे कि लोग अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिकता का आधार लेते हैं।[123]

प्रेमचन्द चिन्तित थे कि साम्प्रदायिक समस्या राजनीति को उलझाती जा रही थी। विभिन्न स्थानों पर हुये दंगों ने दोनों वर्गों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया था और वे राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने लगे थे। भारतीय एकता के विरोधी कभी यह कहते नहीं थकते कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसे मुस्लिम जनता अब समझने लगी है, वह यह कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाती रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा .... हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिश की गयी, यहाँ तक कि आज भी सर तेज बहादुर सप्रू सर्वदल सम्मेलन कराने में लगे हैं। मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला ? समझौता न हुआ .... । हिन्दुस्तान यदि इतने दिनों की गुलामी से कुछ सीख सका है तो वह यह है कि समाज के किसी अंग को असंतुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया में उन्नति नहीं कर सकता .... महात्मा गाँधी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहें ले लें, इसमें हिस्से का सवाल नहीं है। स्वराज्य के अधीन राज पद धन कमाने का साधन नहीं प्रजा की सेवा का साधन होगा।[124]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगन के उपरान्त देश में व्याप्त राजनैतिक अनिश्चितता में विद्यमान साम्प्रदायिक कलह की प्रवृत्तियों की ओर इंगित करते हुये प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं – "एक तरफ कांग्रेस गोलमेज की शर्तों पर विचार कर रही थी, दूसरी ओर काशी में विद्रोह की आग दहक रही थी और ठीक उस समय कांग्रेस समझौते की स्वीकृति पर अपना फैसला सुनाने जा रही थी। कानपुर में भीषण हत्याकाण्ड आरम्भ हो गया था .... एक मास के अन्दर काशी, मिर्जापुर, आगरा, कानपुर आदि स्थानों में जातिगत वैमनस्य का इतना भयंकर रूप धारण कर लेना अगर हमें कोई शिक्षा देता है तो वह यह कि मुस्लिम भाइयों को साथ न ले चलने की हमने भूल की। यह

सत्य है कि हमने उनकी सहायता के लिए सदैव हाथ फैलाये रखा, सदैव उनकी सहानुभूति की याचना करते रहे, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि बगैर आपस मे समझौता किये हुये सत्याग्रह आन्दोलन का सूत्रपात कर देना हमारे मुस्लिम भाइयों को अप्रिय ही न लगा उसने कुछ सन्देह ही उत्पन्न किया। शायद आन्दोलन की सफलता ने उन्हें भयभीत कर दिया।"[125]

अन्य ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर बिपनचन्द्र भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। 1934 तक मुसलमानों के मन मस्तिष्क पर हिन्दूओं का लगभग पूर्णरूपेण कब्जा हो चुका था। विजेता हिन्दुओं के दल असंगठित, भ्रमित और हतोत्साहित मुसलमानों के दलों को हिन्दुत्व के घेरे में समेटने लगे थे।[126] इसी सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने पुनः लिखा है – "हमारे भाइयों में अब भी एक ऐसा शक्तिशाली समूह है जो स्वराज से डरता है। उसे भय है कि स्वराज में हिन्दू बहुमत उसे पीस डालेगा। इस समय हमारी सारी कोशिश अपने मुस्लिम भाइयों की सहानुभूति प्राप्त करने, उनके दिलों में शंका और अविश्वास को मिटाने में लगनी चाहिये। यही हमारे राजनीतिक उद्धार की कुंजी है।"[127]

गोजमेज सम्मेलन में मुस्लिम प्रतिनिधियों की हठधर्मिता के चलते समझौते के सारे प्रयास असफल हो गये। मुस्लिमों की इस नीति से दुखी प्रेमचन्द ने 1931 में 'गोलमेज परिषद में गोलमाल" शीर्षक से लिखा – "महात्मा जी को यदि मालूम होता कि मुस्लिम मेंबर वहाँ अड़ँगा लगायेंगे तो वह जाते ही क्यों ? हिन्दू बहुमत में हैं। किसी हिकमत से भी उनकी संख्या घटाई नहीं जा सकती। उधर मुसलमान कोई ऐसी व्यवस्था मंजूर नहीं करेंगे, जिससे बहुमत से किसी हानि की संभावना हो। इसलिये भारत को जन्म –जन्मान्तर तक इसी पराधीनता की दशा में रहना होगा। उनकी रक्षा के लिये भारत पर अंग्रेजों का शासन अनिवार्य है .... तो क्या हिन्दू उस वक्त तक चुपचाप बैठे रहें, जब तक उनका बहुमत घटते–घटते अल्पमत न हो जाय .... गोलमेज के मुस्लिम प्रतिनिधियों को हिन्दूओं पर विश्वास नहीं है, अंग्रेजों पर विश्वास है, जिनसे उनका चोली – दामन का साथ है, जिनके साथ उनका भाई चारा है, उन पर उन्हें विश्वास नहीं है।"[128] नवम्बर 1931 में प्रेमचन्द को विश्वास हो चला था कि – "जरूरत यह है जैसा हम पहले कह चुके हैं कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल दें और देशकाल का भलीभाँति विचार करके अपनी धारणायें स्थिर करें, तब हम देखेंगे कि जिन्हें हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव में दलितों का उद्धार किया है, हमारे जातिपाँत के कठोर बन्धनों को सरल किया है और हमारी सभ्यता के विकास में सहायक सिद्ध हुये हैं।"[129]

ब्रिटिश सरकार की साम्प्रदायिक नीति का पर्दाफाश करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा – "साम्प्रदायिक भेदनीति आपत्ति जनक है। गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती हम अपने व्यवहार से ऐसा समझने का अवसर नहीं देते .... हमें यह दिखाना है कि तुम चाहे हमें कितने टुकड़ों में बाँटो हम परवाह नहीं करते हम एक राष्ट्र हैं।[130] इसी तरह भारत सरकार के गृह विभाग ने सरकारी नौकरियों के बँटवारे के सम्बन्ध में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, उसमें उसकी नीयत का ठीक – ठाक पता लग जाता है। साम्प्रदायिकता के नाम पर मुसलमानों के लिये 25 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। हमारी समझ में इसका आशय यही है कि सरकार हमारी राष्ट्रीय प्रगति को कुचलने का प्रयत्न कर रही है।[131]

प्रेमचन्द के रचना कर्म में साम्प्रदायिकता केवल एक समस्या बनकर नहीं रह गयी है बल्कि उसके निवारण के कई सुझाव अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किये हैं। कायाकल्प में प्रथम बार चक्रधर अपनी जान पर खेलकर दंगा बचा लेता है। कुर्बानी के प्रश्न पर चक्रधर कहता है – "हर एक कुर्बानी हिन्दुस्तान के 21 करोड़ हिन्दुओं के दिलों को जख्मी कर देती है। और इतनी तादात में दिलों को दुखाती है कि बड़ी से बड़ी कौम के लिए भी एक दिन पछतावे का विषय हो सकता है। हिन्दुओं से ज्यादा धीर कौम दुनिया में नहीं है, लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिये कुर्बानी चाहते हैं, तो उनको सदमा जरूर होता है और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप ख्याल नही कर सकते। अगर आपको यकीन न आये, देख लीजिये कि इस गाय के साथ एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे सकता है।[132] चक्रधर का आत्म त्याग सारा मामला शान्त कर देता है।

प्रेमचन्द ने गाय की रक्षा इसलिये नहीं कराई कि उन्हें गाय से प्रेम था या वे गाय के भक्त थे अथवा वे हिन्दुओं के पक्षपाती थे। आत्म त्याग को वे समस्या के समाधान का एक साधन मानते थे। गाँधी की धारणा थी कि एक गाय की रक्षा के लिये किसी मनुष्य की हत्या हिन्दूपन नहीं है।[133] प्रेमचन्द का चक्रधर भी यही कहता है – "अहिंसा का नियम गायों के लिए ही नहीं मनुष्यों के लिए भी तो है।"[134] गाय के सम्बन्ध में गाँधी का कहना था कि हमें अपनी कमियों को दूर करना होगा क्योंकि हम गाय की पूजा करते हैं परन्तु बूढ़ा होने पर उन्हें कसाई को दे देते हैं। उनके बछड़ों को भूखा मारते हैं और गाय को भूखा मरने के लिए छोड़ देते हैं।[135] प्रेमचन्द का भी यही कहना था 'गोरक्षा के सारे होहल्ले के बावजूद हिन्दुओं ने गोरक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं

किया जिससे उनके दावे का व्यवहारिक प्रमाण मिल सके। गोरक्षिणी सभायें कायम करके धार्मिक झगडे पैदा करना गोरक्षा नहीं है। .... हम देखते हैं कि बैलों के लिए चारा मयस्सर नहीं तो गायों के लिए (जब बुड्ढी मरियल, कमजोर हो जाय) चारा इकट्ठा करने की दिक्कत किसी किसान से पूछिये। वह गायों को भूख से एड़ियाँ रगड़ – रगड़कर मरने के बदले उन्हें कसाई के हवाले कर देना ज्यादा अच्छा समझता है।[136] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गाँधी की भाँति गाय के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे के प्रबल विरोधी हैं।

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता के विरोध का महत्वपूर्ण सोपान 'धर्मान्धता के विरोध' को माना है। उन्होंने अपने लेखन में धार्मिक शिक्षा पर जोर देते हुये इसके लिये मध्ययुगीन इतिहास को स्वस्थ प्रगतिशील दृष्टि से लिखने पर बल दिया है। साम्राज्यवादियों ने भारतीय इतिहास को अपने स्वार्थमयी दृष्टिकोण से लिखा है। मध्ययुगीन लेखकों ने हिन्दू राजाओं एवं मुस्लिम बादशाहों के वर्णन में हिन्दू – मुसलमानों के आपसी वैमनस्य को बढ़ा चढ़ाकर लिखा है और आगामी पीढ़ियों के दिलों में द्वेष और धार्मिक कट्टरता की विषैली भावनायें भरने का प्रयत्न किया है। इस तरह का ज्वलन्त उदाहरण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'कर्मभूमि'' में स्पष्ट रूप से दर्शाया है। इसमें जिला हाकिम गजनवी तवारीख के सम्बन्ध में सलीम से कहता है – ''गलत तवारीखें पढ़ – पढ़कर दोनों फिरके एक दूसरे के दुश्मन हो गये हैं........ लेकिन इस ख्याल से तसल्ली होती है कि इस बीसवीं सदी में हिन्दुओं जैसी – पढ़ी लिखी जमात मजहबी गिरोह बन्दी की पनाह नहीं ले सकती। मजहब का दौर तो खत्म हो गया है। सिर्फ हिन्दुस्तान में उसमें कुछ – कुछ जान बाकी है। यह तो दौलत का जमाना है। .... अब कौम में अमीर और गरीब, जायदाद वाले और मरभुखे अपनी – अपनी जमायतें बनायेंग, उनमें कहीं ज्यादा खूँरेजी होगी। आखिर एक दो सदी के बाद दुनिया में एक सल्तनत हो जायेगी। सबका एक कानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहब शख्सी चीज होगी।''[137]

प्रेमचन्द साहित्य में धर्म व्यक्तिगत आस्था एवं विश्वास का विषय है। मंदिर और मस्जिद कहानी का दंगा मुसलमानों द्वारा मंदिर में आक्रमण से होता है। चौधरी इतर अली का राजपूत चपरासी मंदिर में चौधरी साहब के दामाद की हत्या कर देता है। इकलौते दामाद और जायदाद के वारिस शाहिद हुसैन की हत्या के बाद भी चौधरी साहब का मत है – ''मैं अगर खुद शैतान के वहकावे में आकर मंदिर में घुसता और देवता की तौहीन करता और तुम मुझे

पहचानकर भी कत्ल कर देते, तो मैं अपना खून माफ कर देता। किसी दीन घर की तौहीन करने से बड़ा और कोई गुनाह नहीं है।"[138] स्पष्ट है प्रेमचन्द किसी के धर्म की तौहीन पसन्द नहीं करते थे, चाहे वह हिन्दू का हो या मुसलमान का। चौधरी साहब भजनसिंह की रक्षा ही नहीं करते, मुकदमें में उसकी पैरवी करते हैं और उसे बचा लेते हैं। चौधरी की धारणा है – "मंदिर भी खुदा का घर है और मस्जिद भी। मुसलमान किसी मंदिर को नापाक करने के लिये जिस सजा के लायक है क्या हिन्दू मस्जिद को नापाक करने के लिये उसी सजा के लायक नहीं।"[139] साम्प्रदायकिता के सामाधान की ओर इससे अच्छा इशारा और क्या हो सकता है।

प्रेमचन्द राष्ट्रीय स्तर पर साम्प्रदायिक भेदभाव को मिटा देना चाहते थे। उन्होंने अक्टूबर 1931 के अंक में हंस में लिखा था – "धर्म का सम्बन्ध मनुष्य से और ईश्वर से है। उसके बीच में देश जाति और राष्ट्र किसी को भी दखल देने का अधिकार नहीं है। हम इस विषय में स्वाधीन हैं। हम मस्जिद में जायँ या मन्दिर में, हिन्दी पढ़े या उर्दू, धोती बाँधे या पाजामा पहनें हम स्वाधीन हैं, लेकिन धर्म के नाम पर राष्ट्र को भिन्न – भिन्न दलों में विभक्त करना, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को राष्ट्रीय मामलों में घसीट लाना, राष्ट्रीय भारत कभी गवारा नहीं करेगा .... मुट्ठी भर पढ़े लिखे आदमियों को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने हलवे – माड़े के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन संकटमय बनावें .... हाँ वह समय अब दूर नहीं जब भारत इस नकली आदर्श से विद्रोह करेगा और पृथकता के मकड़ी के से जाल को छिन्न – भिन्न कर देगा।"[140] प्रेमचन्द यह जानते थे कि राष्ट्र को परस्पर ईर्ष्या और द्वेष के घातक प्रभाव से बचाने के लिए केवल एक ही उपाय है – साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का शमन।[141]

इसके लिये प्रेमचन्द ने दोंनों सम्प्रदायों की समस्याओं के समाधान के लिये पंचायत का सुझाव दिया है। पंचायत व्यवस्था का थोड़ा सा जिक्र प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास "कायाकल्प" में किया है। इसमें आपसी झगड़ों तथा समस्याओं के निपटाने के लिये ख्वाजा महमूद और चक्रधर तय करते हैं – एक पंचायत बनायी जाय और आपस के झगड़े उसी के माध्यम से तय हुआ करें।[142]

हिन्दू – मुस्लिम एकता के बड़े ही मार्मिक चित्र प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध हैं। 'कर्मभूमि' उपन्यास में सलीम और लाला समरकान्त का साथ बैठकर भोजन करने का दृश्य हिन्दू – मुसलमानों के घायल हृदय पर मरहम – पट्टी का काम करता है – सेठजी सन्ध्या करके लौटे तो देखा, दो कम्बल

बिछे हुये हैं और दो थालियाँ रखी हुई हैं। सेठजी ने खुश होकर कहा कि यह तुमने बहुत अच्छा इंतजाम किया। सलीम ने हँसकर कहा — "मैंने सोचा आपका धर्म क्यों लूँ, नहीं एक ही कम्बल रखता, अगर यह ख्याल है तो तुम मेरे कम्बल पर आ जाओ। नहीं मैं ही आता हूँ। वह थाली उठा सलीम के कम्बल पर आ बैठे। अपने विचार से आज उन्होंने अपने जीवन का महान त्याग किया। सारी सम्पत्ति दान देकर भी उनका हृदय इतना गौरवान्वित न होगा। सलीम ने चुटकी ली — अब तो आप मुसलमान हो गये। सेठ जी बोले — मैं मुसलमान नहीं हुआ, तुम हिन्दू हो गये।"[143]

इस चयनात्मक सर्वेक्षण द्वारा मैंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक समस्याओं को अपने साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया लेकिन जिस हिन्दू–मुस्लिम एकता की भावना को प्रेमचन्द ने अपने साहित्य लेखन का महत्वपूर्ण विषय बनाया और मानवता को उच्च भावनाओं की जो निधि प्राप्त हुई उसे राष्ट्रवादी आन्दोलन के परवर्ती चरण में व्यवहार में नहीं लाया जा सका। प्रेमचन्द ने जिस हिन्दू–मुस्लिम एकता का सपना देखा था, वह उनके जीवन पर्यन्त तो पूर्ण नहीं हो सका और न आगे ही, बल्कि उस एकता की नींव गिरती हुई नजर आयी। लेकिन जब तक पेमचन्द साहित्य जीवित है वह साम्प्रदायिकता के समक्ष एक चुनौती है क्योंकि प्रेमचन्द ने न केवल इस समस्या को उठाया बल्कि इस महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न का धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक हल खोजने का प्रयत्न भी किया है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

जयशंकर प्रसाद (1890—1937) वाराणसी के प्रसिद्ध 'सुँघनी साहू' परिवार में आविर्भूत हुये थे। परिवार के सात्विक एवं धार्मिक संस्कारों का प्रसाद जी पर गंभीर प्रभाव पड़ा था। पिता के साथ कई धार्मिक एवं ऐतिहासिक तीर्थयात्राओं में भाग लेने के कारण भी उनका व्यक्तित्व उदार एवं संवेदनशील था। स्कूल की नियमित शिक्षा तो केवल आठवें दर्जे तक प्राप्त की थी, किन्तु स्वाध्याय द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति, दर्शन, साहित्य और पुराण कथाओं का बहुत गहरा अध्ययन किया जिनका उनके साहित्य — निर्माण में अप्रतिम योगदान था।

इनकी लेखकीय रुझान के सन्दर्भ में एक कथा प्रचलित है। अन्नप्राशन संस्कार के बाद उसी पूजा विधि में पुस्तक, बही, मसिपात्र, लेखनी तथा बच्चे के मन को लुभाने वाली अन्य बहुत सी सतरंगी वस्तुओं तथा खेलने योग्य लाल–पीली पदार्थवलियों के बीच शिशु प्रसाद को अपने मन की चीज चुन लेने के लिये छोड़ दिया गया। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब सबकुछ छोड़कर प्रसाद ने केवल लेखनी उठा ली।[144] बावजूद इसके जब प्रेमचन्द ने 1932 में हंस का आत्मकथांक निकाला, उसके लिये प्रसाद जी से भी आत्मकथा माँगी, प्रसाद जी पहले तो तैयार नहीं हुये, किन्तु जब प्रेमचन्द ने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने अपनी आत्मकथा के नाम पर एक कविता भेज दी, जिसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं – छोटे से जीवन की कैसी बड़ी कथाएँ आज कहूँ,/ क्या यह अच्छा नहीं की औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?/ सुनकर तुम क्या भला करोगे, मेरी भोली आत्मकथा ?/अभी समय भी नहीं थकी सोई है, मेरी मौन व्यथा।[145]

इससे स्पष्ट होता है कि उनका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी एवं आत्मप्रचार से दूर था। ऐसी स्थिति में उनके जीवन सन्दर्भ में कुछ कहना तथा रचनाओं के सन्दर्भ में समझ विकसित करना एक दुष्कर प्रयास होगा। फिर भी विषय सम्बन्धित जिस पहलू का विवेचन यहाँ अभीष्ट है, उसके लिये आवश्यक है कि प्रसाद की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि एवं वैचारिक मनः स्थिति की तलाश की जाय। 1901 ई0 में प्रसाद जी के पिता देवीं प्रसाद की मृत्यु हो गयी...... कुछ समय पश्चात माता का देहान्त हो गया..... माता की मृत्यु के लगभग दो वर्षो बाद शंभुरत्न जी (बड़े भाई) का देहान्त हो गया..... प्रसाद की अवस्था इस समय 17 वर्ष थी। केवल 5 – 6 वर्षों के भीतर ही तीन अवसान देखे पिता – माता और भाई। वे अकेले रह गये निःसहाय। ऐसे संघर्ष के क्षणों में भारतीय दर्शन ने प्रसाद जी को बड़ा सहारा दिया।[146] इससे स्पष्ट होता है कि उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों ने भी उनके वैचारिक सन्दर्भों को प्रभावित किया।

इसी सन्दर्भ में जब हम प्रसाद को उनके समकालीन मुंशी प्रेमचन्द के साथ रखकर देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने जीवन की यन्त्रणाओं के बीच अपनी साहित्यिक रुचि को अभिव्यक्ति देते हैं। यह एक संयोग है कि हिन्दी साहित्य की ये दोनों विभूतियाँ वाराणसी जनपद से ही सम्बन्धित थीं और समकालीन भी। इन दोनों विभूतियों का साहित्यिक उद्देश्य भले ही एक रहा हो पर साहित्य की संरचना, स्वरूप तथा स्रोत में उत्तर – दक्षिण का अन्तर था। प्रसाद जहाँ प्रायः ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से

वर्तमान समस्याओं का अन्वेषण करते थे, वहीं प्रेमचन्द प्रायः वर्तमान प्रतीकों का सहारा लेते थे। उनके समकालीन निकटस्थ मित्र विनोद शंकर व्यास लिखते हैं – "प्रसाद जी का सिद्धान्त बडा अटल था, वह मौन तपस्वी की भॉति अपना कार्य पूर्ण करते गये, कभी प्रचार और ख्याति के लिये लालायित नहीं हुये ... अभी तुम घबड़ा क्यों जाते हो आने वाला युग निर्णय करेगा।"[147] इसीलिये प्रसाद ने अपने सच्चे साथी साहित्य को समाज के सन्दर्भ में अलग–अलग रूपों में न केवल प्रस्तुत किया, अपितु एक स्वस्थ समाज का चित्रण कैसे होना चाहिए, इसका रास्ता भी दिखाया। प्रसाद ने इन्दु में लिखा है – "जब तक समाज के उपकार के लिये कवि की लेखनी ने कुछ कार्य न किया हो, तब तक केवल उसकी उपमा और शब्द वैचित्र्य तथा अलंकारों पर भूलकर हम उसे एक ऐसे कवि के आसन पर नहीं बैठा सकते, जिसने कि अपनी लेखनी से समाज की प्रत्येक कृतियों का स्पन्दित करके उसमें जीवन डालने का उद्योग न किया हो।"[148]

जब हम प्रसाद – साहित्य का विशद अनुशीलन करते हैं तो स्पष्टतः कृतियों का स्पन्दन एवं जीवन सायास ध्यान आकृष्ट करता है। यहाँ प्रसाद साहित्य के केवल उस पक्ष का विवेचन अभीष्ट है, जिसमें तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हिन्दू–मस्लिम विभेद/संघर्ष का चित्रण मिलता हो। प्रसाद एक समन्वयवादी साहित्यकार थे, स्पष्ट था कि उनकी कृतियों में ऐसे प्रसंगों का चित्रण किसी पक्षधरता के साथ नहीं है। यद्यपि प्रसाद जीवन भर धार्मिक दृष्टिकोण वाले बने रहे – 'ईश्वर के प्रति निष्काम भावना और विश्वास प्रसाद में अंतिम समय तक बना रहा। आनन्द और नियतिवादिता का यह घना रिश्ता ईश्वर के माध्यम से ही बनता है। शैव मतावलम्बी जयशंकर प्रसाद की सभी कृतियों में प्रायः एक अदृश्य शक्ति के संचालकत्व का तर्क दिखायी पड़ता है, जो घोर से घोर नास्तिक को अंततः आस्तिक बना देता है।[149] किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना उचित है कि उनकी कृतियों में जहाँ भी हिन्दू – मुस्लिम संघर्ष या समन्वय चित्रित है वहाँ किसी तरह का पूर्वाग्रह नहीं है। इसी दृष्टि से इन्हीं दोनों बिन्दुओं पर उनके साहित्य का विवेचन होगा।

जयशंकर प्रसाद अपने समकालीन साहित्यकर्मियों से कई अर्थो में भिन्न रहे हैं। उनके साहित्य का सन्दर्भ स्रोत प्रायः प्राचीन इतिहास से ग्रहण किया गया है। युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद द्वारा अतीत के स्रोतों से साहित्य सृजन के सन्दर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि यह युग नवोत्थान का युग था, जिसमें प्रायः सभी राजनीतिज्ञ एवं समाजशास्त्री प्राचीन गौरव को

महिमान्वित कर रहे थे। आर्य संस्कृति के प्रति अतिशय लगाव समाज एवं धर्म सुधारकों में भी था। ऐसी पृष्ठभूमि में प्रसाद का साहित्य स्रोत यदि समकालीन समाज नहीं है, तो आश्चर्य नहीं क्योंकि समकालीन परिस्थितियों में एक हताशा भारतीय मन में छायी हुई थी। जिसके सन्दर्भ में सुदूर अतीत के प्रति उन्मुखता स्वाभाविक एवं अनिवार्य मान ली गयी। विद्या खण्डेलवाल के अनुसार — "सांस्कृतिक पराभव, आर्थिक राजनैतिक विफलता और सामाजिक स्थापनाओं एवं मूल्यों में क्षरण के चलते प्रसाद का कलाकार मन दुखी और क्षुब्ध था। साथ ही अतीत कालीन आदर्शो के प्रति अनुराग और श्रद्धा की भावुकता भी प्रसाद में प्रचुर परिमाण में थी। इस कारण अपने राष्ट्रीय आदर्शो का चित्र प्रस्तुत करते समय वे न तो अपने युग के पराभूत जीवन को भूल पाते और न संस्कृति की उस शालीनता को जो विविध दर्शनों के माध्यम से फैलकर समस्त राष्ट्र का जीवन स्पन्दन बन चुकी थी।"[150]

यद्यपि कि प्रसाद ने अपने साहित्य सृजन का विषय प्राचीन इतिहास को बनाया, किन्तु वे इतिहासकार की भूमिका में नहीं थे। अतः उनकी इतिहास दृष्टि को साहित्यकार की दृष्टि से विवेचित करना ही अभीष्ट है। 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध" में प्रसाद ने लिखा है — "साहित्यकार न तो इतिहासकार है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं, साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का कार्य करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है ? उसको दिखाते हुये उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है।"[151] ऐसा ही विचार अवधेश प्रसाद सिंह का भी है — "प्रसाद जिस अतीत का चित्रण कर रहे थे, वह विकास दिश के निर्धारण हेतु भारतवासियों को आत्मबल प्रदान कर रहा था। प्रसाद विशुद्ध इतिहास नहीं लिख रहे थे। हम इस तथ्य को केन्द्र में रखकर ही उनकी इतिहास दृष्टि को समझ सकते हैं, क्योंकि प्रसाद की इतिहास दृष्टि मूलतः राष्ट्रीय चेतना पर केन्द्रित है और अपनी रचनाओं के माध्यम से वे भारतीय इतिहास के जिन पृष्ठों की खोज पहचान और पुनर्व्याख्या करते हैं, उसका लक्ष्य मात्र अतीत गौरव नहीं, बल्कि पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य में भारतीय एतिहासिक संकट का रेखांकन करना है।"[152]

प्रसाद की इतिहास दृष्टि को साम्राज्यवादी इतिहासकारों के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये, क्योंकि वे भारत भूमि के इतिहास को एक वैचारिक हथियार के रूप में प्रयुक्त कर रहे थे। उनकी भेद नीति जो कि आर्य संस्कृति के गौरव को खण्डित कर रही थी, उस पर प्रसाद ने लिखा है — 'हम इस भूमि की

सन्तान नहीं अपितु हमारे पूर्वज एक बर्बर आक्रान्ता रहे, जिन्होंने उन्नत द्रविड संस्कृति को ध्वस्त कर उनकी भूमि को अपहृत किया। वे प्रताड़ित द्रविड़ दक्षिण भारतीय हैं, इत्यादि के प्रचार में देखा जा सकता है कि भेद नीति की कैसी प्रच्छन्न अव्यक्त और आरम्भिक भूमिका, इस भूमि पर पदार्पण करते ही विदेशी शासकों ने बनाई थी, जिस भूमि पर उनके द्वारा आरोपित वर्ग द्वेष के कालकूट की विषलहरी आज भी इस महाजाति को मूर्च्छित किया करती है। वे दक्षिण भारत के आर्य केवल अपनी वर्ण श्यामलता से अनार्य बना दिये गये।''[153] यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा यह भेद–नीति राष्ट्रीय आन्दोलन के समय में हिन्दू–मुस्लिम एवं सिख समुदायों के सन्दर्भ में धड़ल्ले से अपनायी जा रही थी।

यद्यपि प्रसाद की गुलाम जहाँआरा, ममता, स्वर्ग के खँण्डहर, दासी आदि कहानियाँ एवं महाराणा का महत्व, प्रलय की छाया, वीर बालक आदि कविताओं तथा प्रायश्चित नाटक का आधार जहाँ मध्यकाल है, वहीं कहानी 'गुण्डा' तथा उपन्यास कंकाल एवं तितली तथा शेरसिंह का शस्त्र समर्पण'' कविता ब्रिटिश काल पर आधारित हैं, किन्तु अधिकांश प्रसाद साहित्य अतीत को ही आच्छादित करता है। इसके सन्दर्भ में प्रसाद लिखते हैं – ''इसके आगे जो समय और समाज है, जिसमें विदेशी धर्म एवं संस्कृति एक दूसरे रूप में प्रबल हैं, जिसके सत्य का उद्घाटन किसी के मर्म पर आघात भी कर सकता है और भी आगे चलकर उत्तर मुगल – कम्पनी काल आता है, जिसे चित्रित करने में कारावास भी हो सकता है। इस वृहत् कारा की छोटी जेलों को बसाने में नहीं तोड़ने में विश्वास करता हूँ, इसीलिये मैंने अपनी सीमा बना ली है।''[154] अवधेश प्रसाद सिंह ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है –''प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी नहीं चलाई। इसका कारण यह था कि प्रसाद मध्य युग को पतन का काल मानते थे। उनकी दृष्टि में मध्यकालीन समाज अपने स्वार्थ में इतना लिप्त था कि राष्ट्र या जाति के प्रति उसमें गौरव का भाव आ ही नहीं सकता था। परिणामतः उस काल के संघर्ष के पीछे लोक शक्ति का अभाव है और उस अभाव ने पूरे मध्य युग को अंधकार युग बनाकर रख दिया है।''[155]

प्रसाद के साहित्य सृजन में मिथकों एवं प्रतीकों का प्रयोग इस तरह से है कि वे उनकी साहित्यिक कल्पना में घुल मिल जाते हैं। अवधेश प्रसाद सिंह के अनुसार – ''प्रसाद मिथकों को इतिहास का व्यापक स्रोत मानते थे और उसकी रचनात्मक भूमिका को अच्छी तरह पहचानते थे। इसीलिये मिथकों को गंभीरता से ग्रहण करते हुये उन्होंने उसके भीतर इतिहास और जीवन के

सत्यो का उद्घाटन किया।"[156] अतः प्रसाद अपनी रचनाधर्मिता में किसी भी मिथक को इतिहास की परिभाषा में सत्य ठहराने की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करते थे। इसीलिये वे अपने प्राचीन साहित्यिक धरोहरों को इतिवृत्त के रूप में प्रस्तुत करने के लिये अपने साहित्य का आधार मान लेते हैं। उनके अनुसार — 'आदिम युग के मनुष्यों क प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का बीच — बीच में सम्बन्ध लगा हुआ सा दिखता है। घटनायें कहीं — कहीं अतिरंजित सी जान पड़ती हैं .... किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। इसीलिये हमें अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थग्रहण करना पड़ा, जिससे कि उन अर्थों को अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय।"[157]

यहाँ प्रसाद की अतीतोन्मुखता पर भी विचार आवश्यक है, जैसा कि शिवकुमार मिश्र स्वीकार करते हैं — "अपने समान धर्माओं में वे सबसे अधिक अतीतोन्मुख भी लगते हैं, गोकि उनके अनुसार अतीत का उनका सारा मंथन वर्तमान के प्रयोजनों की तरह ही है।"[158] रमेशचन्द्र शाह का विचार है — 'उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है, मानो वह वर्तमान की ही बात हो।"[159] प्रसाद अतीत की घटनाओं में प्रतीकों का प्रयोग ऐसे करते हैं जैसे वे समकालीन समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर रहे हों। इसीलिये रामस्वरुप चतुर्वेदी इसे उनकी विशेषता मानते हुये कहते हैं — "छायावादी काव्य में पुनर्जागरण की चेतना सीधे लहराती है। गीतों के अतिरिक्त कविताओं के खण्डों में जागरण का स्वर गूँजता है।"[160]

स्पष्ट है प्रसाद की इतिहास दृष्टि बहुत कुछ अतीत की स्मृतियों के आधार पर बनी हुई थी। जिसका कारण सम्भवतः यह था कि वे समन्वयवादी एवं समरस भावना के साहित्यकार थे। इसीलिये उन्होंने विवादास्पद मध्यकाल पर लेखनी कम ही चलायी तथा वर्तमान काल भी लगभग इसी कारण अछूता रहा है, फिर भी जहाँ उन्होंने इन पर लेखन कार्य किया है, वहाँ उन ऐतिहासिक विभेदों एवं संघर्षो का निर्माण करने से बच नहीं सके हैं यद्यपि कि यहाँ भी सामंजस्य एवं सौहार्द स्थापना का प्रयास दिखायी देता है।

इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि प्रसाद के धार्मिक दृष्टिकोण पर भी विचार किया जाय। इस प्रश्न पर उनका विचार मंथन काफी जटिल है।

धर्म का स्वरुप एवं उसमें लोगों की आस्था कैसी हो ? धार्मिक ढोंग से मुक्ति एवं धर्म से राजनीति का सम्बन्ध क्या हो ? आदि प्रश्नों के साथ ही साम्प्रदायिकता के खिलाफ भी प्रतीकात्मक रूप से खड़े होते हैं। व्यक्तिगत जीवन में प्रसाद हिन्दू – शैव शाखा के अनुयायी थे। वे धर्म के आरम्भिक रुप को ही सत्य स्वीकार करते हैं और उसे पुनः स्थापित करने का यत्न करते हैं। आर्य धर्म का आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि एक बार भी नष्ट नहीं हुआ है, फिर भी उसे जगाना पड़ेगा। वह अलस, अवसादग्रस्त, अपनी कायरता के कारण विवेक का ढोंग करने लगा है .... मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आर्यवीर संस्कृति को लौटाने के लिये प्राचीन कर्मों को फिर से करना होगा, जिन्हें विवेक के अतिवाद के कारण मानवता के लिये हानिकर समझ लिया है।''[161]

प्रसाद हिन्दू समाज के अत्यधिक धार्मिक आग्रह पर भी चोट करते हैं– ''देखो ! यह बीसवीं शताब्दी में तीन हजार बी.सी. का अभिनय, समग्र संसार अपनी स्थिति रखने के लिये चंचल है। रोटी का प्रश्न सबके सामने है, फिर भी मूर्ख हिन्दू अपनी पुरानी सभ्यताओं का प्रदर्शन कराकर पुण्य संचय किया चाहते हैं।''[162] इसी प्रकार वे मूर्तिपूजा को भी आवश्यक मानते हैं – 'हिन्दू समाज तुम्हें मूर्ति पूजा करने के लिये बाध्य नहीं करता ..... तुम अपने को उपयुक्त समझते हो तो उससे उच्चतर उपासना प्रणाली में सम्मिलित हो जाओ।''[163] धार्मिक आडम्बर का विरोध करते हैं – ''मैं आडम्बर नहीं चाहता, व्यक्तिगत श्रद्धा से जो जितना कर सके उतना ही पर्याप्त है।''[164]

प्रसाद धार्मिक संगठनों की उस प्रवृत्ति पर भी प्रहार करते हैं जो युवा शक्ति को सन्यास धर्म धारण करने एवं ब्रहमचर्य पर बल देती है। 'देवरथ' कहानी की सुजाता से यही बात व्यक्त करवाते हैं – 'पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी वासना तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र एवं निम्न कोटि की है .... तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बर पूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता।''[165] विशाख नाटक में प्रेमानन्द कहते हैं – ''वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नहीं है, जब वह अन्तरात्मा में विकसित हो .... जब तक सुखभोग कर चित्त उनसे उपराम नहीं होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता।''[166] इस प्रकार प्रसाद धर्म को रूढ़ियों से मुक्त कर प्राचीन आर्य धर्म की स्थापना की बात करते हैं। जैसा कि रत्नशंकर प्रसाद लिखते हैं – ''प्रसाद की प्रमुख चिन्ता दिव्य आर्य

संस्कृति की स्थापना है। यह संस्कृति व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास को मान कर चलती है और विधि निषेध के बन्धनों से मुक्त रखती है। आर्य समाज से प्रभावित होते हुये भी प्रसाद आर्य समाज की शुष्कता से रहित हैं।"[167]

प्रसाद धर्म की राजनीति करने का विरोध करते हैं, यद्यपि कि राजनीति का एक धर्म मानते हैं, लेकिन दोनों के घाल—मेल के पक्षधर नहीं हैं। प्रसाद के अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'इरावती" में सम्राट बौद्धबिहार में अधिक रुचि लेते हैं — 'कहो तो धर्म महामात्र की स्थविर से कैसी पटती है ? सम्राट इरावती को रंगशाला में देखना चाहते हैं। धर्म महामात्र ने स्थविर से कहा कि किसी आपत्ति दोष से उसे संघ से बाहर कर दिया जाय, तो उसे रंगशाला में ले जाने में सुविधा होगी।"[168] प्रसाद शासक की धर्म पर निर्भरता की भी आलोचना करते हैं और इसे ही भारत की पराधीनता का कारण भी मानते हैं — "धर्मशाला पूछते हैं आप ? समूचा मगध धर्मशाला ही तो है। जहाँ चाहिये पूछना क्या यही सुनकर तो सुदूर यवन देश से बहुत अतिथि आ गये हैं।"[169] प्रसाद इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं कि धर्म राजनीति को बचाता है न कि राजनीति धर्म को। धर्म को बचाने के लिये तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई, धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल केद्वार सुरक्षित होगा।"[170]

प्रसाद की इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में उनकी रचनाओं में हिन्दू—मुस्लिम संघर्ष का कुछ चित्रण मिलता है। प्रसाद की कहानियों 'अशोक", 'दासी", 'चक्रवर्ती का स्तंभ', 'ममता', 'गुलाम', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'सलीम' एवं 'चित्तौर का उद्धार' में इसे देखा जा सकता है। इसी प्रकार उनकी कविताओं 'महाराणा का महत्व', 'वीर बालक', 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण', 'प्रलय की छाया', नाटक प्रायश्चित, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त एवं कंकाल तथा तितली जैसे उपन्यासो में कुछ में प्रत्यक्ष तथा कुछ में अप्रत्यक्ष रूप से यह संघर्ष दिखायी पड़ता है। इनमें प्रायः उन प्रतीक शब्दों एवं मान्यताओं का प्रयोग हुआ है, जो साम्प्रदायिक सन्दर्भों में व्यवहृत होते हैं।

अपने निबन्ध संग्रह 'काव्य कला एवं अन्य निबन्ध" में प्रसाद मध्यकालीन भारत को आतंक एवं अस्थिरता का युग बताते हैं। साम्प्रदायिक विद्वेष के लिये ब्रिटिश प्रशासन को दोषी ठहराते हुये कहते हैं — 'तुम दोनों देखो राष्ट्रनीति / शासक बन फैलाओ न भीत।"[171] कहानी 'अशोक' में बौद्धों द्वारा जैन समुदाय पर अत्याचार का मार्मिक चित्रण है, जो समसामयिक हिन्दू — मुस्लिम साम्प्रदायिक हिंसा की ओर संकेत करता है।'[172] प्रसाद ने अपनी कहानी

'चित्तौर का उद्धार '' में यद्यपि कि राजपूतों के आपसी संघर्ष को चित्रित किया है किन्तु हम्मीर की विजय इस प्रकार चित्रित करते हैं — 'आपको चित्तौर का सिंहासन सुखद हो, देश की श्री वृद्वि हो, हिन्दुओं का सूर्य मेवाड़ गगन में एक बार फिर उदित हो।'[173] जिससे अप्रत्यक्षतः विदेशी शासन के प्रति एकजुट होने का संकेत मिलता है।

प्रसाद की कहानी 'गुलाम' में हिन्दू — मुसलमानों के बीच के वैमनस्य को उभारा गया है। मुगल बादशाह शाहआलम मराठा सरदार सिन्धिया के प्रभाव में हैं — 'भारत के सपूत, हिन्दुओं के उज्ज्वल रत्न छत्रपति महाराज शिवाजी ने जो अध्यवसाय और परिश्रम किया, उसका परिणाम मराठों को अच्छा मिला .... शाह आलम के दरबार में क्या .... भारत में — आज मराठा वीर सिन्धिया ही नायक समझा जाता है।[174] किन्तु शाहआलम का एक कर्मचारी इस हिन्दू प्रधानता से ईर्ष्या करता है — 'शुभचिन्तक होने पर भी वह सिन्धिया की प्रधानता से भीतर — भीतर जला करता था। मंसूर के शब्दों में — 'हमारे आका शहंशाह हिन्द एक काफिर के हाथ की कठपुतली न बने रहें।'[175]

मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दू देवस्थानों की तोड़—फोड़ का जिक्र कहानी चक्रवर्ती का स्तंभ में है — 'किन्तु निष्ठुर सैनिकों ने कुछ न सुना। तोड़—ताड़, लूट—पाट करके सब पुजारियों को, बुतपरस्तों को बाँधकर उनके धर्म विरोध का दण्ड देने के लिये ले चले।' इस पर कहानी का एक पात्र धर्मरक्षित पूछता है— 'सैनिकों तुम्हारा भी कोई धर्म है।' एक ने कहा — 'सर्वोत्तम इस्लाम धर्म।' धर्मरक्षित — क्या इसमें दया की आज्ञा नहीं ? उत्तर न मिला . ... क्या पागल बूढ़े से बक — बक कर रहे हो ? कोई ऐसी फिक्र करो कि किसी बुत की परस्तिश का ऊँचा मीनार तोड़ा जाय।''[176] कहानी 'ममता'' में अफगान शासक शेरशाह द्वारा हिन्दू दुर्ग रोहिताश्व पर छलपूर्वक अधिकार किये जाने का चित्रण हैं — 'बात बढ़ गयी। तलवारें खिंची, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा — रानी और कोष छली शेरशाह के हाथ पड़े, निकल गयी ममता। डोली में भरे हुये पठान सैनिक दुर्ग भर में फैल गये।''[177] इसी कहानी में मुगल बादशाह हुमायूँ चौसा युद्ध में पराजित हो शरण के लिये ममता की झोपड़ी में पहुँचता है तो वह सोचने लगी — 'ये सब विधर्मी दया के पात्र नहीं— मेरे पिता का वध करने वाले आततायी ! घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।''[178] यह वर्णन दोनों सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य को रेखांकित करता है, यद्यपि कि ममता द्वारा हुमायूँ को शरण दी जाती है।

प्रसाद ने प्रायः हिन्दू — मुस्लिम सम्बन्धों के प्रमुख मुद्दों पर ध्यान दिया है, यद्यपि इस सन्दर्भ मे परिमाण में उनका लेखन कार्य कम ही है। कहानी 'स्वर्ग के खण्डहर' में सीमान्त पर आक्रमण, मुस्लिम आतंक तथा धर्मपरिवर्तन के प्रलोभन तीनों का चित्रण है। यह कहानी चंगेज खाँ के आक्रमण के सन्दर्भ में लिखी गयी है। सीमान्त पर आक्रमण की समस्या को इस प्रकार उठाया गया है — 'वाह्लीक, गांधार, कपिशा और उद्यान मुसलमानों के भयानक आतंक में काँप रहे थे। गांधार के अंतिम आर्य नरपति भीमपाल के साथ ही शाही वंश का सौभाग्य अस्त हो गया।''[179] मुस्लिम आतंक का चित्रण इस प्रकार है — 'तलवार के बल पर शान्ति स्थापित कर पृथ्वी पर स्वर्ग बनाना चाहता है। पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानव जाति के लिये जीने दो। अपनी आकांक्षा के लिये, कल्पित स्वर्ग के लिये, इस महती को, इस धरणी को नरक न बनाओ, जिससे देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय शेख ![180] इसी कहानी में हिन्दू पात्र लज्जा को शेख प्रलोभन देता है, जो धर्मान्तरण की ओर संकेत करता है — 'उसने कहा तुम ठीक मेरे स्वर्ग की रानी होने योग्य हो। यदि मेरे मत में तुम्हारा विश्वास हो, तो मैं तुम्हें मुक्त कर सकता हूँ। बोलो।''[181]

महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद की स्थितियों का वर्णन कहानी 'दासी' में मिलता हैं। यद्यपि कि सुल्तान मसऊद के कुछ कर्मचारी हिन्दू हैं जो कि महमूद के साथ ही भारत से गये थे किन्तु उनका विश्वास सुल्तान के प्रति नहीं हैं। कहानी का एक पात्र बलराज कहता है — 'कुछ भी हो तुर्क सुल्तान के अपने लोगों में हैं और हिन्दू बेगाने ही हैं।''[182] इसी प्रकार का भाव कर्मचारी तिलक में भी है यद्यपि कि वह एक उच्च पदस्थ कर्मचारी है, लेकिन वह अपने इस जीवन से संतुष्ट नहीं है इसीलिये हिन्दुस्तान वापस नहीं जाना चाहता — 'मैं हिन्दुस्तान नहीं जाना चाहता .... मैं हिन्दू हूँ फिरोजा ! आज तक अपनी आकांक्षा में भूला हुआ अपने आराम में मस्त .... हिन्दुस्तान की अपनी जन्मभूमि को और उसके दुख दर्द को भूल गया। सुल्तान महमूद की लूटों की गिनती करता रहा। उस रक्त रंजित धन की तालिका बनाना, हिन्दुस्तान के ही शोषण के लिये सुल्तान को नयी — नयी तरकीबें बताना यही तो मेरा काम था .... मैं चिर निर्वासित विस्मृत अपराधी ![183] यह स्वीकारोक्ति न केवल पराधीन स्थिति को दर्शाती है बल्कि उसके लिये अपराध भावना भी है का संकेत भी करती है। इसी कहानी में मुस्लिम अधिकारी नियाल्तगीन बलराज के बहाने हिन्दुओं के बारे में राय व्यक्त करता है — 'तुम अभी तक हिन्दू बने हो।

पुरानी लकीर पीटने वाले, जगह–जगह झुकने वाले, सबसे दबते हुये, बचते हुये, कतरा कर चलने वाले हिन्दू .... मन में नयापन तथा दुनिया का उल्लास नही आने पाता।[184] अन्यत्र यही नियाल्तगीन बलराज को 'धोखेबाज काफिर'[185] का संबोधन भी करता है। स्पष्ट है साथ रहने के बाद भी दोनों धर्मों में कटुता अवश्य थी।

प्रसाद की कहानी 'सलीम' अतिशय संवेदनायुक्त कहानी है। इसमें अफगानिस्तान के एक गाँव में रह रहे हिन्दू मुसलमानों के बीच भाईचारे की उत्कृष्ट मिसाल है, किन्तु हिन्दुस्तान से हिजरत कर गया सलीम इसे अच्छा नहीं मानता क्योंकि जब प्रेम कुमारी अपने पड़ोसी मुस्लिम लड़कों को खीर का प्रसाद देती है तो वह विरोध करता है – 'उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी – फूटी पश्तों में लड़के से काफिर का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था।'[186] इसका कारण था 'जिसके लिये वह हिजरत कर भारत से चला आया था उस धर्म का मुसलमान देश में भी यह अपमान।'[187] इसके लिये वह कट्टर वजीरियों द्वारा उस गाँव पर आक्रमण करा देता है, यद्यपि कि शरणार्थी के रूप में वह उसी हिन्दू घर में बाद में रहता भी है।

जयशंकर प्रसाद का काव्य कर्म भी ऐसे उद्धरणों से भरा है। 'महाराणा का महत्व' 'वीर बालक' 'प्रलय की छाया' 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' में इसे देखा जा सकता है। महाराणा का महत्व कविता अकबर एवं महाराणा प्रताप के संघर्ष पर आधारित है, जिसमें प्रसाद का स्वर हिन्दू उदात्तता एवं महत्ता को स्थापित करता है – अभी देर भी हुई नहीं उस भूमि में,/उन दर्पोद्धत यवनों के उस वृन्द को/कानन घोषित हुआ अश्व–पद शब्द से,/लू समान कुछ राजपूत भी आ गये[188]...... मचा द्वन्द तब घोर उसी रणभूमि में ..... रुधिर – फुहारा – पूर्ण यवन – कर कट गया......... घेर लिया शिविका को क्षत्रिय सैन्य ने/जय कुमार श्री अमरसिंह के नाद से/कानन घोषित हुआ।[189]

इस कविता में महाराणा प्रताप को इस प्रकार महिमामंडित करते हुये प्रसाद जी ने याद किया है– कहो कौन है ? आर्य जाति के तेज सा देशभक्त जननी का सच्चा पुत्र है। इसीलिये वे उस नाम का स्मरण करने का उद्‌बोधन भी करते हैं – कर अपने प्रताप को विस्मृत सो गये/अरे कृतघ्न ! बनो मत उसको भूल के यह महत्वमय नाम स्मरण करते रहो।[190] और ऐसा इसलिये कि 'वीर प्रताप दहकता था दावाग्नि सा'[191] .... मुगलवाहिनी से जब होता सामना/ भिड़ जाना उसका सन्मुख कर्तव्य था।[192]

'वीर बालक' कविता में गुरू गोविन्द सिंह के पुत्रो को मृत्युदण्ड दिये जाते समय धर्मान्तरण का प्रलोभन दिया जाता है, किन्तु वे इन्कार कर देते हैं – 'यदि पवित्र इस्लाम धर्म स्वीकार है/तुम लोगों को तब तो फिर आनन्द हैं, किन्तु उन वीर पुत्रों द्वारा इसका नकारात्मक उत्तर दिया जाता है – 'कहा यवन क्यों व्यर्थ मुझे समझा रहे/वाह गुरू की शिक्षा मेरी पूर्ण है।''[193] इसी कड़ी में 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' कविता में वर्णित संघर्ष को भी देखा जा सकता है, यद्यपि कि यहाँ ब्रिटिश सेना द्वारा सिखों की पराजय का वर्णन है, किन्तु कविता में सिखों के गौरवमयी अतीत को याद किया गया है – 'यवनों के हाथों से स्वतन्त्रता छीनकर/खेलता था यौवन विलासी मत्त पंचनद'[194] जो ब्रिटिश शासन से पूर्व मुगल सत्ता से संघर्ष की याद दिलाता है।

सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा गुजरात पर आक्रमण के आधार पर लिखी गयी कविता 'प्रलय की छाया' में गुजरात के शासक कर्णदेव की पत्नी कमला को बन्दिनी बनाये जाने का वर्णन है। इस कविता में तुर्कों के अत्याचार का वर्णन है – 'क्रोध सुल्तान का दग्ध करने लगा/दावानल बनकर/हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का/बालकों की करुण पुकारें और वृद्धों की/आर्तवाणी /क्रन्दन रमणियों का/[195] इस युद्ध में गुजरात नरेश परास्त होता है और उसकी रानी बन्दिनी होती है – 'थके सो रहे थे तरु छाया में हम दोनों/तुर्कों का एक दल आया झंझावात सा .... और हुई बन्दी में,[196] किन्तु रानी इस प्रतिशोध के साथ दिल्ली आती है कि वह अलाउद्दीन से बदला लेगी, किन्तु वह ऐसा कर नहीं सकी, और यह कार्य करता है उसका एक नौकर मानिक, जो खुसरो बन गया था–अन्त कर दास राजवंश का/लेकर प्रचण्ड प्रतिशोध निज स्वामी का/मानिक ने खुसरू के नाम से/शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प।[197] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी कम ही चलायी है किन्तु जहाँ उन्होंने इसे अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है वहाँ हिन्दू – मुस्लिम संघर्ष का चित्रण भी हुआ है।

नाटकों में प्राचीन इतिहास की विषय वस्तु अधिक है। अतः उनमें हिन्दू – मुस्लिम संघर्ष की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं है, किन्तु प्रसाद उन स्थितियों की ओर संकेत अवश्य करते हैं जिनसे वर्तमान समय में यह संघर्ष प्रतिफलित हुआ और विदेशियों को भारत में घुसने का मौका मिला। फूट और ईर्ष्या को बढ़ावा जो कि ब्रिटिश नीति का आधार रही उसे अप्रत्यक्षतः "चन्द्रगुप्त" नाटक में देखा जा सकता है। इसमें सिंहरण कहता है – "उत्तरापथ के खण्ड राज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।"[198] .... यवन आक्रमणकारियों के

पुष्कल स्वर्ग से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख रजनी की शान्ति निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य हैं।"[199] अपने को अलग–अलग इकाई के रूप में समझने की व्याधि का चित्रण है – "हम मागध हैं और यह मालव'[200] इस पर चाणक्य कहता है – "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ?'[201] धार्मिक समुदायों में व्याप्त विभेद को लक्ष्य कर चाणक्य कहता है – "यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण में भेद नहीं करेंगे।"[202] चन्द्रगुप्त भी इसका उल्लेख करता है – "दारुण द्वेष से सब जकड़े हैं।"[203] ये कथन परोक्ष रूप से हिन्दू – मुस्लिम विभेद की ओर संकेत करते हैं।

इसी तरह के अप्रत्यक्ष संकेत अन्य नाटकों स्कन्दगुप्त, अग्निमित्र, अजातशत्रु आदि में भी मिलता है, किन्तु मध्यकालीन इतिहास के आधार पर लिखे गये नाटक 'प्रायश्चित' में इसके प्रत्यक्ष संकेत हैं। इस नाटक में पृथ्वीराज और एवं जयचन्द की आपसी कटुता एवं संघर्ष को आधार बनाया गया है जिसके परिणाम स्वरूप जयचन्द द्वारा मुहम्मद गोरी को बुलाया जाता है। जिसका परिणाम होता है – 'हिन्दू साम्राज्य सूर्य इसी, रणभूमि अस्ताचल में डूबा है। चौहान कुलभूषण पृथ्वीराज का इसी युद्ध में सर्वस्वान्त हुआ।"[204] यह सब इसलिये हुआ कि – "जामाता से प्रकाश्य युद्ध कैसे हो, इसलिये यवन बुलाये गये और आर्य साम्राज्य का नाश किया गया।"[205]

दूसरी ओर इस संघर्ष में विजयी मुसलमानों में खुशी व्याप्त है क्योंकि अब तुर्क महमूद गजनवी की तरह केवल लूटपाट के लिये हिन्दुस्तान नहीं आये थे बल्कि इस पर अपना शासन स्थापित करना चाहते थे। मुहम्मद गोरी कहता है – "बहादुर शफकत ! आज सचमुच हिन्दुस्तान हलाली झण्डे के नीचे आ गया। और यह सब तो एक बात है, दरअसल खुदाये पाक को अपने पाक मजहब को जीनत देना मंजूर है। नहीं तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओं पर फतह पाना क्या मुमकिन था .... हकीकत में वह शख्स काबिल तारीफ था और मुसलमानों को भी ऐसा ही मज़हब का पक्का होना चाहिये। देखो कितनी बेरहमी से उसका कत्ल किया गया, मगर उस काफिर ने पाक दीन इस्लाम कबूल नहीं किया।'[206] जिस आपसी फूट के कारण मुसलमानों का आगमन हुआ उस जयचन्द के बारे में उनकी धारणा से यहाँ पर उनके शासन स्थापना के विचार का पता चलता है – 'काफिर जयचन्द भी खूब छका। उसने समझ रखा था कि तख्ते देहली हमीं को मिलेगा। आपके जवाब ने तो उस पर

बहकर बहा दिया होगा।'[207] इस प्रकार इस नाटक में आपसी फूट की चरम स्थिति का चित्रण है क्योंकि इसी के परिणाम रूप में विदेशियों का शासन स्थापित हुआ। साथ ही दोनों सम्प्रदायों के बीच धर्म के आधार पर वैमनस्य का चित्रण एवं इस्लाम अनुयाइयों में अपने धर्म के प्रसार की भावना भी है।

प्रसाद के साहित्य में हिन्दू – मुस्लिम संघर्षों के साथ ही उनमें वर्तमान राजनीति की आवश्यकता के अनुरूप समन्वय स्थापित करने का प्रयास भी दिखता है। प्रसाद अपनी कविता 'महाराणा का महत्व' में हिन्दू मुस्लिम एकता की बात करते हैं –'दो महत्वमय ह्रदय जब एक हो गये/ फैलेगा फिर यह महान सौरभ यहाँ/ जिसके सुखमय गंध प्रेम में मत्त हो/ भारत के नर गावेंगे यश आपका'।[208] सच्चे मुसलमानों की प्रसाद प्रशंसा भी करते हैं– 'सच्चे तुर्क न होते कभी कृतघ्न हैं।'[209] इसी प्रकार प्रसाद अपनी कहानी 'ममता' में हिन्दू नायिका को विधर्मी मुगल को शरण देते हुये दिखाते हैं – 'तुम चाहे कोई हो मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ, मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ सब अपना धर्म छोड़ दें तो मैं भी क्यों छोड़ूँ।'[210] प्रसाद की कहानी 'सलीम' हिन्दू – मुस्लिम एकता की स्थापना की दृष्टि से एक संवेदनशील कहानी है, यद्यपि कि इसके एक पात्र सलीम द्वारा कट्टर वजीरियों से मिलकर उस अफगान गाँव पर आक्रमण किया जाता है जहाँ हिन्दू परिवार रहता है किन्तु गाँव का पठान मुखिया एवं अन्य मुसलमान मिलकर न केवल हिन्दू परिवार की रक्षा करते हैं, बल्कि दण्डस्वरूप सलीम को अपंग भी बना देते हैं और सलीम कुछ दिन तक उसी हिन्दू परिवार की शरण में रहता भी है किन्तु जब उसे पठानों द्वारा गाँव छोड़ने के लिये कहा जाता है तब भी वह हिन्दू नायिका को अपने अंतिम समय तक 'बुते काफिर'[211] के रूप में याद करता है।

इस प्रकार जहाँ प्रसाद साहित्य में संघर्षो का चित्रण है वहीं हिन्दू – मुस्लिम धर्म की विकृतियों का परिष्करण करके एक मानवता वादी धर्म की स्थापना का प्रयास भी है। उनके नाटकों पर हिन्दूवादी मान्यताओं के आरोप के उत्तर में विद्या खण्डेलवाल कहती है' – ''प्रसाद जी के नाटकों की राष्ट्रीयता को हिन्दुत्व या किसी सम्प्रदाय अथवा जाति के खूँटे से बँधा हुआ नहीं कहा जा सकता।''[212] इसी प्रकार शंभूनाथ स्वीकार करते हैं – ''प्रकृति हो या इतिहास प्रसाद का मुख्य सरोकार था अपने समय एवं समाज को बदलना। जितना संवेदनशील वे प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति थे, उतना ही सचेत राजनीति के प्रति

थे। उनका साहित्य राजनीतिक घटनाओं की प्रतिक्रिया नहीं है, पर जातीय स्वतन्त्रता, स्त्री मुक्ति, साम्प्रदायिक संप्रीति, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, समरसता की प्रतिध्वनियाँ, उनकी रचनाओं में नहीं है यह कौन कहेगा।"[213] इस प्रकार निष्कषर्तः यह स्थापित होता है कि समस्या के दोनों पक्षों पर उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी का ही रहा है और यही उनका मूलस्वर भी था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (1896 – 1961) का व्यक्तित्व तमाम जटिलताओं से निर्मित हुआ था, जिसमें भारतीय संस्कृति की विविधता संश्लिष्ट रुप में झलकती थी। इसमें उनके विभिन्न स्थानों पर प्रवास का प्रभाव भी था। निराला मूलतः अवध क्षेत्र के गढ़ाकोला (उन्नाव) के निवासी थे, किन्तु आजीविका की तलाश में पिता बंगाल के महिषादल (मेदिनीपुर) में प्रवास कर रहे थे। निराला का जन्म यहीं हुआ और बचपन में ही माता के देहान्त से उन्हें स्नेहिल संरक्षण का अभाव झेलना पड़ा। बचपन में ही परिणय सूत्र में बँधे किन्तु यह साथ भी अधिक दिनों का नहीं रहा। 1920 तक पत्नी, पिता तथा परिवार के कई अन्य सदस्य असमय काल कवलित हुये। इन परिस्थितयों एवं कलकत्ता, लखनऊ तथा इलाहाबाद में लम्बे प्रवास से उनका व्यक्तित्व विविधताओं का संगम हो गया। उनकी रचनाओं के विवेचन में इनका ध्यान आवश्यक है। यहाँ विषय की परिधि में उनकी रचनाओं में साम्प्रदायिक तत्वों की ही तलाश होगी।

इसके लिये आवश्यक है कि निराला की मानसिक बनावट एवं चिन्तन को स्पष्ट किया जाय। भारतीय साहित्यविद् कमला रत्नम् के शब्दों में – 'उनके चरित्र व्यक्तित्व एवं विचारों का गठन बंगाल के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभाव में हुआ था।[214] निराला की मानसिक बनावट में पुनरुत्थान वादी चेतना का बहुत कुछ हाथ था। रामकृष्ण मिशन में 'समन्वय' के हिन्दी संस्करण में काम करने के कारण वे सक्रिय रूप से इस वैचारिक मंथन में सम्मिलित हुये थे।[215] नन्दकिशोर नवल उनके चिन्तन पर विवेकानन्द एवं वेदान्त का असर देखते हैं। उनके कई निबन्धों के आधार पर इसका विश्लेषण करते हैं। अपने जीवन के बिल्कुल आरम्भ में निराला स्वतन्त्रता को दो रूपों में देखते थे – बाहरी स्वतन्त्रता और भीतरी स्वतन्त्रता। इन दोनों के बीच द्वन्दात्मक सम्बन्ध की कल्पना करने में असमर्थ थे। अपने 'बाहर और भीतर' शीर्षक निबन्ध में वे सामाजिक स्वतन्त्रता को बाहरी स्वतन्त्रता और भौतिक उन्नति का लक्ष्य ध्वंस

बताते हैं। इसी तरह 'शक्ति परिचय' निबन्ध में कहते हैं कि व्यक्तिगत स्वाधीनता ही समष्टिगत स्वाधीनता की जननी है और इस दृष्टि से आज भी भारत में अन्य देशों की अपेक्षा स्वाधीन मनुष्यों की संख्या अधिक होगी। मतलब यह कि आत्मा माया के बन्धनों से स्वतन्त्र है, तो मनुष्य स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र होने के लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं बल्कि आत्मा की स्वतन्त्रता चाहिये। वह मिल गयी तो बाहरी स्वतन्त्रता अवश्यंभावी है। आश्चर्य नहीं कि 'प्रवाह' शीर्षक निबन्ध में निराला ने यह कहा कि आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है और बिना मुक्त हुये जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता।[216] इस प्रकार स्पष्ट है कि निराला की विचारधारा के निर्माण में वेदान्त की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी है।

नीलाभ के अनुसार – ''निराला के निजी जीवन संघर्ष के अनगिनत चित्र, अनगिनत भावाभिव्यक्तियाँ उनकी कविता में मौजूद हैं। इर्द – गिर्द के जीवन की विषमता से जनित आक्रोश और अवसाद के अप्रतिम रेखांकन वहाँ मिलते हैं, प्रकृति की रंगारंग छवियाँ वहाँ नजर आती हैं, मगर सब कुछ अन्ततः हिन्दू धार्मिक परम्परा और निराला के वैष्णवी संस्कारों के दायरे में ही है। निराला के समय के अनेक महत्वपूर्ण मुद्दे, इसी सीमा के कारण छूट गये हैं।[217]

इन्हीं बातों को नीलाभ निराला के कुछ निबन्धों के आधार पर और अधिक स्पष्ट करते हैं – शुरू से ही निराला की मूल मनोभूमि धर्मनिरपेक्ष न होकर हिन्दू संस्कारिकता से रंजित है। वे मध्यकाल के तरह – तरह के संघर्षो को जो राजनीतिक रहे हों या आर्थिक, हिन्दू – मुस्लिम संघर्षो के रूप में चित्रित करते हैं। 'हमारा समाज' शीर्षक लेख में वह लिखते हैं – 'फिर हजार वर्षों से हिन्दू – मुस्लिम युद्ध चलने लगा।' 'महर्षि दयानन्द और युगान्तर' जैसा लेख हो या 'सामाजिक पराधीनता' 'वर्तमान हिन्दू समाज' और 'हमारा समाज' जैसी टिप्पणियाँ निराला का रुख एक ऐसे उदारमना हिन्दू का सा है जो वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्म के अन्तर्विरोधों को देखकर दुखी हो रहा है और कभी इसे आध्यात्मिकता और ज्ञान के लोप का नतीजा मान रहा है, कभी प्राचीन संस्कारों के विलोप का।' 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थित' में भी वह जब यह कहते हैं – 'क्या तमाम राजनीतिक अधिकार मुसलमानों की तरह हिन्दुस्तान की छाती पर रहकर भोग करना पारसियों के डंडे का फल है? या इसी लेख में मुसलमानों को भारतवर्ष की छाती के पीपल' की संज्ञा देते हैं, तो वह अपना हिन्दूवादी झुकाव स्पष्ट करते हैं।[218]

निराला काव्य का व्यापक अनुशीलन करने पर उनमें हिन्दू धार्मिक पुराण कथाओं और प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। 'भारति वन्दना' हो या 'सरोज स्मृति', 'वसन वासन्ती लेगी' गीत हो या 'राम की शक्ति पूजा' जैसी लम्बी कविता, जगह — जगह हिन्दू मिथकों की भरमार मिलती है। "जागो फिर एक बार", तुलसीदास" और "शिवाजी का पत्र" तो स्पष्टतः निराला के हिन्दूवादी रुझान को स्पष्ट एवं पुष्ट करती मालूम होती हैं। अतीत के मिथकों एवं प्रतीकों के आधार पर बुनी इन कविताओं से अतीत की संस्कृति के प्रति उनकी धारणा का भी ज्ञान होता है।

दूधनाथ सिंह निराला काव्य में प्रयुक्त उपमाओं के आधार पर निराला में पुनरुत्थान का स्वर देखते हैं — "इन्हीं सारी उपमाओं से निरालां की सांस्कृतिक धारणायें भी धीरे — धीरे स्पष्ट होती दिखायी देती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी इस तरह की कविताओं में जो सांस्कृतिक धारणा उभरकर सामने आती है, वह अतीतोन्मुख है। उनके इस तरह के उद्‌गारों से कहीं — कहीं उनके अतीतजीवी होने का भ्रम भी हो जाता है। लेकिन वे अतीतजीवी हैं नहीं, दरअसल वे भारत के सांस्कृतिक अधःपतन का कोई विकल्प चाहते हैं। इस विकल्प की खोज में वे भारतीयता को पहले स्थान पर रखते हैं। इसीलिये वे बार — बार भारतीय संस्कृति की उन तमाम विशेषताओं को बिम्बात्मक शब्द बन्ध में अपनी कविता में उतारते हैं। इस विकल्प की खोज में भारत के गौरवमयी अतीत में पैठना और वहाँ से छानकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के किसी विकल्प को निकालना उन्हें अधिक सुविधाजनक लगता है। सुविधाजनक भी क्यों कहें, दरअसल वे किसी दूसरे विकल्प की परिकल्पना नहीं कर पाते। इस रूप में वे पुनरुत्थानवादी और पुनर्जागरणवादी अधिक लगते हैं।"[219]

यहाँ निराला काव्य में आये ऐसे तत्वों की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से करना समीचीन है — (1) ये तत्व (हिन्दू प्रतीक, एवं उपमान) निराला की कविताओं में किस तरह प्रयुक्त हुये हैं और (2) क्या उनका काव्य इनसे साम्प्रदायिक हो जाता है या क्या निराला सााम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साहित्य सृजन कर रहे थे। इसी परिप्रेक्ष्य में निराला के हिन्दू — मुस्लिम सम्बन्ध के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जा सकता है।

पहली धारणा के अनुरूप यदि हम निराला साहित्य का विवेचन करते हैं, तो तमाम बातें एवं सवाल उभरते हैं। जिस भारतीय संस्कृति की चर्चा निराला अपनी कविताओं में करते हैं उसका स्वरूप क्या है ? उनकी कविताओं

में जो बिम्ब एवं प्रतीक प्रयुक्त हुये हैं, उनका आशय क्या है ? जिस जाति – जीवन की चर्चा वे करते हैं, उसका भारतीयता एवं राष्ट्रीयता से क्या सम्बन्ध है ? हिन्दू एवं मुसलमान के सन्दर्भ में उनके इस 'जाति' शब्द का अर्थ क्या है ? इन्हीं प्रश्नों के आलोक में उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह का मत है – "संस्कृति की उनकी धारणा में मिश्रित संस्कृति की वास्तविकता उनकी समझ में नहीं आती, वे अक्सर शुद्ध संस्कृति के पोषक लगते हैं। उनकी समझ में शुद्ध आर्य संस्कृति नामक कोई वस्तु है, जिसे पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। उसी के अधः पतन के कारण भारतीयता का विनाश हुआ है। 'शिवाजी का पत्र' में बार – बार इस सनातन धर्म तथा शुद्ध भारतीयता की चर्चा करते हैं। उनकी नजर में इसको नापाक करने वाले मुसलमान, यवन एवं म्लेच्छ हैं। इसके अतिरिक्त निराला धर्म, सभ्यता और संस्कृति में घालमेल करते हुये भी दिखायी देते हैं। उनकी रचनाओं में अक्सर इनका फर्क नहीं मिलेगा। इसी सन्दर्भ में उन्होंने बार – बार जाति जीवन का भी सवाल उठाया है।[220]

जाति जीवन को निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।

दूधनाथ सिंह इसको इस प्रकार विस्तार देते हैं – "मैंने बार – बार उनके इस जाति शब्द को समझने की कोशिश की है .... मुझे लगा वह भारतीय मात्र के लिये प्रयुक्त शब्द नहीं है। जाति का प्रथम अर्थ तो उन्होंने हिन्दू से लिया है – हिन्दू जाति, फिर वे वर्ण व्यवस्था पर उतर आते हैं – ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियाँ .... जिस जाति जीवन के निरामय होने का वरदान निराला माँगते हैं वह कौन सी जाति है क्या वह सम्पूर्ण हिन्दू जाति या उसमें भी द्विजवर्ण है ?"[221] इन सन्दर्भों को समझने के लिये निराला की ऐसी कविताओं को परखना आवश्यक है। 'शिवाजी का पत्र' में निराला प्रकारान्तर से हिन्दू भारत की कल्पना करते हैं – फैले समवेदना/एक ओर हिन्दू, एक ओर मुसलमान हों/ व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय/देखो परिणाम फिर/ स्थिर रहेंगे न पैर फिर यवनों के/ पस्त होगा हौसला/ध्वस्त होगा साम्राज्य।[202]

कवि हिन्दुओं की सभ्यता को विलीन होता देखता है तो प्राचीन बातों की याद दिलाकर उनमें सोये हुये व्यक्तित्व को जगाता है, जिस प्रकार महाराज शिवाजी महाराज जयसिंह को उसके हिन्दू भाइयों के लिये जगाते

है— कितना आश्चर्य है, मुट्ठी भर मुसलमान/ पले आतंक से हैं/ भारत के अंक पर,/ अपनी प्रभुता में/ हैं मानते इस देश को.......... जकड़ रहा वह जिनसे हिन्दुओं के पैर/ हिन्दुओं का काटता है सीस/ हिन्दुओं की तलवार ले,/ याद रहे/ बरबाद जाता है हिन्दू धर्म हिन्दुस्तान/ मरजाद चाहती है आत्म त्याग।[223]

इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह लिखते हैं — "इसे साम्राज्यवादियों के प्रतीकार्थ में प्रयुक्त मानकर टाला या सन्तोष नहीं किया जा सकता। इसके पक्ष में यह तर्क भी पूरा नहीं पड़ता कि शिवाजी के चरित्र और उस समय की ऐतिहासिक अनिवार्यताओं के अनुकूल यही विचारधारा उचित जान पड़ती है। यह तर्क इसलिये कम पड़ रहा है कि निराला उस हिन्दुस्तान में रह रहे हैं, जहाँ मुसलमान विदेशी नहीं है, जहाँ शुद्ध संस्कृति की बात भी सोची नहीं जा सकती या ऐसा सोचना यथार्थ को झुठलाना है और यह भी कि मुसलमान एक ऐसा शब्द है, इतना सेन्सटिव शब्द कि उसे प्रतीकार्थ में चाहे जितना प्रयुक्त किया जाय वह रहेगा मुसलमान ही। यवन या म्लेच्छ शब्द अपनी अर्थवत्ता में मुलायम और अमूर्त हो चुके हैं। इसलिये उनमें तो यही प्रतीकात्मकता चल सकती है, लेकिन मुसलमान शब्द में नहीं चल सकती है। इसलिये मैं कहता हूँ शिवाजी के प्रसंग में हिन्दू मुसलमान की यह जातिगत धारणा चाहे कितनी सच क्यों न हो, उसे इस रूप में कविता में लाना निहायत खतरनाक है। जिन्ना की तरह निराला भी गाँधीजी पर अपने इंटरव्यू में यह आरोप लगाते हैं कि 'मैं समझता हूँ नेता हिन्दुओं का नेता तो बन ही चुका था, मुसलमानों का भी बनना चाहता था।' यही आरोप निराला पर भी लगाया जा सकता है कि वह हिन्दुओं का कवि था।"[224]

यही नहीं इस तरह के प्रसंग इस कविता में कई जगह आये हैं। पत्र लेखक शिवाजी भारतीय संस्कृति की सुरक्षा एवं चिन्ता से ग्रस्त थे। उनके लिये भारतीय संस्कृति का अर्थ हिन्दू संस्कृति है, सनातन धर्म है, हिन्दुत्व है। उनके लिये इस सांस्कृतिक विनाश के लिये मुसलमान जिम्मेदार हैं और वे हिन्दुस्तान और संस्कृति की सुरक्षा के लिये कटिबद्ध हैं। इसीलिये निराला जयसिंह के अतीत की, उनके क्षत्रियत्व की उनकी शूरवीरता की याद शिवाजी के माध्यम से करवाते हैं और सूक्ष्म व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते हैं — और विकर्षण मयसारा / संसार हिन्दुओं के लिये / धोखा है अपनी ही छाया से / ठगते वे अपने ही भाइयों को, / लूटकर उन्हें ही वे भरते हैं अपना घर।[225] इसीलिये वे सचेत करते हैं कि— चाहते हो क्या तुम/ सनातन धर्म धारा शुद्ध/भारत से बह जाय चिरकाल के लिये।[226]

इसीलिये वे शिवाजी के माध्यम से जयसिंह को संबोधित करते हैं कुछ लांछना एवं प्रताड़ना के स्वर में — काफिर तो कहते न होगे तुम्हें वे/ विजित भी न होगे तुम औ गुलाम भी नहीं ?/ कैसा परिणाम यह सेवा का।/ लोभ भी न होगा तुम्हे मेवा का महाराज/ सीमा के राज राजेश्वर ! /भाइयों के शेर और क्रीत दास तुर्कों के।[227]

जब मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार हो रहे थे, क्षत्रियों की शक्ति क्षीण होती जा रही थी उसी अतीत का स्मरण कवि कराता है और संगठित होने के लिए प्रेरित करता है — संगठित हो जाओ/आओ बाहुओं में भर/ भूले हुये भाइयों का/अपनाओ अपना आदर्श तुम.................. हिन्दुओं की लुप्त कीर्ति/फिर से जग जायेगी/ आयेगी महाराज/भारत की गयी ज्योति/ प्राची के भाल पर। स्वर्ग सूर्योदय होगा/ तिमिर आवरण/फट जायेगा मिहिर से/ टूट पड़ो — बह जाओ/दूर तक फैलाओ अपना श्री, अपना रंग / अपना रूप, अपना राग।[228]

जिस सांस्कृतिक क्षय की चिन्ता निराला को शिवाजी के पत्र में सालती है वही सांस्कृतिक अंधकार के रूप में तुलसी दास में भी व्यक्त है। 'शिवाजी का पत्र' में जिस घातक आक्रमण को निराला ने — 'मोगल — दल — विगलित — बल/हो रहे हैं राजपूत/बाबर के वंश की/देखो राजलक्ष्मी/प्रखर से प्रखरतर दीखती'[229] कहकर व्यक्त करते हैं उसे ही वे तुलसीदास में — मोगल—दल—बल के जलद—यान/ दर्पित—पद, उन्मद — नद पठान/ हैं बहा रहे दिग्देशज्ञान शर—खरतर/ छाया ऊपर घन—अन्धकार/टूटता वज्र यह दुर्निवार'[230] कहकर स्वर देते हैं।

इस प्रकार निराला के काव्य में इस तरह के जो वर्णन आये हैं यद्यपि कि समकालीन सन्दर्भो में साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किये गये हैं लेकिन कहीं न कहीं वे उससे पहले के शासन एवं संघर्ष की ओर भी संकेत करते हैं। इसे उनके काव्य में प्रयुक्त पौराणिक, धार्मिक प्रतीकों के स्वरूप द्वारा भी समझा जा सकता है। छत्रपति शिवाजी का पत्र में निराला की ये पंक्तियाँ 'तुमने ही रेणु को सुमेरु बना रखा है'[231] द्वारा सुमेरु पर्वत की पौराणिकता के बहाने शिवाजी जयसिंह को समझाते हैं कि जो औरंगजेब धूल के कण के समान था उसे तुमने सुमेरु बना दिया है। यहाँ पर निराला ने औरंगजेब को सुमेरु का प्रतीक माना है। दूसरे प्रतीकात्मक उदाहरणों के आधार पर इस सन्दर्भ में निराला की भावना को और स्पष्ट किया जा सकता

है – किन्तु क्या अन्ध तुम भी हो गये ? राक्षस वह रखते हो नीति का भरोसा तुम।[232] निराला ने इस पंक्ति में औरंगजेब को राक्षस का प्रतीक माना है। जिस प्रकार पौराणिक कथाओं में राक्षसों के अत्याचारों को दिखाया गया है उन्हीं अत्याचारों को दर्शाते हुए निराला ने औरंगजेब की आदतों से उसे राक्षस का प्रतीक माना है। पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से वे औरंगजेब के अत्याचार, अन्याय एवं नृशंसता की पूरी – पूरी व्यंजना करते हैं।

'अस्तमित आज रे–तमस्तूर्य दिग्मंडल'[233] यहाँ तमस्तूर्य दिग्मंडल को निराला ने भारत की विघटित संस्कृति का प्रतीक माना है। हमारी संस्कृति का पतन तथा हमारी दिशायें अन्धकारमय हो गयी हैं और इसका कारण मानते हैं – उर के शासन पर शिरस्त्राण/शासन करते हैं मुसलमान'[234] यहाँ तत्कालीन विदेशी शासकों का प्रतीक मध्यकालीन मुगल शासक है। शासक के वास्तविक धर्म से च्युत मुसलमान नरेश भारतीयों को प्रताड़ित करते हैं – 'मोगल दल बल के जलद यान/दर्पित – पद उन्मद – नद पठान[235] यहाँ निराला ने मुसलमानों की दुर्निवार शक्ति का 'मुगल' के बजाय 'मोगल' का प्रयोग करके किया है। इसमें निराला की प्रतीक योजना वैशिष्ट्य पूर्ण है। मुगलों की सेना बादल है तथा दर्प से भरे पठान जल से भरे नद हैं।

भारत में मुगल सेना का विस्तार घने अन्धकार का प्रतीक है – "छाया ऊपर धन अन्धकार/ढूढ़ता वज्र यह दुर्निवार/नीचे प्लावन की प्रलय धार, ध्वनि हर – हर"[236] ध्यातव्य है तुलसी दास में निराला ने भारतीय जीवन की जड़ता का परिचय दिया तथा सांस्कृतिक ह्रास के बारे में जाग्रत किया है। इसके लिये प्रतीक उन्होंने मध्यकाल से उठाये तथा प्रतीकात्मक शब्द व्यंजना के सहारे अपने व्यक्तित्व की जीवन्तता एवं सारी सक्रियता का परिचय दिया है। इस बात का वे शिवाजी का पत्र' में भी उठाते हैं – 'छोड़ो यह हीनता/सर्प आस्तीन का/फेंको दूर/मिलो भाइयों से/व्याधि भारत की छूट जाय'[237] यहाँ निराला ने साँप को औरंगजेब को और व्याधि को गुलामी का प्रतीक कहा है। इसीलिए वे 'मिलो भाइयों से' कहकर संगठित होने का आह्वान करते हैं।

निराला की पहली प्रकाशित कविता 'मातृ भूमि' की आरम्भिक पंक्तियाँ – बंदूँ तव अमल – कमल/चिर–सेवित चरण – युगल' देवी रूप की स्थापना करती है, फिर चाहे मातृभूमि हो या उसके बहुत बाद की 'भारति वंदना' दोनों कविताओं में निराला प्रमुखतः भारत का एक भौगोलिक रेखांकन ही प्रस्तुत करते हैं। अगर "भारति वन्दना" में यह भौगोलिक रेखांकन सांस्कृतिक रेखांकन के अभिप्राय ग्रहण करता जान भी पड़ता है तो भी वह उनकी हिन्दू सांस्कारिकता की सीमायें पार नहीं कर पाता।[238]

निराला की दो अन्य कविताओं "राम की शक्ति पूजा" और "जागो फिर एक बार' में 'पूजा' पौराणिक आख्यान पर आधारित है और 'जागो फिर एक बार' उद्बोधन प्रकृति की कविता है। इनकी विषय वस्तु एवं शैली से भी निराला के रूढ़मन का पता चलता है। 'राम की शक्ति पूजा' की समीक्षा में चन्द्रकान्त वांदिवडेकर लिखते हैं — "जहाँ तक भारत की धार्मिक संवेदना का प्रश्न है .... निराला के व्यक्तित्व में उनके प्रति टकराहट की .... अनिवार्यता उत्पन्न हुई नहीं दीखती। सामाजिक रूढ़ियों का विरोध उन्होंने उसी सीमा तक किया है, जहाँ तक भारतीय संस्कृति के मूल विश्वासों को धक्का लगाये बिना निभ सकता था।"[239] वे यह भी लिखते हैं कि "आवश्यकता से अधिक स्थान ग्रहण करने वाली हनुमान जी की अन्तर्कथा को ग्राह्य कर पाना मुश्किल ही नहीं असम्भव है .... निराला ने इस पौराणिक कथा को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, इससे उनके रूढ़ि विश्वासी मन का ही प्रमाण मिलता है।"[240] इसी प्रकार दूधनाथ सिंह को 'जागो फिर एक बार' कविता 'शिवाजी का पत्र' का एक अंश लगती है।[241] क्योंकि उनकी दृष्टि में यह उद्बोधन साधारण भारतीय को कोलाहलपूर्ण उत्तेजना की ओर ले जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ निराला की इतिहास दृष्टि की चर्चा भी अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में नीलाभ कहते हैं — 'शिवाजी हों या गुरू गोविन्द सिंह दिल्ली बादशाहत से उनका संघर्ष, हिन्दू — मुस्लिम विग्रह से कहीं ज्यादा एक केन्द्रीय सत्ता और राज्यों की आपसी कशमकश थी। अगर ऐसा न होता तो शिवाजी ने औरंगजेब के विरुद्ध गोलकुण्डा के मुस्लिम शासकों के साथ सन्धि न की होती तथा सूरत और पूना को लूटने के दौरान लूट पाट में भी हिन्दू — मुसलमान का भेद किया होता। लेकिन निराला ने शिवाजी और औरंगजेब के संघर्ष को केवल हिन्दू—मुस्लिम संघर्ष के रूप में देखा। दरअसल निराला की यह भावभूमि उनके हिन्दू संस्कारी स्वभाव का ही अंग थी। शुद्ध सनातन धर्मधारा की यह परिकल्पना बार — बार निराला की कविताओं में उभरती है। 'खण्डहर से' 'दिल्ली', 'भगवान बुद्ध के प्रति' या 'सहस्राब्दी' जैसी कविताओं में वे अतीत से मोहग्रस्त कवि के रूप में आते हैं।[242]

निराला काव्य में आये हिन्दू प्रतीकों, मिथकों आख्यानों एवं मध्यकालीन इतिहास के कतिपय मुस्लिम पात्रों के प्रति दृष्टिकोण के विवेचन से उनकी छवि एक पुनरुत्थानवादी कवि के रूप में उभरती है किन्तु इसके बावजूद उन्हें साम्प्रदायिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता और न ही किसी हिन्दूवादी खेमें के प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि

इसके इतर परिमाण में अधिक निराला का रचना संसार उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रमाणित करता है। अतः आवश्यक है उनके इस पक्ष का विवेचन किया जाय अन्यथा निराला एक साम्प्रदायिक कवि के रूप में ही दिखेंगे।

निराला के अपने निजी संस्कारों एवं परिवेश से संवलित उनकी रचनाओं के आधार पर उन्हें साम्प्रदायिक रचनाकार की श्रेणी में रख दिया जाता है। ऐसा आक्षेप प्रथमतः हिन्दी के चर्चित कवि विष्णु खरे द्वारा लगाया गया है।[243] लेकिन व्यवहारिक जीवन में मुसलमानों के प्रति उनका दृष्टिकोण सदैव उदार रहा है। निराला लिखते हैं — "हिन्दू और मसलमान अब दगाबाजों को खूब समझ गये हैं। अब वे दिन लद गये जब आप लोग फ़ाख्ता उड़ाते थे, अब वे दिन आ रहे हैं जब आप लोगों को भी बोरिया बिस्तर बाँधना समेटना होगा।"[244]

अपने उपन्यास 'कुल्ली भाट' में निराला नायक (कुल्ली भाट) का विवाह एक मुस्लिम महिला से करने का उल्लेख करते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं — "ये जितने कांग्रेस वाले हैं, अधिकांश ये मूर्ख एवं गवाँर हैं, फिर कुल्ली सबसे आगे हैं, खुल्लमखुल्ला मुसलमानिन बैठाये हैं।"[245] यही नहीं कुल्ली के मुस्लिम महिला से विवाह करने पर जब लोग उसका सामाजिक बहिष्कार करते हैं, तो निराला अपने नायक से कहलवाते हैं — "हिन्दू बडे नालायक है।"[246] कुल्ली की मृत्यु पर अन्तिम संस्कार के लिये कोई पुरोहित न मिलने पर निराला जो इस कथा के एक पात्र स्वयं लगते हैं, कहते हैं — "वह न आयेगें तो मैं हवन करा दूँगा।"[247] इसी प्रकार 'कमला' कहानी में हिन्दू–मुस्लिम दंगों के चित्रण में निराला की तटस्थता देखी जा सकती है — "दोनों तरफ के अनेक घर लुटे — फुँके और ढहा दिये गये। हजारों आदमी काम आये, जो हिन्दू मुसलमानों की बस्ती में थे उनके घर फूँककर माल लूटकर, आदमियों को मारकर या जख्मी कर अपने घरों में डाल दिया। ऐसा ही हिन्दुओं ने भी किया।"[248]

निराला के दृष्टिकोण का जो प्रतिबिम्बन 'महाराज शिवाजी का पत्र' में हुआ है, उस आधार पर नीलाभ ने एक लेख में उनकी इतिहास दृष्टि पर प्रश्न उठाया है।[249] ध्यातव्य यह है कि पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन का अवलोकन करें तो स्पष्ट होता है कि ऐसे प्रतीकों का प्रयोग राष्ट्रीय आन्दोलन में राजनीतिक लामबन्दी के लिये किया गया था। प्रायः रचनाकार ही नहीं, राजनीतिज्ञ भी इस प्रक्रिया में उत्साह से सम्मिलित होते थे। तिलक का शिवाजी एवं गणपित

उत्सव, स्वदेशी आन्दोलन में राखी बाँधना एवं गंगा में डुबकी लगाना, गाँधी जी की रामराज्य की कल्पना, क्रान्तिकारी आन्दोलनों में देवी एवं शक्ति प्रतीकों का वैचारिक उपयोग आदि ऐसे माध्यम थे, जो धार्मिक दृष्टिकोण से युक्त थे। अतः निराला के मुगल साम्राज्य के अतिप्रसार को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के रूप में देखना चाहिए। जब वे कहते हैं — 'ध्वस्त होगा साम्राज्य/हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से/दासता के पाश कट जायेगे/शत्रु को मौका न दो/अरे कितना समझाऊँ मैं,[250] तो उनका उद्‌देश्य समकालीन ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वस्त करना था, जो भारत का विभिन्न उपक्रमों से शोषण कर रहा था। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि शिवाजी के चरित्र में जिन मिथकों का प्रयोग किया गया था, वे सामान्य जन में लोकप्रिय थे जिसे निराला ने ऐतिहासिक तथ्य से अलग किये बिना प्रस्तुत किया।

निराला पर अन्य समीक्षकों के आरोप भी इस विश्लेषण के दायरे में हैं। दूधनाथ सिंह उन्हें अतीतजीवी सिद्ध करते हुये, इसके लिये 'विकल्प हीनता'[251] की बात करते हैं। नीलाभ उन्हें परम्परा प्रिय कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये इस बात पर बल देते हैं कि 'प्रयास करने के बाद भी वे अपने को इससे मुक्त नहीं कर पाये।'[252] कँवल भारती के अनुसार निराला अपने चिन्तन में प्रगतिवाद के मूल चिन्तन के विरुद्ध हैं। वेदान्ती होने के नाते वर्ण व्यवस्था के समर्थक हैं तथा दलित विरोधी, हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी हैं।''[253]

निराला के ऊपर इन आरोपों के आलोक में तत्कालीन युगीन परिस्थितियों एवं उनके परिवेशगत संस्कारों को समझना होगा। कात्यायनी के अनुसार — ''भारत में राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक दौर में अतीत से प्रेरणा लेते हुये अतीतोन्मुख हो जाने, हिन्दुत्व के गौरव की पुनर्स्थापना की बात करने, पौराणिक गाथाओं एवं धार्मिक उत्सवों के माध्यम से अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीय पहचान की तलाश करने तथा मध्यकाल के मुस्लिम हमलावरों या दिल्ली में स्थापित सल्तनत से मोर्चा लेने वाले महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल या गुरू गोविन्द सिंह को राष्ट्रीय नायकों के रूप में प्रस्तुत करने की आम प्रवृत्ति राजनीतिक क्षेत्र में भी मौजूद थी और सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र में भी, पर इस वैचारिक विचलन के वस्तुगत आधार थे।''[254] यदि निराला को साम्प्रदायिक हिन्दूवादी एवं परम्परामोही मान लिया जाय तो इस दृष्टि से दयानन्द की वेद प्रियता, विवेकानन्द की वेदान्तिकता, तिलक के शिवाजी एवं गणपति उत्सव तथा गॉधी की रामराज्य की परिकल्पना को इसी खेमें में रखना होगा। कात्यायनी के अनुसार — ''अपने रचना काल के दौरान तीस के दशक के

पूर्वार्द्ध तक निराला जहाँ कहीं राष्ट्रीय जीवन की दुरावस्था की पीड़ा, राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान की तड़प या भारत के सांस्कृतिक अधः पतन के विकल्प की खोज से जूझते हैं, वहीं अतीत की ओर देखते नजर आते हैं। पुनर्जागरण एवं प्रबोधन के दर्शन के अभाव में औपनिवेशिक समाज की दुरावस्था का विकल्प वे गौरवमयी अतीत में खोजने की कोशिश करते हैं।"[255]

इस सन्दर्भ में हम राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि वहाँ अतीतोन्मुखता कितनी लोकप्रिय एवं गतिशील थी। दादाभाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले एवं एम. जी. रानाडे ने जिस उदारवादी विचारधारा का प्रवर्तन कर ब्रिटिश आर्थिक शोषण को उद्घाटित करते हुये भी उसके संरक्षण में स्वायत्तता की माँग की वह अपने समय में लोकप्रिय नहीं हो सकी। जबकि बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बिपिन चन्द्र पाल एवं अरविन्द घोष उग्रपंथी विचारधारा के समर्थक थे तथा होमरूल एवं स्वराज की बात करते हुये क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं विचारों को संरक्षण प्रदान किया। जाति एवं धर्म के बारे में यह समूह अतीतोन्मुख ही था, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन में यही वर्ग लोकप्रिय हुआ। इस प्रकार निराला की रचनाओं में प्रतिक्रियावादी विचारों की उपस्थिति तथा उसका गौरव गान उन्हें अप्रासंगिक सिद्ध नहीं करता। अतीत का महिमामंडन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की विशेषता थी। इसी आलोक में रचनाकारों द्वारा इसे साहित्यिक रणनीति के रूप में अंगीकार किया गया था। महादेवी वर्मा के शब्दों में – "निराला की यह मौलिक स्फूर्तता उन्हें क्रान्तिकारी रूप देती है। निराला जी विचार से क्रान्तिदर्शी और आचरण से क्रान्तिकारी हैं। जिसे वे उपयोगी नहीं मानते उसके प्रति उनका किंचित मात्र भी मोह नहीं है, चाहे तोड़ने योग्य वस्तुओं के साथ रक्षा योग्य वस्तुयें भी नष्ट हो जावें।"[256]

वर्तमान के लिये अतीत का उपयोग निराला वहीं तक करते हैं, जहाँ तक उसकी प्रासंगिकता है। वे अतीत के सम्पूर्ण प्रतिमानों के अन्धभक्त नहीं हैं। अतः निराला की अतीतोन्मुखता रूढ़िवादिता का प्रतीक नहीं है। निराला 'गीतिका' शीर्षक कविता में कहते हैं – 'जला दे जीर्ण – शीर्ण – प्राचीन / क्या करुँगा तन जीवन हीन।'[257] इसी प्रकार उन्होंने लिखा है – "इस समय सबसे बड़ा सुधार जो समाज को चाहिये वह है मस्तिष्क को हर तरह की रूढ़ियों से मुक्त कर देना।"[258] हम बहुत पहले से कह रहे हैं कि 'समाज का आमूल परिवर्तन बहुत जरूरी है।"[259]

जहाँ तक निराला को पुनरुत्थानवादी एवं हिन्दुत्व समर्थक सिद्ध करने के लिये वेदान्ती होने का आरोप लगाया जाता है, तो स्पष्ट है कि उनके ऊपर विवेकानन्द एवं वेदान्त का प्रभाव था, किन्तु यह नितान्त परिवर्तित एवं प्रगतिशील सन्दर्भो में। इस सन्दर्भ में कात्यायनी अपने लेख में वेदान्त को अपरिवर्तनशील शरणि नहीं स्वीकारतीं, बल्कि उनके अनुसार वेदान्त अपने युग के अनुरूप हमेशा परिवर्तित होता रहा है। बादरायण से लेकर शंकराचार्य होते हुये विवेकानन्द तक पहुँचते – पहुँचते वेदान्त अपने सामयिक युग के अनुरूप था। विवेकानन्द ने जब उन्नीसवीं शताब्दी में वेदान्त की व्याख्या की तो विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी के विकास के रूप में आधुनिक पूँजीवाद की उपलब्धियाँ उनके सामने थी .... विवेकानन्द उपनिवेशवाद और उसके द्वारा पोषित सामन्तवाद उसके रूढ़ धार्मिक, सांस्कृतिक मूल्यों का विरोध करते हुये नये राष्ट्रवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करने में अहम भूमिका निभाते हैं। .... इसी रूपान्तरित वेदान्त को निराला अपने साहित्य जीवन में अपनाते हैं।[260] निराला विवेकानन्द के बारे में टिप्पड़ी भी करते हैं – 'प्राचीन संस्कारों के बड़े खिलाफ थे, यदि उनके पीछे ज्ञान न रहा ..... नवीन भारत का क्या रूप होना चाहिये, इसके वे सच्चे मित्र है।''[261] स्पष्ट है कि निराला ने प्राचीन मूल्यों एवं प्रतीकों को नये सन्दर्भो एवं उपयोगी दृष्टि से ग्रहण किया था और इनके प्रयोग में उनके प्रति पूर्वाग्रह नहीं था।

निराला अपने साहित्य कर्म में हिन्दुत्व एवं अतीत के प्रतीकों को ग्रहण कर रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि में साम्प्रदायिकता जैसी कोई वस्तु थी, ऐसा नहीं लगता है। ध्यातव्य है कि निराला साहित्य सृजन कर रहे थे, न कि इतिहास लेखन और यह भी कि उन्होंने अपने साहित्य में हिन्दू – मुस्लिम सौहार्द की वकालत भी की है। इसके लिये वे बहुसंख्यक हिन्दुओं से प्रश्न भी करते हैं कि– ''मुसलमानों को उपदेश देने से पहले हमें अपने ही यहाँ तलाश करके देखना चाहिये कि हमने मुसलमानों के साथ सहयोग करने की कितनी तैयारी की है, अवश्य ही इस प्रश्न के उत्तर में हमें बड़ी निराशा होगी।''[262] इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा स्वीकार करते हैं – ''समाज में ऊँच – नीच का भेद मिटाकर अन्धविश्वास और रूढियों से मुक्त होकर, व्यापक मानवतावाद की भूमि पर हिन्दू और मुसलमान अपनी राष्ट्रीय एकता दृढ़ कर सकते हैं, निराला की शिक्षा का यही सार तत्व था।''[263]

नीलाभ, जिन्होंने निराला की कुछ कविताओं में हिन्दुत्व एवं पुनरुत्थान वाद का स्वर पाया है कहते है – ''निराला की सारी हिन्दू सांस्कारिकता और

आध्यात्मिकता के बावजूद उन्हें न तो हम किसी हिन्दूवादी दल के खेमे में डाल सकते हैं, न कोई साम्प्रदायिक संस्था ही उन्हें अपने पक्ष में इस्तेमाल कर सकती है .... निराला में परिवर्तन के प्रति जो अडिग निष्ठा है ...... भलेही वह समय — समय पर नैराश्य और हताशा की स्थितियों में क्षरित होती है, वह भी किसी ऐसी साम्प्रदायिक पार्टी को स्वीकार नहीं होगी, जो सामाजिक संरचना को यथावत बनाये रखने की हामी हो। निराला में दबे — कुचलों के प्रति जो हमदर्दी है और उनकी प्रतिष्ठा और उन्नयन के प्रति जो चिन्ता है वह भी किसी हिन्दू साम्प्रदायिक दल को मंजूर नहीं होगी।"[264]

स्पष्टतः निराला एक महान रचनाकार थे, यद्यपि कि उनकी कविताओं में हिन्दू आख्यान, मिथक एवं मान्यताओं का प्रयोग हुआ किन्तु वे हिन्दू — मुस्लिम सौहार्द के भी उतने ही बड़े पक्षधर थे। जिसका चित्रण उनके साहित्य में मिलता है। अतः उनका मूल्यांकन युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है और तब वे एक ऐसे सर्जक व्यक्तित्व के रुप में सामने आते हैं, जिसकी चिन्ता समन्वय के प्रति है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

श्याम नारायण पाण्डेय (1907 — 1989 ई0) एक ऐसे कवि थे, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान अपनी कविताओं से देशभक्ति की भावना प्रसारित करने का कार्य किया। इस सन्दर्भ में उनकी दो रचनायें हल्दी घाटी (1941) तथा जौहर (1944) काफी महत्वपूर्ण हैं। ये रचनायें उस समय प्रकाशित हुई जब राष्ट्रीय आन्दोलन अपने चरम पर था और जिसकी जड़ें सामान्य जनमानस में काफी गहराई तक पैठ चुकी थीं। पाण्डेय की रचनाओं का कथानक मध्यकालीन इतिहास के राजपूत नायकों के कृतित्व पर आधारित है। जिसमें उस दौर के मुस्लिम शासन के विरुद्ध उनके संघर्ष को रूपायित किया गया है। स्वाभाविक है कि उनका झुकाव हिन्दूवादी है, यद्यपि कि इसके पीछे कोई पूर्वाग्रह नहीं बल्कि स्थितियों की सहज अभिव्यक्ति है। यहाँ पर प्रसिद्ध हिन्दी समीक्षक शिवप्रसाद सिंह के विचारों को उद्धृत करना समीचीन है — "मैं अगर शेक्सपीयर की निन्दा ऍंग्लो सेक्शन की उच्चता पर अपेक्षाकृत अधिक बल देने के लिये नहीं कर सकता तो श्याम नारायण पाण्डेय की हल्दी घाटी और जौहर को मैं अराष्ट्रीय कहने का झूठ कैसे बोलूँ ?"[265]

इसी पृष्ठभूमि में पाण्डेय जी के वैचारिक पहलू को समझा जा सकता है। जौहर की भूमिका में वे लिखते हैं – "जौहर अपनी आर्य संस्कृति के संरक्षण में सहायक होगा और संस्कृति के पुजारियों की कमी नहीं। इसलिये इसका प्रचार स्वयंसिद्ध है।"[266] अपने इस लेखन कर्म से वे खुद को गौरवान्वित महसूस करते हैं – "मुझे इस बात का अभिमान है कि जौहर लिखकर मैंने अपनी संस्कृति की पूजा की है।"[267] ऐसा इसलिये कि वे भारतीय संस्कृति के अनुरूप प्रताप एवं पद्मिनी को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते है – "हल्दी घाटी लिखकर मैंने जनता के सामने एक भारतीय वीर पुरुष का आदर्श रखा और 'जौहर' लिखकर एक भारतीय सती नारी का, इसलिये नहीं कि कोई छन्दों के प्रवाह में झूम उठे बल्कि इसलिये कि भारतीय पुरुष प्रताप को समझें और भारतीय नारियाँ पद्मिनी को पहचाने।"[268]

मध्यकालीन इतिहास के एक प्रमुख चरित्र मेवाड़ के महाराणा प्रताप के माध्यम से उस समय की राजनीतिक स्थिति एवं संघर्ष को उन्होंने बड़े प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति दी है। यद्यपि कि हिन्दू मुस्लिम संघर्ष को सीधे–सीधे साम्प्रदायिक रूप में उन्होंने वर्णित नहीं किया है, किन्तु वर्तमान समय में उनकी भाषा, शैली एवं प्रतीकों का प्रयोग इस सामाजिक सच की ओर न केवल इशारा करता है बल्कि बढ़ाने में भी सहायक था। पाण्डेय जी ने इतिहास की जिन घटनाओं को विषय बनाया है उन्हें पढ़कर किसी भी पाठक के अन्दर स्वाभाविक उत्तेजना फैल सकती है। महाराणा प्रताप को उन्होंने एक ऐसे राष्ट्रीय नायक के रूप में प्रस्तुत किया है जो विदेशी शासन (मुगल शासन) के विरुद्ध संघर्षरत है। वह भी ऐसी स्थिति में जबकि तमाम राजाओं ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है – "मेरे सेनापति ! क्या तू नहीं जानता था कि मुगल सम्राट अकबर तुझको निगल जाना चाहता है ? क्या तुझको नहीं मालूम था कि अपने गौरव और अभिमान को लात मारकर कितने राजपूत महीप मुगलों की चरण सेवा कर रहे हैं।"[269]

पाण्डेय जी मध्यकालीन इतिहास की स्थिति से व्यथित थे, इसलिये उन्होंने अपने नायक (राणा प्रताप) को उस स्थिति से देश को उबारने के लिये संघर्ष करते हुये दिखाया है – "तूने उसी दिन राजपूत सरदारों के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरी रगों में रक्त प्रवाहित होता रहेगा, धर्म को तिलाञ्जलि नहीं दे सकता वैभव के लोभ से शिशोदिया कुल को कलंकित नहीं कर सकता, क्षणिक सुख की लालसा से माँ के पवित्र दूध का तिरस्कार मुझसे नहीं होगा, भगवान एकलिंग को छोड़कर संसार के किसी भी सम्राट के सामने

मेवाड़ अपना मस्तक नही झुका सकता।"[270] पराजित होने के बाद भी उनके मन मे पराधीनता की पीड़ा बसी है – "या बॅधी हुई है अरि की/जिसके कर मे हथकड़ियाँ/उस पराधीन जननी की/बिखरी आँसू की लड़ियाँ"[271] फिर भी मन में लड़ने का संकल्प है – "पर हॉ जब तक हाथों में/मेरी तलवार बनी है ..... तब तक अरि दीप बुझाना/है बन–बन कर परवाना"।[272] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी ने इस संघर्ष को केवल मध्यकाल में नहीं देखा है बल्कि सतत संघर्ष के रूप में देखा है क्योंकि जौहर में भी इसी तरह का भाव व्यक्त किया है। जहाँ अलाउद्दीन को रावण एवं उसकी सेना को डाकू दल के रूप में चित्रित किया है – "जागो सदल बल रावण आया"[273] और "उठो डाकुओं ने जननी की/निधियों पर डाका डाला।"[274] इस प्रकार एक धर्म विशेष के लोगों को वर्तमान काल में ऐसा सम्बोधन खटकने वाली बात है।

श्याम नारायण पाण्डेय ने उन स्थितियों की भी चर्चा की है, जिसमें मुस्लिम शासन को स्थापित होने का अवसर मिला, इसके लिये वे आन्तरिक फूट को जिम्मेदार मानते हैं। हल्दी घाटी में वे ऐसे शासकों को धर्मपतित मानते हैं, जिन्होंने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है और संघर्ष करने वाले राणा प्रताप उनके लिये जाति, धर्म एवं स्वतंत्रता के रक्षक हैं – "धर्मवीर ! उदय सागर के तट पर धर्मपतित मानसिंह का तूने इसलिये तिरस्कार किया था कि वह अपने साथ तुझको भी भोजन कराकर धर्मच्युत बनाना चाहता था ...... क्योंकि वह अपने ही भाइयों के रक्त से सींचकर मुगल साम्राज्य को पुष्ट कर रहा था।"[275] वह स्वयं महाराणा प्रताप से कहलाते हैं – "कहाँ रहे जब स्वतन्त्रता का/मेरा बिगुल बजा था/जाति धर्म के मुझ रक्षक को/तुमने क्या समझा था।"[276] इतना ही नहीं धार्मिक विद्वेष की स्थिति की चर्चा भी इस रूप में करते हैं कि केवल मुगलों की अधीनता स्वीकार कर लेने मात्र से ही राणा उसे धर्मभ्रष्ट भी मान लेते हैं – "इधर महाराणा प्रताप ने/सारा घर खुदवाया/धर्मभीरु ने बार–बार/गंगा जल से धुलवाया।"[277] इस तरह के वर्णन वर्तमान परिवेश में सकारात्मक नहीं कहे जा सकते। यहाँ ध्यातव्य है कि राणा का भाई शक्ति सिंह उनसे रुष्ट होकर अकबर के खेमे में चला गया है, यद्यपि कि उसे अपने इस कृत्य पर अफसोस है – शिशोदिया में जन्म लिया/यद्यपि यह है कर्तव्य नहीं,[278] किन्तु आपसी घृणा का हाल यह है कि – "क्राध हुताशन में आहुति/मेवाड़ देश की दूँगा मैं।"[279] बावजूद इसके पाण्डेय जी राणा की प्रशंसा करते है – "गया बन्धु ! पर गया न गौरव/अपनी कुल परिपाटी का।"[280] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी का रुख हिन्दुत्व एवं उसके उद्धारकों के समर्थन का था।

हल्दी घाटी के युद्ध प्रसंग में पाण्डेय जी ने उन तमाम स्थितियों का वर्णन ऐसे शब्दों एवं प्रतीकों के माध्यम से किया है जिन्हें पढ़कर साम्प्रदायिक विक्षोभ फैल सकता है। इस युद्ध के भय से उत्पन्न धर्मान्तरण की चर्चा भी उन्होंने की है – "इसी समर के भय से/कितने देवालय मसजीद हुये।"[281] इसके साथ ही राणा द्वारा मानसिंह का अपमान मात्र इसलिये नहीं होता कि उसने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है बल्कि इसमें धार्मिक दृष्टिकोण भी निहित था क्योंकि राणा द्वारा उसका सम्बोधन इस प्रकार किया जाता है – 'अरे तुर्क ! बकवाद करो मत/खाना हो तो खाओ/या बधना का ही शीतल/जल पीना हो तो जाओ।"[282] स्वयं मानसिंह जिन शब्दों में अपने अपमान की सूचना अकबर को देता है, उससे उसके प्रति राणा की घृणा की सूचना मिलती है – "तेरे दर्शन से संताप/तुझको छूने से है पाप/हिन्दू जनता का परिताप/तू है अम्बर कुल पर शाप।"[283] ऐसा इसलिये है कि उसने अकबर का दासत्व स्वीकार किया है – "स्वामी है अकबर सुल्तान/तेरे साथी मुगल पठान/..... म्लेच्छ वंश का तू सरदार/तू अपने कुल का अंगार।"[284] इस प्रकार का वर्णन साम्प्रदायिकता से मुक्त नहीं कहा जा सकता है।

इस बात की पुष्टि पाण्डेय जी के विचारों से भी होती है। उनकी दृष्टि में यह संघर्ष धर्म की रक्षा के लिये हो रहा था – "इसलिये कि कहीं अधर्म की वेदी पर धर्म का बलिदान न हो जाय।"[285] इसलिये वे राणा को 'हिन्दू सूर्य'[286] का सम्बोधन करते हैं तथा इस बात पर बल देते हैं – "तेरे जीवन की एक–एक घटना संसार के लिये एक आदर्श है और हिन्दुत्व के लिये गर्व की वस्तु है।"[287] इसीलिये वे हल्दीघाटी युद्ध में राणा द्वारा विशेष शत्रु मानसिंह की खोज का वर्णन करते हैं, जिसने, धर्म, जाति एवं देश के साथ अपघात किया है – "महाकाल ! .... यह था देश द्रोही मानसिंह, जिसकी तलवार अपनी ही जाति के रक्त की प्यास से व्याकुल हो रही थी, जिसको मेवाड़ की स्वतन्त्रता खटक रही थी, जिसको अपनी जाति का गौरव अखर रहा था और जिसका हृदय हिन्दुत्व को मिटाकर ही संतुष्ट होना चाहता था।"[288] जब मानसिंह ने भागती मुगल सेना को रोककर राणा के पराजय की पृष्ठभूमि बना दी तो पाण्डेय जी उसकी भर्त्सना करते हैं – "भगती सेना को रोक तुरत/ लगवा दी भैरव काय तोप/ उस राजपूत कुल घातक ने/ हा महाप्रलय सा दिया रोप।"[289] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी को न केवल विदेशी शासन के प्रति क्षोभ है बल्कि उसका साथ देने वाले स्वधर्मी लोगों के प्रति रोष भी है।

इसी तरह जौहर का कथानक तेरहवीं शताब्दी के इतिहास से लिया गया है। इसमें खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन की रूप लिप्सा के बहाने तत्कालीन संघर्ष को स्वर दिया गया है। मेवाड़ नरेश रावल रतन सिंह की रूपसी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये अलाउद्दीन द्वारा मेवाड़ पर आक्रमण किया जाता है। यद्यपि यह महाकाव्य वीर एवं करुण रस का अद्भुत समन्वय है, किन्तु जिस प्रकार का वर्णन किया गया है उससे सहज धार्मिक एवं साम्प्रदायिक उद्वेलन से इन्कार नहीं किया जा सकता। जब रावल रतन सिंह को छल द्वारा बन्दी बना लिया जाता है, तो पद्मिनी राजपूतों को ललकारती है – "आखेट खेलते हुये रावल का शत्रु की हथकड़ियों में बँधकर कारागृह में बन्द रहना आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य है उनकी मुक्ति जो तुम्हारी तलवारों के साथ म्यानों में सो रही है।"[290] इतना ही नहीं वह इस स्थिति को कलंक मानती है – "क्षत्राणियों के सीने का दूध कलंकित करके राजपूतों का जीना मृत्यु से भी भयंकर एवं घृणित है।"[291] इस पर उसके सैनिकों का प्रत्युत्तर भी कम उत्तेजक नहीं है – "देवि ! तू इशारा कर हम दुश्मनों के ऊपर मौत की तरह दौड़ें .... हम विद्युत गति से निकलें और खिलजी के पड़ावों में आग लगा दें।"[292]

दूसरी ओर अलाउद्दीन की निर्दयता एवं नृशंसता का वर्णन किसी भी सामान्य पाठक को साम्प्रदायिक मनः स्थिति में ला सकता है। अलाउद्दीन की यह घोषणा भी इसी कोटि की है – "चितौड़ को ध्वंस किये बिना जीते जी मै दिल्ली में पैर नहीं रखूँगा और राजपूतों के खून से नहाये बिना जो कोई लौटेगा उसकी बोटी–बोटी काटकर कुत्तों के सामने डाल दूँगा।"[293] इसके पहले भी वह राजपूतों को धमकी देता है – 'राजपूतों तो समझ लो जान लो/ धूल में मिल जायेगी राजधानी।"[294] लेकिन इस धमकी से राजपूत विचलित नहीं होते और युद्ध करते हैं तो पाण्डेय जी उनकी प्रशंसा करते हैं – "दावा सी अरि की सेना थी/तरु के समान थे राजपूत/जल गये खड़े पर कभी एक/ डग भी न हटे पीछे सपूत।"[295] इतना ही नहीं अलाउद्दीन की निर्दयता के कारण ही चित्तौड़ की नारियाँ अपनी रानी के साथ जौहर व्रत करने के लिये विवश हुईं – "जौहर व्रत के लिये विकल/इस ओर सरोरुह मुखी हुई।"[296] मध्यकालीन यह नृशंसता इतनी त्रासद थी कि इस कथा को सुनने वाला पथिक उत्तेजित हो जाता है – "अभी–अभी उसकी पशुता का/मानव तो बदला लूँगा/निष्ठुर के पाषाण हृदय में/भाला नोक हला दूँगा।"[297] इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इस रचना को पढ़ने के बाद कैसा भाव उत्पन्न हो सकता है।

इतना ही नहीं पाण्डेय जी अपनी इन सर्जनाओं पर गौरव की अनुभूति करते हैं, लेकिन वर्तमान स्थिति पर उन्हें क्षोम था क्योंकि उनका उद्देश्य हिन्दुओं में जागृत उत्पन्न करना था, किन्तु उनकी दृष्टि में ऐसा नहीं हो सका – "लेकिन खेद डरपोक हिन्दुओं में न वैसी जागृति ही देखने को मिली, न वैसा जोश ही। राजपूतों की वीरता अब कहानी सी रह गयी है, कहने सुनने के लिये।"[298] इतना ही नहीं उनकी नायिका (जौहर की पद्मिनी) अपनी कापुरुष सन्तानों से घृणा भी करती है – "प्रथम घृणा करती, पर फिर/चिन्ता से व्याकुल होती/अपनी हिजड़ी सन्तानों पर/फूट–फूटकर रोती है।"[299] क्योंकि तमाम प्रोत्साहनों के बाद भी – "तुड़वा सकी न कापुरुषों से/जननी की जंजीरों को/समाधियों से जगा रही है/जौहर के रणधीरों को।"[300] यहाँ स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में लिखी गयी इस रचना से केवल वर्तमान की पराधीनता से ही सरोकार नहीं है, बल्कि पूर्व की गलती को सुधारने का भी आह्वान है क्योंकि हल्दीघाटी में उन्होंने लिखा है – "मानसिंह की फूफी से/अकबर ने कर ली थी शादी/अहो तभी से भाग रही है/हमसे कोसों आजादी।"[301]

यद्यपि पाण्डेय जी की रचनाओं में उनका झुकाव हिन्दू नायकों की तरफ है किन्तु उन्होंने दूसरे पक्ष के उत्तम गुणों को भी श्लाघ्य माना है। अकबर की प्रशंसा में वे कहते हैं – "अखिल हिन्द का था सुल्तान/मुगल राजकुल का अभिमान/बढ़ा चढ़ा था गौरवमान/उसका कहीं न था उपमान।"[302] उसकी धार्मिक नीति की भी प्रशंसा करते हैं – "इससे बढ़ा सुयश विस्तार/दीन इलाही का सत्कार/बुध–जन को तज–राज विचार/सबने किया सभय स्वीकार।"[303] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिपक्ष का जो वर्णन किया है वह साक्ष्यों के आलोक में न की किसी पूर्वाग्रह के कारण।

यहाँ शिवप्रसाद सिंह को उद्धृत करना प्रासंगिक है – "कोई किसी को पूजे, उसके वर्चस्व का गान करे वह उसका व्यक्तिगत अधिकार है। चर्चा एकांगी तब होती है जब हम भूल जाते हैं कि राष्ट्रनायकों को भुलाना समीक्षकों के लिये वरेण्य भले ही हो जनता उस वरेण्यता पर निरर्थकता का ठप्पा लगाकर एक तरफ फेंक देती है। इसी जनमानस को हिलोरकर उसमें ज्वार–भाटा उठाने की क्षमता कविवर श्याम नारायण पाण्डेय में थी और इसी कारण उनके दो महाकाव्य हल्दीघाटी और जौहर अधिविस्मरणीय बने रहेगे।"[304]

निश्चित रूप से राष्ट्रीय संघर्ष के दौर में इन महाकाव्यों से लोगों को प्रेरणा मिली, किन्तु इसके साथ ही यह ध्यान देना भी, आवश्यक है कि जिस समय इन रचनाओं का प्रकाशन हुआ "दो राष्ट्र सिद्धान्त" अस्तित्व में आ चुका था और साम्प्रदायिक दृष्टि से देश की स्थिति काफी संवेदनशील थी, ऐसे में इन रचनाओं में जिन प्रतीकों एवं शैली का प्रयोग किया गया है, वह खटकने वाली बात है।

सन्दर्भ

1. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, 1966, पृ. 462
2. सरस्वती, इलाहाबाद, अप्रैल 1910, पृ. 169.
3. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1989, पृ. 13.
4. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 462.
5. वही.
6. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 15.
7. अग्रवाल मीना, बंग्ला नवजागरण और भारतेन्दु, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण संपा. शंभूनाथ, अशोक जोशी में, आनेवाला कल प्रकाशन, कलकत्ता, 1986, पृ. 51.
8. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, पृ. 28.
9. व्यास रामशंकर, भारतेन्दु की जीवनी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1112.
10. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? भारतेन्दु समग्र, पृ. 1011.
11. शर्मा रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1956, पृ. 113.
12. वही, पृ. 21–22.
13. शंभू नाथ, 1857 का राष्ट्रीय जागरण और भारतेन्दु, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ. 27.
14. वही, पृ. 36.

15. वही. पृ. 28.

16. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारत दुर्दशा, भारतेन्दु समग्र, पृ. 461.

17. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, अंधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531.

18. उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र.

19. सीतारमैया, पी., कांग्रेस का इतिहास, अनुवादक — श्री हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1936, पृ. 40.

20. मिश्र शिवकुमार, भारतेन्दु अन्तर्विरोधों के बीच, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ. 62.

21. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, प्रबोधिनी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 211, यह कविता 1874 में पहली बार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुई.

22. वही, पृ. 211, ये पंक्तियाँ भारतेन्दु के 'भारत जननी' नाटक में भी मिलती हैं। भारतेन्दु समग्र, पृ. 473.

23. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, भारतेन्दु समग्र, पृ. 228, यह कविता 1877 में हिन्दी वर्द्धिनी सभा में हिन्दी के प्रचारार्थ लिखी गयी.

24. भारत दुर्दशा, भारतेन्दु समग्र, पृ. 461.

25. वही, पृ. 462.

26. वही, पृ. 463.

27. अंधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531.

28. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, मान सोपायन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 225, यह कविता 1888 में प्रिन्स आफ वेल्स क आगमन पर उन्हें समर्पित की गयी थी.

29. हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, भारतेन्दु समग्र, पृ. 229.

30. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, कुतुबुद्दीन का राज, भारतेन्दु समग्र, पृ. 267.

31. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारत जननी', भारतेन्दु समग्र, पृ. 475, यह नाटक पहली बार 1877 में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुआ था.

32. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, नीलदेवी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 479, यह नाटक पहली बार 1881 में प्रकाशित.

33. वही, पृ. 480.

34 वही, पृ. 483.

35. वही, 488.

36. अंधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531.

37. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 34.

38. प्रबोधिनी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 211.

39. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, सरयूपार की यात्रा, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1039, यह यात्रा वृतान्त 1879 में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में छपा था।.

40. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, श्री राजकुमार शुभागमन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 216, यह कविता 1875 में प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन पर लिखी गयी थी.

41. श्री बाबू रामदीन सिंह को भारतेन्दु द्वारा लिखा पत्र,भारतेन्दु समग्र, पृ0 1077.

42. भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? भारतेन्दु समग्र, पृ. 1012.

43. वही, पृ. 1013.

44. वही.

45. वही.

46. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन भारतेन्दु समग्र, पृ. 25.

47. उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ. 61.

48. श्रीवास्तव शिखा, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध की भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित) डी.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इ.वि.वि., 1982, पृ. 15.

49. वही, पृ. 46.

50. कीर्ति लता, भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1967, पृ. 67.

51. हरिऔध अयोध्या सिंह उपाध्याय, आर्यपंचक, काव्योपवन, संगविलास प्रेस, बॉकीपुर, 1909, पृ. 162–63.

52. वही, पृ. 167.

53. वही, पृ. 164–66.

54. हरिऔध, प्रियप्रवास, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, 1941, (प्रथम संस्करण 1914) पृ. 181.

55. हरिऔध, सुशिक्षा सोपान, पद्य प्रमोद, प्रकाशक ग्रन्थमाला, बाँकीपुर, 1917, पृ. 102.

56. हमें चाहिये, प प्रमोद, पृ. 167.

57. आरम्भ शूरता, सुविचार संग्रह, पृ. 35.

58. हरिऔध, जीवन स्रोत, विद्यालय, पद्य प्रसून, हिन्दी पुस्तक भंडार, लौहरिया सराय, दरभंगा, 1925, पृ. 29.

59. जातीयता ज्योति, जीवन–मरण, पद्य प्रसून, पृ. 30–32.

60. दिल के फफोले, पद्य प्रसून, पृ. 55–56.

61. क्या से क्या, पद्य प्रसून, पृ. 167.

62. प्रेम, पद्य प्रसून, पृ. 171.

63. हरिऔध, चुभते चौपदे, संगविलास प्रेस, पटना, 1924, पृ. 237.

64. जीवनस्रोत, विद्यालय, पद्य प्रसून,पृ. 27–30.

65. जीवन–मरण, पद्य प्रसून, पृ. 35.

66. परिवर्तन, पद्य प्रसून, पृ. 43.

67. समझ का फेर, पद्य प्रसून, पृ. 61.

68. सेवा, पद्य प्रसून, पृ. 66.

69. जातीयता ज्योति, गौरव गान, पद्य प्रसून, पृ. 150–51.

70. प्रेम, पद्य प्रसून, पृ. 171–75.

71. कीर्ति लता, वही पुस्तक, पृ. 195.

72. हरिऔध, मंत्र साधन, सिद्धि साधना, कल्पलता, गंगा ग्रंथागार, 1937, पृ. 134.

73. त्यागभूमि, कल्पलता, पृ. 39.

74. शिक्षा का उपयोग, कल्पलता, पृ. 41.

75. मुरली की तान, कल्पलता, पृ. 74.

76. जीवन संग्राम, जीवन रणनाद, कल्पलता, पृ. 125.

77. राजस्थान, कल्पलता, पृ. 134.

78 हृदय वेदना, कल्पलता, पृ. 27.

79 दीपमाला, कल्पलता, पृ. 145–46.

80. हरिऔध, विजया पवित्र पर्व, प्रका. राम नारायण लाल, इलाहाबाद, 1941, पृ. 4.

81. होली, पवित्र पर्व, पृ. 50–51.

82. होलिका दहन, पवित्र पर्व, पृ. 53.

83. कीर्तिलता, वही पुस्तक, पृ. 24.

84. प्रेम चन्द, साम्प्रदायिकता एवं संस्कृति, विविध प्रसंग, भाग 3, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद,पृ. 232.

85. युगेश्वर डॉ., सबके प्रेमचन्द, भारतीय साहित्य आस्थान, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1983, पृ. 84.

86. जनाब हिदायतुल्लाह का भाषण, 18 दिसम्बर 1933 के जागरण में विस्तार से दिया गया है.

87. जागरण, 22 जनवरी 1934.

88. जमाना, फरवरी 1924.

89. जागरण, 11 दिसम्बर 1933.

90. हंस, इलाहाबाद, मार्च 1931.

91. चिट्ठी पत्री, भाग दो, पृ. 32.

92. वही, पृ. 82.

93. प्रेम चन्द, इस्लाम का विषवृक्ष, विविध प्रसंग, भाग दो, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 414–16.

94. वही, पृ. 357–63.

95. इस सम्बन्ध में नवम्बर 1931 के हंस का हिन्दू–मुस्लिम एकता, 19 अक्टूबर 1932 के जागरण का मुस्लिम सर्वदल सम्मेलन, 31 अक्टूबर 1932 के जागरण का एकता सम्मेलन, दिसम्बर 1932 के हंस का प्रयाग सम्मेलन तथा 12 दिसम्बर 1932 के जागरण के 'मुस्लिम जनता में एकता सम्मेलन का समर्थन' लेख द्रष्टव्य हैं.

96. इस सम्बन्ध मे जमाना, फरवरी 1924 का 'मनुष्यता का अकाल', हंस मार्च 1921, का नवयुग, जागरण 26 अक्टूबर 1932 का राष्ट्रीय समन्वय लेख, द्रष्टव्य हैं.

97. प्रेम चन्द, स्मृति का पुजारी, मानसरोवर भाग 4, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 298.

98. देवी शिवरानी, प्रेमचन्द घर में, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1983, पृ. 96.

99. **कायाकल्प उपन्यास का रचनाकाल 1924–25 है और मंदिर–मस्जिद कहानी अप्रैल 1925 में माधुरी में प्रकाशित हुई थी.**

100. **कायाकल्प, प्रेमचन्द रचनावली खण्ड 4,पृ. 131.**

101. वही, पृ. 275–76.

102. मंत्र, मानसरोवर, भाग 5, पृ. 49–60.

103. चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ. 132.

104. जमाना, फरवरी 1924, विविध प्रसंग भाग 2, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 352.

105. वही.

106. कायाकल्प, पृ. 29.

107. वही, पृ. 31.

108. वही, पृ. 23.

109. वही, पृ. 188.

110. वही.

111. वही.

112. मंदिर और मस्जिद, गुप्तधन भाग दो, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 161.

113. हिंसा परमोधर्मः, मानसरोवर, भाग 5, पृ. 61.

114. कायाकल्प, पृ. 40.

115. वही, पृ. 23.

116. प्रेम चन्द, कर्मभूमि, हंस प्रकाशन, 1981, पृ. 312.

117. कायाकल्प, पृ. 265–66.

118. वही, पृ. 266.

119. विविध प्रसंग, भाग दो, पृ. 356.

120. प्रेम चन्द, सेवासदन, हंस प्रकाशन, 1962, पृ. 174.

121. वही, पृ. 249.
122. जमाना, 18 फरवरी 1924, कायाकल्प, पृ. 313.
123. साम्प्रदायिकता और स्वार्थ, विविध प्रसंग, भाग दो, पृ. 43—51.
124. हंस, अप्रैल 1930, पृ. 65.
125. हंस, मार्च 1931, पृ. 61.
126. चन्द्र बिपन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली 1996, पृ. 173.
127. हंस, सितम्बर 1931, पृ. 73—74.
128. हंस, अक्टूबर 1931, पृ. 61—62.
129. हंस, नवम्बर 1931, पृ. 66.
130. विविध प्रसंग भाग दो,पृ. 380.
131. हंस, जुलाई 1934, पृ. 66.
132. कायाकल्प पृ. 27.
133. गांधी महात्मा, यंग इंडिया, 28 जुलाई 1921, देखिये, प्यारेलाल, महात्मा गांधी : लास्ट फेज, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, 1958, पृ. 129.
134. कायाकल्प, पृ. 24.
135. प्यारे लाल, वही पुस्तक, पृ. 120.
136. जमाना, फरवरी 1924, विविध प्रसंग, भाग दो, पृ. 352.
137. कर्मभूमि, पृ. 222—23.
138. मंदिर और मस्जिद, गुप्त धन, भाग दो, पृ. 163.
139. वही, पृ. 167.
140. विविध प्रसंग, भाग दो, पृ. 374.
141. जागरण 29 अगस्त 1932, विविध प्रसंग भाग दो, पृ. 382.
142. कायाकल्प, पृ. 44.
143. कर्मभूमि.
144. शर्मा, राजेन्द्र नारायण, सुमित्रा पत्रिका, जुलाई 1915, उद्धृत पृ. 18.
145: प्रेम शंकर, प्रसाद का काव्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ. 43.

146. वही, पृ. 32—32.

147. व्यास विनोद शंकर, प्रसाद और उनके समकालीन, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी,सं. 2017,पृ. 36.

148. इन्दुकला—3, किरण—5, अप्रैल 1912, पृ. 402.

149. प्रसाद, रत्न शंकर (संपा), प्रसाद वाङ्मय खण्ड 3, लोकभारती, इलाहाबाद, 1986, प्राक्कथन सत्यप्रकाश मिश्र द्वारा, पृ. 11.

150. प्रेमशंकर, वही पुस्तक, पृ. 324.

151. प्रसाद, जयशंकर, काव्य कला एवं अन्य निबन्ध, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1939, पृ. 146.

152. सिंह अवधेश प्रसाद, प्रसाद की इतिहास दृष्टि, समकालीन सृजन, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और प्रसाद, संयुक्तांक 4—6 अक्टूबर 88, जून 89, संपा. शंभूनाथ, पृ. 325.

153. प्रसाद रत्न शंकर, प्राक्कथन, प्रसाद वाङ्मय 3, पृ. 88.

154. वही, पृ. 91.

155. सिंह अवधेश प्रसाद, वही पुस्तक, पृ. 329.

156. वही, पृ. 330.

157. प्रसाद जयशंकर, आमुख, कामायनी, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1993, पृ. 3.

158. मिश्र शिवकुमार, राष्ट्रीय नवजागरण के आलोक में प्रसाद, शंभूनाथ संपादित वही पुस्तक, पृ. 65.

159. शाह रमेश चन्द्र, गीत सृष्टि, प्रसाद की प्रतिभा, संपा. इन्द्रनाथ मदान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1971, पृ. 12.

160. चतुर्वेदी रामस्वरूप, 'प्रसाद निराला अज्ञेय', लोकभारती, इलाहाबाद, 1997, पृ. 18.

161. इरावती, प्रसाद वाङमय—3, पृ. 449.

162. कंकाल, प्रसाद वाङमय—3 पृ. 72.

163. वही, पृ. 57.

164. वही, पृ. 131.

165. प्रसाद जयशंकर, देवरथ, इन्द्रजाल, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1936 पृ. 116.

166. प्रसाद, रत्न शंकर (संपा.) विशाख, प्रसाद वाङमय–2, लोकभारती, इलाहाबाद, 1985, पृ. 166.

167. प्राक्कथन, प्रसाद वाङमय–3, पृ. 11.

168. इरावती, प्रसाद वाङमय–3, पृ. 483.

169. वही, पृ. 490.

170. स्कन्द गुप्त, प्रसाद वाङमय–2, पृ. 573.

171. प्रसाद जयशंकर, कामायनी, पृ. 116.

172. प्रसाद रत्न शंकर, (संपा) अशोक, प्रसाद वाङ्मय–4, लोकभारती, इलाहाबाद, 1999, पृ. 36.

173. चित्तौर का उद्धार, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 35.

174. गुलाम, प्रसाद, वाङ्मय–4, पृ. 47.

175. वही, पृ. 47.

176. चक्रवर्ती का स्तम्भ, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 102–103.

177. ममता, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 124.

178. वही.

179. स्वर्ग के खण्डहर, वाङ्मय–4, पृ. 131.

180. वही, पृ. 135.

181. वही.

182. दासी, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 233.

183. वही, पृ. 236.

184. वही, पृ. 240.

185. वही, पृ. 241.

186. सलीम, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 298.

187. वही, पृ. 299.

188. प्रसाद रत्नशंकर (संपा) महाराणा का महत्व, प्रसाद वाङ्मय–1, लोकभारती, इलाहाबाद, 1977, पृ. 131.

189. वही, पृ. 132.
190. वही, पृ. 133.
191. वही, पृ. 137.
192. वही, पृ. 141.
193. वीर बालक, कानन कुसुम, प्रसाद वाङ्मय–1, पृ. 223–24.
194. शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, लहर, प्रसाद वाङ्मय–1, पृ. 376.
195. प्रलय की छाया, लहर, प्रसाद वाङ्मय–1, पृ. 385.
196. वही, पृ. 386.
197. वही, पृ. 394.
198. चन्द्रगुप्त, प्रसाद वाङ्मय–2, पृ. 621.
199. वही, पृ. 622.
200. वही, पृ. 623.
201. वही, पृ. 624.
202. वही, पृ. 636.
203. वही, पृ. 664.
204. प्रायश्चित, प्रसाद वाङ्मय–2, पृ. 57.
205. वही, पृ. 57.
206. वही, पृ. 61.
207. वही, पृ. 62.
208. महाराणा का महत्व प्रसाद वाङ्मय–1, पृ. 142.
209. वही, पृ. 137.
210. ममता, आकाशदीप, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 125.
211. सलीम, इन्द्रजाल, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ. 302–304.
212. खण्डेलवाल विद्या, प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय भावना, भारत बुक डिपो, 1986, पृ. 87.
213. शंभूनाथ, (संपा.), वही पुस्तक, पृ. 11.
214. चेलिसेव ये.पे., सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1982, पृ. 18.

215. वर्मा अर्चना, निराला का अद्वैत और स्वाधीनता संघर्ष, सेमिनार, 16—19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला (अप्रकाशित) पृ. 1.

216. नवल नन्द किशोर, स्वाधीनता आन्दोलन और निराला की कविता (अप्रकाशित) सेमिनार 16—19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला, पृ. 1.

217. नीलाभ, परम्परा मोह और अपने समय से संघर्ष, आजकल, जुलाई 1997, पृ.8.

218. नीलाभ, वही, पृ. 9, निराला के सम्पूर्ण निबन्ध 'प्रबन्धप्रतिमा' में संकलित हैं, जिसमें उन्होंने अन्य समस्याओं के साथ हिन्दू—मुस्लिम समस्या पर भी विचार किया है।.

219. सिंह दूधनाथ, निराला : आत्महन्ता आस्था, लोकभारती, इलाहाबाद, 1972, पृ. 141.

220. वही.

221. वही, पृ. 141—42.

222. निराला सूर्यकान्त त्रिपाठी, शिवाजी का पत्र, परिमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997 (पुनरावृत्ति) पृ. 181.

223. वही, पृ. 176—77.

224. सिंह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ. 142.

225. निराला, शिवाजी का पत्र, परिमल, पृ. 181.

226. वही, पृ. 176.

227. वही, पृ. 188.

228. वही, पृ. 177—79.

229. वही, पृ. 166.

230. निराला, तुलसीदास, पृ. 11.

231. निराला, शिवाजी का पत्र, पृ. 179.

232. वही, पृ. 175.

233. निराला, तुलसीदास, पृ. 11.

234. वही, पृ. 11.

235. वही, पृ. 12.

236. वही.

237. निराला, शिवाजी का पत्र, पृ. 179.

238. नीलाभ, वही लेख, पृ. 8.

239. वर्मा अर्चना के लेख में उद्धृत, पृ. 1.

240. वही, पृ. 1.

241. सिंह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ. 144.

242. नीलाभ, वही लेख, पृ. 10.

243. खरे विष्णु, उद्धृत, निराला की राष्ट्रीय चेतना, कात्यायनी, सेमिनार 16—19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला, पृ. 1.

244. नवल नन्द किशोर (संपा.), निराला रचनावली, भाग—6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 306.

245. नवल नन्दकिशोर (संपा.) निराला रचनावली, भाग 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 63.

246. वही, पृ. 65.

247. वही, पृ. 66.

248. वही, पृ. 396.

249. नीलाभ, वही लेख.

250. निराला, शिवाजी का पत्र, पृ. 181—82.

251. सिंह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ. 141.

252. नीलाभ, वही लेख, पृ. 9—10.

253. कँवल भारती, उद्धृत निराला की मुक्ति चेतना, कात्यायनी, आजकल, जुलाई 1997, पृ. 18.

254. कात्यायनी, निराला की राष्ट्रीय चेतना, पृ. 3.

255. वही, पृ. 7—8.

256. पाण्डेय गंगा प्रसाद, महाप्राण निराला, साहित्यकार संसद प्रयाग संवत् 2006, महादेवी वर्मा का कथन,पृ. 9.

257. नवल नन्दकिशोर (संपा.), निराला रचनावली भाग 1, राजकमला प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 232.

258. निराला रचनावली, भाग 6, पृ. 433.

259. वही, पृ. 403.

260. कात्यायनी, वही लेख मुक्तिचेतना–, पृ. 19.

261. निराला रचनावली, भाग 6, पृ. 146.

262. वही, पृ. 383.

263. शर्मा रामविलास, निराला की साहित्य साधना भाग–2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1972, पृ. 52.

264. नीलाभ, वही लेख, पृ. 10.

265. सिंह शिवप्रसाद, जौहर एक पुरानी संवेदना का नवीन आख्यान, उद्धृत जौहर, श्याम नारायण पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1997, पृ. 7.

266. पाण्डेय श्याम नारायण, आवृत्ति पर आवृत्ति, जौहर, पृ. 12.

267. कथावस्तु, जौहर, पृ. 29.

268. वही, पृ. 28.

269. पाण्डेय श्याम नारायण, हल्दीघाटी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण 1998 भूमिका, पृ. 7.

270. वही, पृ. 10.

271. वही, पृ. 165.

272. वही, पृ. 166.

273. जौहर, पृ. 182.

274. वही.

275. भूमिका, हल्दीघाटी, पृ. 11.

276. हल्दीघाटी, पृ. 72.

277. वही, पृ. 74.

278. वही, पृ. 38.

279. वही.

280. वही, पृ. 40.

281. वही, पृ. 18.

282. वही, पृ. 72.

283. वही, पृ. 80.

284. वही.

285. भूमिका हल्दीघाटी, पृ. 19.

286. वही, पृ. 17.

287. वही, पृ. 18.

288. वही, पृ. 15.

289. हल्दीघाटी, पृ. 126.

290. कथावस्तु, जौहर, पृ. 14.

291. वही, पृ. 15.

292. वही.

293. वही, पृ. 14.

294. जौहर, पृ. 52.

295. वही, पृ. 78.

296. वही, पृ. 137.

297. वही, पृ. 125.

298. भूमिका हल्दीघाटी, पृ. 26.

299. जौहर, पृ. 188.

300. वही, पृ. 182.

301. हल्दीघाटी, पृ. 43.

302. वही, पृ. 51.

303. वही, पृ. 59

304. सिंह शिवप्रसाद, वही लेख, पृ. 10

अध्याय—4

आर्थिक परिदृश्य, दलीय राजनीति एवं साम्प्रदायिकता का बदलता स्वरूप

साम्प्रदायिकता के विकास को समझने के लिये आवश्यक है कि सम्बन्धित क्षेत्र की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया जाय। इससे अलगाववादी प्रवृत्तियों को विश्लेषित करने में सहायता मिलती है। इसे पहले संयुक्त प्रान्त एवं उसी क्रम में पूर्वी उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में विवेचित किया जायेगा। इसके साथ ही उन कारकों का विवेचन किया जायेगा, जिसके कारण हिन्दू एवं मुस्लिम समुदाय में संघर्ष की स्थितियाँ पैदा हुईं।

हाल के वर्षो में पाल ब्रास[1] और फ्रांसिस राबिन्सन[2] ने संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम अलगाववाद के प्रश्न पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। ब्रास का यह तर्क है कि संयुक्त प्रान्त के मुसलमान उस समय हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक तीव्रता से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सम्मिलित हो रहे थे। यह इससे पता चलता है कि सरकारी नौकरियों में मुस्लिम भागीदारी उनकी जनसंख्या के अनुपात में चौदह प्रतिशत थी। ब्रास ने यह तर्क भी दिया है कि मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों के पिछड़ेपन को एक मिथक के रूप में देखा, क्योंकि इसी के द्वारा वे (मुस्लिम अभिजात वर्ग) अपनी विशेष स्थिति को बचाये रख सकते थे। लेकिन फ्रांसिस राबिन्सन इस तर्क कि मुस्लिम पिछड़ापन एक मिथक था, से पहले तो असहमत होते हैं किन्तु यह भी दिखाने की कोशिश करते हैं कि मुस्लिम राजनीतिक नेतृत्व ने धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं को न केवल संरक्षित किया, अपितु उसके अनुसार ही आगे की कार्यवाही का निर्धारण भी किया।

यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मुस्लिम अभिजात वर्ग एक संगठित वर्ग के रूप में विकसित नहीं हुआ था, क्योंकि इस समय मुस्लिम राजनीति अलीगढ़ कालेज के नियंत्रण एवं मुस्लिम लीग के नेतृत्व के प्रश्न पर उलझी हुई थी। इसके साथ ही मुस्लिम राजनीति में एक महत्वपूर्ण प्रश्न 'मधे सहाबा' का भी था। यह समस्या 1906 में उद्भूत हुई जब सुन्नी मुसलमानों ने मुहर्रम जुलूस में पहले तीन खलीफाओं की प्रशंसा में नारे लगाये, जो कि शियाओं की धार्मिक भावनाओं पर आघात था। लेकिन यह भी सत्य है कि मुस्लिम राजनेताओं ने उन मुसलमानों की आर्थिक

एवं शैक्षणिक दशाओं पर ध्यान दिया था, विशेषतः जिस वर्ग से वे स्वयं आते थे। जैसे कि जमींदार वर्ग, व्यवसायी वर्ग एवं सरकारी कर्मचारी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम अभिजात वर्ग को एक के बाद एक कुठाराघात झेलने पड़े, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हुई। मुस्लिम अभिजात वर्ग की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव डालने वाली कार्यवाही संयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनेंट गवर्नर एन्थोनी मैकडॉनेल (1986—1901) की उस कार्यवाही से हुई जिसमें उसके द्वारा सरकारी कामकाज की भाषा एवं नौकरियों में नियुक्ति सम्बन्धी नीति में परिवर्तन किया गया। मैकडॉनेल की इस नीति ने जिसमें कि नवनियुक्त सरकारी कर्मचारियों को देवनागरी एवं फारसी दोनों लिपियों का ज्ञान होना आवश्यक था, उन मुस्लिम परिवारों के समक्ष गंभीर समस्या उत्पन्न कर दी जो पहले से ही सरकारी नौकरियों में थे।

जनसंख्या विवरण 1911 एवं 1921 को उद्धृत करते हुये पाल ब्रास ने यह दिखाने की कोशिश की है कि सरकारी नौकरियों एवं व्यवसाय में मुसलमानों की संख्या उनकी जनसंख्या की तुलना में अधिक थी। उनके अनुसार पुलिस बल में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक थी एवं करीब 26 प्रतिशत जमींदार मुस्लिम वर्ग से आते थे। किन्तु लांस ब्रेनेन इससे असहमति प्रकट करते हुये स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि 1911 तक भारतीय संयुक्त प्रान्त के उच्च प्रशासकीय स्तर पर पहुँच नहीं पाये थे। उदाहरण के लिये इस तरह की सत्रह भारतीय नियुक्तियों में 10 हिन्दू, 6 मुसलमान एवं एक पारसी था।[3] दस हिन्दुओं में से 6 ने आई.सी.एस. की परीक्षा इंग्लैंड में रहकर उत्तीर्ण की थी, जबकि एक मुस्लिम ही इसे उत्तीर्ण कर सका था। चार मुसलमानों का मनोनयन स्टेट्यूरी सिविल सेवा में हुआ था, जबकि छठा एक न्यायधीश था और वह भी नीचे से प्रोन्नत होकर आया था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सरकारी नौकरी में मुसलमान अपनी योग्यता के बल पर नहीं, बल्कि मनोनयन के द्वारा आये थे। इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा सेवा एवं लोक निर्माण विभाग के उच्च पदों पर भी मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की तुलना में कम थी।[4]

पुलिस सेवा में यद्यपि कि मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की तुलना में बहुत अधिक थी, किन्तु यह आधिक्य अधीनस्थ पदों पर था क्योंकि 1911 में 78 अधीक्षकों एवं प्रथम ग्रेड सहायक अधीक्षकों में मात्र एक मुसलमान था। इस

तरह पुलिस बल में भी संख्या में अधिक होने के बाद भी इसके निर्देशन को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं थे। सरकारी नौकरियों में साधारण मुसलमानों की संवेदनशीलता के बावजूद मुस्लिम अभिजात वर्ग का एक बड़ा तबका अपने आय के मुख्य स्रोत के लिये भूमि पर निर्भर था। 1911 के जनसंख्या विवरण के अनुसार एक लाख पचहत्तर हजार मुसलमानों की आय का मुख्य स्रोत भूमि था। जोकि सरकारी नौकरियों में कार्यरत मुसलमानों की संख्या का तीन गुना था। लेकिन आय से बढ़कर भूमि का महत्व था। जैसा कि नील ने स्पष्ट किया है कि भूमि का मतलब शासन करना है और भू–स्वामित्व का अर्थ स्थानीय राजनीतिक प्रभाव एवं सामाजिक प्रतिष्ठा थी।[5]

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अंग्रेज सरकार के कुछ कदमों ने मुस्लिम भूस्वामित्व के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डाला। संयुक्त प्रान्त में अंग्रेजों की विस्तार नीति के कारण मुसलमानों का राजनीतिक पतन हुआ और इसका दूसरा पहलू यह भी था कि उनके द्वारा संरक्षित मुस्लिम भूस्वामियों की स्थिति भी कमजोर हुई। उदाहरण के लिये 1774 से 1805 के बीच ब्रिटिश हस्तक्षेप के कारण रुहेलखण्ड से बड़े पैमाने पर मुस्लिम भू स्वामियों को हटा दिया गया। इसी प्रकार 1858 में उन मुस्लिम भूस्वामियों की जमीन जब्त कर ली गयी जहाँ 1857 के विद्रोह में उन्होंने भागीदारी की थी। इस तरह की कार्यवाही ने मुस्लिम भूस्वामियों की आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया।

इस तरह संयुक्त प्रान्त के मुस्लिम अभिजात वर्ग की समस्याओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक उनकी स्थिति विषम थी। आर्थिक रूप से वे अस्थिर थे, क्योंकि प्रान्तीय सेवा, पुलिस बल और जमींदारी इन तीनों ही क्षेत्रों में उनकी स्थिति पहले से ही कमजोर होती जा रही थी। मुसलमान आधुनिक शिक्षा को उतनी तेजी से ग्रहण नहीं कर रहे थे, जैसे हिन्दू कर रहे थे। इसके अतिरिक्त उनकी मातृभाषा उर्दू को अति उत्साही हिन्दुओं का विरोध भी झेलना पड़ रहा था। साथ ही उनके ऊपर भारतीय राष्ट्रीयता द्वारा राजनीतिक शक्ति के लिये संघर्ष भी एक दबाव का कार्य कर रहा था, क्योंकि अल्पसंख्यक होने के कारण किसी भी जनतांत्रिक पद्धति में उनकी स्थिति अच्छी नहीं होने वाली थी।

1893 में प्रारम्भ हुई सीमित निर्वाचन पद्धति द्वारा संयुक्त प्रान्त में कोई भी मुसलमान विधान परिषद में नहीं चुना जा सका। किन्तु 1930 के दशक में संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम अभिजात वर्ग ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया था,

जिसमें पृथक निर्वाचन पद्धति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। राजनीतिक प्रभाव एवं मुसलमानों के हित संरक्षण के लिये उनके संघर्ष ने साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया, जिसे शुद्धि, तबलीग और तंजीम आन्दोलनों ने और हवा दी। इसके साथ ही मुसलमानों के बीच शिक्षा का प्रसार भी हुआ। अलीगढ़ में मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कालेज का खुलना और 1920 में विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित होना, मुसलमानों के बीच शिक्षा के प्रसार एवं महत्व को इंगित करता है, यद्यपि कि इस समय तक यह सरकारी नियंत्रण में था। मुस्लिम राजनेताओं को यह लगातार शिकायत थी कि हिन्दू नियंत्रित स्थानीय निकायों द्वारा मुस्लिम बच्चों की शिक्षा के लिये पर्याप्त कदम नहीं उठाया जा रहा है क्योंकि न तो मुस्लिम शिक्षकों की नियुक्ति की गयी थी, न उर्दू भाषा का उपयोग किया जा रहा था, न मिश्रित स्कूलों में धार्मिक शिक्षा दी जा रही थी।[6]

पूर्वी उत्तर प्रदेश की सामाजिक आर्थिक स्थितियाँ भी कमोवेश इसी प्रकार की थीं। इस समय की अर्थव्यवस्था पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि शेष भारत की तरह यहाँ भी जमींदारों का प्रभाव अत्यधिक था और शेष भारत की तरह इस क्षेत्र में भी सामाजिक और आर्थिक ताने–बाने को औपनिवेशिक शासन ने बुरी तरह प्रभावित किया था। यह क्षेत्र तीन विशिष्टताओं के लिए पहचाना जाता है– 1. कृषि एवं पशुपालन यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय था, 2. कुछ भूस्वामी वर्ग का स्पष्ट प्रभुत्व था 3. औपनिवेशिक शासन के दौरान अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ के भी सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों में दरार आयी। बनारस ही केवल एक ऐसा शहर था जिसकी जनसंख्या तीस एवं चालीस हजार के बीच थी। दो अन्य शहरों मिर्जापुर, जौनपुर में जनसंख्या तीस एवं चालीस हजार के बीच थी, जबकि गाजीपुर में बीस हजार से कुछ अधिक थी। इन शहरों का विकास व्यापार, हस्तशिल्प तथा तीर्थस्थान के कारण हुआ था। इस क्षेत्र में कार्यरत जनता का करीब 80 प्रतिशत कृषि से सम्बन्धित था और मात्र 5 प्रतिशत लोगों की भागीदारी उद्योगों में थी। उदाहरण के लिये बनारस संभाग में जहाँ कि उद्योगों का संकेन्द्रण अच्छा था, वहाँ पर भी 70 प्रतिशत कार्यरत जनता कृषि पर आश्रित थी और मात्र 10 प्रतिशत लोग ही उद्योग धन्धों में संलग्न थे। इस क्षेत्र में नगरों का प्रायः अभाव था। कुछ नगरीय तथा अर्द्धनगरीय संकेन्द्रण था– टाण्डा, मऊ और मुबारकपुर का बुनकर केन्द्र जहाँ कि 1911 में जनसंख्या क्रमशः 19378, 16751 तथा

12562 थी।[7] इनमें आजमगढ़ के मऊ, मुबारकपुर एवं मुहम्मदाबाद में मुसलमान बहुसंख्यक थे, जबकि कोपागंज, चिरैयाकोट और आजमगढ़ के अन्य क्षेत्रों में इनकी संख्या अल्पसंख्यक होने के बाद भी अच्छी थी।

भूमि आर्थिक संसाधन का प्राथमिक स्रोत था। भूमि और उसके उत्पाद के ऊपर अधिकार के लिये ही यहाँ विभिन्न जातियों एवं समुदायों के बीच संघर्ष होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राजपूत, भूमिहार और ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। लेकिन इसी समय इनको कुछ गाँवों पर नियंत्रण के लिये मुसलमान समूहों से संघर्ष करना पड़ रहा था। ऐसे मुसलमान समूहों में स्थानीय धर्मान्तरित मुसलमान एवं बाहर से आये नये मुसलमान शामिल थे। ये लोग समय–समय पर विभिन्न मुस्लिम शासकों से अपने पक्ष में हस्तक्षेप करवाते रहे थे। इस तरह का संघर्ष उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। मुस्लिम जमींदारों के पास अब भी कुछ जमींने थीं, जिनके ऊपर उनका पूर्ण नियंत्रण था, विशेषकर ऐसे क्षेत्रों में जो मुस्लिम प्रशासन के पुराने केन्द्र थे। जैसे– आजमगढ़, गाजीपुर और जौनपुर के कुछ क्षेत्र।

राजपूत ब्राह्मण और भूमिहारों का आर्थिक प्रभुत्व उनकी अधिक संख्या के कारण भी था। यदि राजपूत ब्राह्मण और भूमिहार को पूर्वी उत्तर प्रदेश के जमींदार वर्ग के रूप में माना जाय तो अहीर, कुर्मी और कोइरी ऐसी जातियाँ थीं, जो कृषि का कार्य करती थीं, जबकि चमार और दुसाध जैसे अछूत लोग कृषक मजदूरी और ऐसे ही निम्न कार्य किया करते थे। इस क्षेत्र में मोटे तौर पर समाज को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। 1. शरीफ या अशरफ – जो अभिजात लोगों का समूह था और इसीलिए काफी प्रभावशाली था। 2. राजिल या मेहनतकश लोग। अशरफ में ब्राह्मण, राजपूत भूमिहार, सैय्यद, शेख और वैसे पठान जो पहले राजपूत थे तथा कुछ हिन्दू जातियॉ जैसे कायस्थ। शेष अन्य अहीर से लेकर कुर्मी तक और मुसलमानों में भी ऐसे ही समुदाय जैसे रौतारा तथा कोरी एवं जुलाहा तथा चमार आदि राजिल वर्ग में रखे जा सकते थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक आते–आते मध्यवर्गीय कृषक जातियाँ जैसे अहीर, कुर्मी, कोइरी ने समाज में अपने स्तर सुधारने के लिये सभी तरह के सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठायी थी। उनके इस आन्दोलन ने 1901 में एक निश्चित संगठनात्मक आकार लिया, जब 1901 की जनगणना में विभिन्न जातियों को सामाजिक वरीयता के आधार पर

चिह्नित किया गया। भूमिहार और कायस्थ इस बात से नाराज थे कि उन्हें वैश्य वर्ग में कुर्मी, अहीर, मल्लाह, हज्जाम और कहार के साथ रखा गया था। वैसे अहीर और कुर्मी जो सम्पन्न थे, ने भी नाराजगी जाहिर की कि उन्हें हज्जाम एवं कहार के साथ रखा गया है।[9]

इसी तरह मुस्लिम समाज में निम्न वर्ग के मुसलमान अपने सामाजिक स्तर को सुधारने के लिये कुछ पारम्परिक प्रतीकों को छोड़ने के लिये तैयार थे। जमींदार या रैतारा ने अशरफ वर्ग में दाखिला का दावा किया। 1901 और 1911 के बीच मुसलमान राजपूत अचानक अपने आपको पठान कहने लगे और उपनाम सिंह की जगह खान लिखने लगे। ऐसे निम्नवर्गीय मुसलमान जुलाहा, तेली,नाई आदि ने भी शेख के समकक्ष अपने सामाजिक स्तर को लाने का प्रयास किया, यद्यपि उच्च वर्ग मुसलमान इसको मान्यता नहीं देते थे।

सामाजिक स्तर को सुधारने के लिये किये गये आन्दोलन का व्यवसाय में परिवर्तन के साथ इसी तरह का सम्बन्ध पहले भी रहा था।[10] यातायात व्यवस्था में सुधार और नये औपनिवेशिक संरक्षकों का यह प्रयास कि लोगों के पारम्परिक स्तर को रिकार्ड किया जाय ने ऐसे आन्दोलनों को आगे बढाया। कुछ हद तक यह हिन्दू एवं मुसलमानों में धार्मिक सुधार और पुनरुद्धार के लिये किये गये आन्दोलनों का भी जवाब था। इस तरह के सामाजिक तनाव एवं संघर्ष के बीच कुछ नयी एवं संगठित माँगे भी इस क्षेत्र में की गयीं जिन्होंने साम्प्रदायिक स्थिति को अत्यधिक जटिल बनाया। जैसे कि हिन्दू एवं मुसलमानों की शैक्षणिक संस्थाओं का खोलना तथा देवनागरी लिपि को सरकारी कार्यकलाप की भाषा के रूप में अपनाना। इसी प्रकार गोरक्षा का प्रसार एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा, जिससे समाज के विभिन्न वर्ग इससे जुड़े तथा इसके कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश और प0 बिहार में गंभीर परिणाम हुये।

संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और उर्दू भाषा का प्रश्न एक महत्वपूर्ण विवाद का विषय था, जिसने हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच वैमनस्य बढ़ाने में महती भूमिका निभाई। जहाँ एक ओर कट्टर हिन्दू संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा को अपनाये जाने और उसके प्रचार–प्रसार के पक्षधर थे, वहीं दूसरी ओर मुसलमान उर्दू के पक्ष में लामबन्द हो रहे थे। यद्यपि सच यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक हिन्दुओं में जो अभिजात वर्ग था, उसकी भी उर्दू भाषा के ऊपर अच्छी पकड़ थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर प्रदेश के शहरों के प्रमुख लोग न केवल उर्दू भाषा बोलते थे बल्कि लिखते भी थे। उर्दू भाषा में ही

अधिकांश पुस्तकें लिखी गयी थी, अधिकांश अखबार भी उर्दू में प्रकाशित होते थे और उस समय के जो प्रमुख संघ थे, अपनी कार्यवाहियों का लेखा–जोखा उर्दू में रखते थे। उर्दू बोलने वाली संस्कृति के प्रमुख केन्द्र आगरा, इलाहाबाद, मेरठ, मुरादाबाद, बरेली और लखनऊ थे, क्योंकि इन शहरों में ही मुसलमानों की अच्छी जनसंख्या थी साथ ही ये सरकार के केन्द्र भी थे।[11]

उन्नीसवीं शताब्दी का जो प्रभावी वर्ग था, वह जमींदारों और सरकारी नौकरशाहों का वर्ग था, क्योंकि मुख्यतः वे उर्दू भाषा के जानकार थे और इसलिए उनको उर्दू अभिजात वर्ग में रखा जा सकता है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विभिन्न कारणों से इनका प्रभाव धीरे–धीरे कम होता जा रहा था। इनमें से अधिकांश कारण ब्रिटिश शासन के कुप्रभाव में निहित थे। राजनीतिक कारणों के चलते औपनिवेशिक शक्ति ने जमींदारों की शक्ति का निर्माण किया था। लेकिन जैसे ही सरकारी नौकरशाहों ने स्थानीय डाक, सड़क और पुलिस के ऊपर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया, औपनिवेशिक शासन ने जमींदारों की शक्ति को कम करना शुरू किया। इस सन्दर्भ में उल्लेख है कि संयुक्त प्रान्त में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुसलमान जमींदार के रूप में और सरकारी नौकरियों में भी अच्छी संख्या में थे।[12] इसीलिये ब्रिटिश सरकार का यह कदम मुसलमानों के लिये अधिक हानिकारक था।

कुछ क्षेत्रों में यातायात और संचार व्यवस्था के विकास के साथ ही व्यवसाय एवं व्यापार से जुड़े लोगों ने न केवल जमींदारों की तरह महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था, अपितु कुछ स्थानों पर उनकी जमीनों को भी खरीदना शुरू कर दिया था। इस तरह की गतिविधि ने उर्दू भाषी विशेषतः मुसलमानों के ऊपर हानिकारक प्रभाव डाला। सरकार के कुछ कदमों जैसे शिक्षा का विकास, पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था को भारत में लागू करना और क्षेत्रीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने की नीति ने भी उर्दू भाषा–भाषियों के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक रीतियों एवं राजनीतिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसी प्रकार नौकरशाही में सुधार ने भी नौकरशाहों की शक्तियों में काफी कमी थी। स्थानीय स्वशासन में निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण भी उनके (उर्दू भाषा–भाषियों) ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस सन्दर्भ में ध्यान देने की बात है कि इस तरह की सरकारी गतिविधियाँ उर्दू भाषा के खिलाफ जा रही थीं, वहीं दूसरी ओर हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन मजबूती से आगे बढ़ रहा था। इससे भी उर्दू भाषा–भाषियों की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सर्वोच्चता प्रभावित हुई।

हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में हिन्दी भाषा ओर देवनागरी लिपि को न्यायालय की भाषा एवं सरकारी काम—काज की भाषा के रूप में स्थापित करने का प्रयास चल रहा था। हिन्दुओं एवं मुसलमानों के लिये भाषा एवं लिपि का प्रश्न असाधारण महत्व का था। हिन्दुओं के लिये हिन्दी भाषा में अरबी एवं फारसी शब्दों का प्रयोग मुसलमानों की सर्वोच्चता को सिद्ध करता था। इसलिये हिन्दी भाषा के समर्थक देवनागरी लिपि में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक थे और उनके लिये इसका धार्मिक महत्व भी था। दूसरी और मुसलमानों के लिये हिन्दी एक गन्दी भाषा थी, जिसको सीखना अपने सम्मान को नीचा करना था।[13]

प्रारम्भ में मुसलमानों में उर्दू भाषा के लिये बहुत अधिक लगाव नहीं था, जिसमें कि हिन्दी, अरबी और फारसी के शब्द निहित थे। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुसलमानों में उर्दू और फारसी लिपि के लिये लगाव पैदा हो गया और वे लोग इसे मुस्लिम सत्ता के प्रभाव एवं प्रतीक के रूप में देखने लगे। साथ ही उन्होंने उर्दू भाषा को धार्मिक महत्व की दृष्टि से भी देखा क्योंकि उस समय तक यह एक प्रभावकारी भाषा बन चुकी थी। जब 1837 में इस भाषा (उर्दू) ने फारसी को स्थानान्तरित कर दिया तबसे इसका विकास निरन्तर होता गया और 1863 तक प्रकाशित होने वाले 23 अखबारों में 17 उर्दू में प्रकाशित हो रहे थे, जबकि हिन्दी भाषा में मात्र चार अखबार ही प्रकाशित हो रहे थे। यहाँ तक कि एक हिन्दू पुनरुद्धारवादी स्कूल निरीक्षक को यह मानना पड़ा था कि उर्दू हमारी मातृभाषा बनती जा रही थी।[14]

बहुसंख्यक हिन्दू ऐसी प्रवृत्ति को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। 1860 के दशक में वे महसूस करने लगे थे कि फारसी लिपि की मजबूत स्थिति ने उर्दू को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है जो कि उनके हित से मेल नहीं खाता है। उनके अनुसार उर्दू भाषा के विकास ने प्राथमिक शिक्षा के विकास को अवरूद्ध किया है क्योंकि ऐसे स्कूलों के शिक्षक क्षेत्र विशेष की भाषाओं में पढ़ाते थे। क्षेत्र विशेष की भाषा आमतौर पर हिन्दी या उससे मिलती—जुलती बोलचाल की भाषा हुआ करती थी, जिसकी लिपि भी देवनागरी होती थी। इसलिये ग्रामीण जनता को बाद में यह महसूस होता था कि उनकी भाषा का ज्ञान बेकार है, क्योंकि जब वे सरकारी कार्यालयों एवं न्यायालयों में जाते थे, तो वहाँ उनकी भाषा में कार्य नहीं होता था। 1882 में शिक्षा आयोग के समक्ष जितने लोग साक्ष्य देने को उपस्थित हुये उन लोगों ने बनारस के एक गणित प्रोफेसर उमेश चन्द्र सान्याल की बात को ही दोहराया कि— 'प्राथमिक शिक्षा के

परकार ने जनता के बीच अवरोध का काम किया। वे देखते हैं कि हिन्दी का उपयोग व्यवहार में नहीं के बराबर है, जबकि उर्दू इतनी कठिन है कि वे उसको सीखने का भी प्रयास नहीं करते।'[15]

फारसी लिपि और उर्दू भाषा मुसलमानों के लिये सरकारी नौकरी पाने में सहायक सिद्ध हो रही थी। इसलिये हिन्दुओं के बीच यह असन्तोष का कारण बनता जा रहा था। वे चाहते थे कि सरकारी नौकरियों से उर्दू जानने वाले अभिजात्य वर्ग का प्रभुत्व समाप्त हो। इस तरह की मनोवृत्ति का पता उस समय के उग्र हिन्दी समर्थक अखबार 'कवि वचन सुधा' से मिलता है। जिसने एक बार लिखा कि– 'यह सत्य है कि मुसलमान फारसी लिपि की जगह यदि देवनागरी का प्रयोग किया जाता है तो मुसलमान इससे अधिक प्रभावित होंगे, किन्तु उनकी जनसंख्या कम है, इसलिये बहुसंख्यक के हितों को ध्यान में रखा जाना चाहिए और देवनागरी लिपि को आगे बढ़ाना चाहिए।'[16]

प्रायः हिन्दू यह समझते थे कि फारसी लिपि का उपयोग हिन्दी के अस्तित्व के लिये खतरनाक है। जिसे बाद में इन लोगों ने न केवल हिन्दी भाषा अपितु हिन्दुओं और राष्ट्रीयता के लिए खतरे की घण्टी माना। जैसा कि एक हिन्दू नागरिक ने 1868 में लिखा– 'यह एक आकलन मात्र नहीं है कि हिन्दी के अन्त के बाद हिन्दू राष्ट्रीयता का अवसान शुरु हो जायेगा।[17] इससे स्पष्ट होता है कि जनमानस में यह भावना व्याप्त थी कि उर्दू के विकास से हिन्दू राष्ट्रीयता खतरे में थी।

हिन्दी–उर्दू विवाद अपने चरम पर तब पहुँचा जब सर सैयद अहमद खान ने एक प्रस्ताव दिया कि देश में एक क्षेत्रीय भाषा का विश्वविद्यालय होना चाहिए, जिसमें कि उर्दू भाषा को प्रमुख रूप से स्थापित किया जाय। यद्यपि कि सरकार ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, किन्तु साथ ही कई संस्थाओं और प्रमुख लोगों से इस सन्दर्भ में उनके विचार एवं सुझाव माँगे। इस प्रकार पहली बार संयुक्त प्रान्त में लोग यह सोचने के लिये विवश हुये कि उनकी भाषा की उन्नति कैसे हो।

एक बार जब हिन्दू जनमानस इस ढर्रे पर सोचने लगा तो उन लोगों में यह भावना आ गयी कि हिन्दी ही उनकी वास्तविक भाषा है न कि उर्दू। लोग इस सन्दर्भ में कार्य करने के लिये प्ररित होने लगे। उदाहरण के लिये इलाहाबाद इन्स्टीट्यूट अपने कार्य–कलापों का लेखा जोखा देवनागरी लिपि में रखने लगा, जहाँ कि अब तक फारसी का प्रचलन था। इसी तरह बनारस के महाराजा ने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया कि उन्हें भी इस तरह का

परिवर्तन लाने की अनुमति दी जाय। सैयद अहमद के अलीगढ़ साइन्टिफिक सोसाइटी के सहयोगी और मित्र राजा जयकिशन दास ने भी हिन्दी एवं देवनागरी लिपि के पक्ष में जोरदार पैरवी की। उन्होंने यहाँ तक कहा कि सरकारी कार्यालयों से उर्दू भाषा को समाप्त किया जाना चाहिए। बाद में वे संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये भी प्रयत्नशील हुये।

इस तरह जब हिन्दी और देवनागरी लिपि की बात आयी तो बहुत से शिक्षित हिन्दू जो उर्दू भाषा के अच्छे जानकार थे, ने भी हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रबल समर्थन किया। 1868 से 1900 के बीच इसके समर्थन में परचे बाँटे गये। हिन्दी आन्दोलन की उत्पत्ति 1860 के बनारस आन्दोलन से मानी जा सकती है, जिसे बाद में 1868 में एक कोर्ट मेमोरंडम में बाबू शिवप्रसाद ने यह तर्क दिया कि उर्दू और फारसी के प्रयोग से पश्चिम प्रान्त एवं अवध में हिन्दी के विकास और प्रारम्भिक शिक्षा का ह्रास हो रहा है। इस पर्चे में हिन्दी का प्रयोग देवनागरी के पर्याय के रूप में हुआ था। अन्त में शिवप्रसाद ने यह अपील की थी कि फारसी शब्दों को कोर्ट से निकालकर हिन्दी का प्रयोग हो।[18] 1873 में इसी प्रकार का ज्ञापन उत्तर पश्चिम प्रान्त के लेफ्टीनेंट गवर्नर सर विलियम म्योर को दिया गया। इसमें तर्क दिया गया था कि फारसी इस देश के लिये विदेशी भाषा है और इसे सामान्य जन नहीं पढ़ सकते। इसलिये हिन्दी या देवनागरी का प्रयोग हो जो जनसामान्य की भाषा है। इस ज्ञापन में यह कहा गया कि मुसलमान जनसंख्या शायद इसे पसन्द न करे, पर यह परिवर्तन बहुसंख्यक हिन्दुओं के हित में होगा।[19]

हिन्दी आन्दोलन को 1881 में उत्तर प्रान्तों में तब बल मिला जब देवनागरी लिपि को बिहार में सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में मान्यता देनी पड़ी।[20] 1882 में जब विलियम हन्टर की अध्यक्षता में शिक्षा के विकास की समीक्षा के लिये आयोग गठित हुआ तथा जिसे यह भी अधिकार था कि भाषा सम्बन्धी नीति में परिवर्तन की सिफारिश कर सके। इस आयोग के सम्मुख तमाम सम्मानित लोग गवाही के लिये उपस्थित हुये, जिनमें राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सर सैयद अहमद खान प्रमुख थे देवनागरी लिपि एवं हिन्दी समर्थकों द्वारा इसके पक्ष में एक प्रभावी अभियान चलाया गया। आयोग के समक्ष 76 स्मृति पत्र (Memorial) पत्र प्रस्तुत किये गये जिसमें सम्पूर्ण प्रान्त से 58289 लोगों ने हस्ताक्षर किये थे।[21] इन पत्रों में पुराने पर्चों के तर्क को दुहराते हुये शिक्षा आयोग से यह अनुरोध किया गया कि यह जनसमुदाय के हित में प्रान्त में देवनागरी सही एवं उचित भाषा होगी।

इस आन्दोलन का केन्द्र प्रमुख रूप से बनारस था, जहाँ के महाराजा हिन्दी के प्रचार प्रसार के प्रबल समर्थक थे। जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समर्थकों ने हिन्दी भाषा और इसके साहित्य को आगे बढ़ाने का कार्य किया। हरिश्चन्द्र के 'कवि वचन सुधा' बालकृष्ण भट्ट की 'हिन्दी प्रदीप' और 'भारत जीवन' 'भारत बन्धु' आदि ने उर्दू भाषा और सरकार के प्रति आक्रमक रुख अख्तियार किया और साधारण हिन्दू जनमानस में हिन्दी भाषा के प्रति रुचि जाग्रत की। भारतेन्दु का यह मानना था कि यदि उर्दू भाषा न्यायालय की भाषा के रूप में समाप्त कर दी जाय तो मुसलमानों के लिये पेशकार, सरिस्तादार और मुहर्रिर आदि जैसी सरकारी नौकरियां प्राप्त करना आसान नहीं होगा, जिसमें कि उनका एकाधिकार है।[22] इस सन्दर्भ में भारतेन्दु का यह कथन उद्धृत करना समीचीन है– 'मैंने हमेशा शिक्षा के सन्दर्भ में रुचि ली है, मैं एक संस्कृत हिन्दी एवं उर्दू कवि हूँ।' लेकिन उन्होंने इस बिन्दु पर गवाही दी कि 'मैं सैयद अहमद खान के शिक्षा आयोग के समक्ष दिये इस बयान पर दुखी हूँ जिसमें उन्होंने कहा कि उर्दू सभ्य लोगों की भाषा है जबकि हिन्दी असभ्यों की, यह बयान न केवल गलत है बल्कि हिन्दुओं के साथ अन्याय है।''[23] यद्यपि कि शिक्षा कमीशन आयोग द्वारा हिन्दी एवं देवनागरी के पक्ष में निर्णय नहीं किया गया, जिस पर प्रताप नारायण मिश्र की टिप्पणी 'हन्टर ने जो हन्टर मारा/बस टूट गया दिल टुकड़े हुआ हमारा'[24] से जनमानस की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिलती है। साथ ही बनारस की एक हिन्दी साप्ताहिक कि यह चेतावनी, 'यदि सरकार हमारी बात को नहीं सुनती है तो हम जोरदार आवाज में चिल्लायेंगें जिससे कि उसके कानों तक हमारी बात पहुँचे।'[25] उस समय के जनमानस के भाषा के सन्दर्भ में असन्तोष को आवाज देती है।

आयोग के इस दृष्टिकोण पर हिन्दी के समर्थकों ने अभियान चलाया। जिसे संयोग से हिन्दी के प्रति सहानुभूति रखने वाले नये लेफ्टीनेंट गवर्नर सर एन्थनी मैकडॉनेल (1895) का समर्थन मिला। आन्दोलन को गति देने के लिये 1897 में मदन मोहन मालवीय ने हिन्दी उर्दू विवाद के सन्दर्भ में 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन इन नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध' नामक मेमोरन्डम तैयार किया। मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में 17 प्रमुख नागरिकों का प्रतिनिधिमंडल 2 मार्च 1898 को दोपहर में इलाहाबाद में गवर्नर के राजकीय आवास में मैकडॉनेल से मिला।[26] इसमें उन्होंनें इस बात पर बल दिया कि प्राथमिक शिक्षा के विकास में उर्दू के द्वारा अधिकाधिक रुकावट पैदा की गयी। उन्होंने यह तर्क दिया कि उर्दू का न्यायालय में प्रयोग फारसी से थोड़ा ही

अलग है। न्यायालय के अधिकारी जिनमें अधिकांश मुसलमान एवं कायस्थ थे, पर आरोप लगाया कि उन्होंने अबुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से उर्दू फारसी का प्रयोग किया।[27] इसमें कहा गया कि उर्दू न सिर्फ शहरी उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों को अलग करती है बल्कि यह निम्नवर्ग के लोगों को अधिकारिक तौर पर न्यायालय एवं सरकार में सहभागिता से वंचित करती है।[28]

इस समय हिन्दी–उर्दू विवाद में उर्दू समर्थकों द्वारा आन्दोलन हिन्दी आन्दोलन की अपेक्षा बाद में आया। 1900 में इनके द्वारा एक पैम्फलेट 'ए डिफेन्स ऑफ द उर्दू लैंग्वेज एण्ड कैरेक्टर' प्रकाशित किया गया। इस परचे में तकनीकी रूप से फारसी लिपि की देवनागरी लिपि पर वरीयता प्रदर्शित की गयी थी। इसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि लिपि के सवाल के अलावा उर्दू –हिन्दी से अलग भाषा नहीं थी बल्कि इस परचे में इसे 'अधिक विकसित हिन्दी' के रूप में बताया गया था।[29]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यदि भाषायी या बातचीत में अन्तर ही करना हो तो लिपि को महत्व देना चाहिये न कि हिन्दू–मुसलमान साक्षर या निरक्षर में इस विवाद में उर्दू को शहरी भाषा माना गया जबकि हिन्दी को ग्रामीण या निरक्षरों की भाषा। जहाँ तक नागरी के प्रयोग का प्रश्न था तो यह कुछ उच्च साक्षर लोगों द्वारा ही प्रयुक्त होती थी जिनके हित इसके सरकारी भाषा के रूप में प्रयुक्त होने पर सधते थे। इसीलिये हिन्दी आन्दोलन पर यह आरोप लगा कि यह थोड़े से उच्च वर्ग के विकास के लिये है। उर्दू पर यह आरोप लगा कि यह भी एक परिष्कृत सभ्य उच्च वर्ग की भाषा है। अतः भारत सरकार की नीतियाँ जन समुदाय के रुचि व झुकाव के अनुसार होनी चाहिये। नागरी के प्रयोग के विरोध में उर्दू के पक्ष में यह तर्क था कि हिन्दू जिसमें सभी वर्ग आते हैं, बहुसंख्यक हैं, परन्तु उन्हें उतना ही राजनैतिक एवं सामाजिक महत्व न दिया जाय जितना कि मुसलमानों को। इसीलिये हिन्दू मुसलमानों को न केवल उनकी संख्या के हिसाब से गिना जाय बल्कि विशेषता के आधार पर महत्व दिया जाय।

परिणामस्वरूप हिन्दी देवनागरी लिपि और उर्दू फारसी लिपि के विवाद के पीछे एक तकनीकी विवाद यह था कि जनमानस के लिए कौन सी भाषा उपयुक्त है। साक्षर हिन्दू देवनागरी को प्रशासनिक भाषा बनाना चाहते थे ताकि व्यावसायिक एवं सांस्कृतिक प्रभुता स्थापित कर सकें। साक्षर मुसलमान उर्दू को प्रभावी बनाना चाहते थे जिससे कि वे संस्कृति के साथ ही अपने व्यवसायिक हितों की पूर्ति कर सकें। भाषायी आधार पर हिन्दी जो देवनागरी

लिपि मे लिखी जाती थी भाषा के संस्कृतीकरण का माध्यम बनी तथा यही स्थिति फारसी में लिखी जाने वाली उर्दू की थी। इस प्रकार सांस्कृतिक तौर पर हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा बनी। इस विवाद के परिणाम के रूप में दासगुप्ता एवं गुम्फ्रेज की टिप्पणी महत्वपूर्ण है — "दोनों समूहों (पाश्चात्य प्रभावित मुस्लिम कुलीन एवं प्रतिद्वन्दी हिन्दू विद्वान) ने भाषा को समुदाय से सम्बद्ध कर इसे इतिहास और संस्कृति से जोड़कर महिमामंडित किया जिससे हिन्दू–मुस्लिम विवाद बढ़ा तथा इससे सामाजिक एंव राजनैतिक गतिशीलता में वृद्धि हुई जिससे दोनों समुदायों के बीच खाई बढ़ी।"[30]

हिन्दी–उर्दू विवाद चूँकि भाषा से जुड़ा प्रश्न था। अतः स्वाभाविक है कि तत्कालीन साहित्यकारों ने भी अपनी रचनाओं में इसे स्थान दिया। मैकडॉनेल द्वारा जब 1900 में हिन्दी के पक्ष में निर्णय दिया गया तो कवि श्रीधर पाठक ने अपनी भावनायें इस प्रकार व्यक्त की — 'हानि असंख्यन होत है नित उर्दू करतूत / श्री म्यकडानेल जानि यह कियो बात अनुभूत।'[31] किन्तु अकबर इलाहाबादी ने इसे ब्रिटिश चाल के रूप में देखा 'योरप वाले चाहें दिल में भर दें/जिसके सर पर जो चाहें तोहमत धर दें/बचते रहो इनकी तेजियों से अकबर/तुम क्या हो खुदा के तीन टुकड़े कर दें।"[32] महावीर प्रसाद द्विवेदी की कायस्थों पर की गयी टिप्पणी उर्दू की शक्तिशाली स्थिति को तो बताती ही है साथ ही उसके प्रति हिन्दू मानस के विरोध को भी स्पष्ट करती है — "कायस्थ वर्ग हिन्दी का नाम सुन नाक–भौं सिकोड़ने लगता है .... यही लोग औरों की अपेक्षा प्रायः पढ़े–लिखे और सभ्य होते हैं, पर मातृभाषा हिन्दी के परम शत्रु हैं ...... हिन्दी का नाम तक नहीं जानते न उर्दू का सा मजा इन्हें मिल सकता है। उर्दू हट जाय तो गौरमेन्ट को अन्धा बनाकर स्वदेशी भाइयों का गला रेतने का सुभीता कैसे मिलेगा।"[33]

बाबू रत्न चन्द लिखित 'हिन्दू–उर्दू का नाटक' जो 1890 में प्रकाशित हुआ, इसी विवाद को लक्ष्य करके लिखा गया था। जिसमें न्यायालय के एक दृश्य में अंग्रेज जज उर्दू एवं हिन्दी के वादकारियों के बीच बैठा है तथा दोनों पक्षों से समझौते का प्रस्ताव करता है। जिसपर हिन्दी के वकील पं. बुद्धि प्रकाश का मत है — 'हमारी मुवक्किला उर्दू बीबी से कदापि सुलह करके अपने कुल में दाग न लगायेगी।"[34] तो दूसरी ओर सर सैयद अहमद के एक पत्र में (1869) में इसे 'फारसी लिपि में लिखी उर्दू मुसलमानों की निशानी है'[35] तथा इसके साथ ही उर्दू समर्थकों का यह दृष्टिकोण, 'उर्दू हमारे लिये सिर्फ जबान नहीं बल्कि यह हमारी तहजीब का नाम है ...... उर्दू हमारे लिये हमारी तहजीब

है, हमारा मजहब है, हमारी माजी है, हमारी तारीख है ....।'[36] इसे साम्प्रदायिक रंग देता है।

हिन्दी–उर्दू विवाद में हिन्दी साहित्यकारों का रुख काफी उग्र था। श्रीधर पाठक के अनुसार – 'जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेगें तो उर्दू का ताव क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख दे।'[37] इसी प्रकार सोहन प्रसाद 'हिन्दी–उर्दू की लड़ाई' (1886) में उर्दू के प्रति काफी आक्रामक रुख रखते हैं – 'कभी न बदलों रूप रंग सादी सीधी चाल/अभी काल्ह की छोकरी करो बराबरी मोर/हमसे मत बड़ बात कर तोर मोर बड़ बीच/ गाल फारि मुँह मारि कै लैहों जिह्वा खींच।'[38] प्रताप नारायण मिश्र का स्वर यद्यपि कि संयत हैं, किन्तु हिन्दी के अलावा वे कुछ सुनना नहीं चाहते 'चहहुँ जुसॉचों निज कल्यान/तो सब मिलि भारत सन्तान !/जपो निरन्तर एक जबान/हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।'[39] स्पष्ट है कि इस विवाद (हिन्दी–उर्दू) ने हिन्दू एवं मुसलमानों में विभेद की खाईं को और चौड़ा किया। चूँकि इस आन्दोलन का केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश का बनारस और इलाहाबाद शहर था साथ ही राजनीतिक नेतृत्व एवं बहुसंख्यक साहित्यकार भी इसी हिस्से से सम्बन्धित थे। अतः इस क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के विकास में इस आन्दोलन ने पृष्ठभूमि के रूप में आधार दिया।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में अलगाववाद की प्रवृत्तियों के निर्माण में गोरक्षा आन्दोलन का सर्वाधिक योगदान था। इसने न केवल हिन्दुओं को लामबन्द किया, अपितु साम्प्रदायिकता की विकृत परिणति दंगों की पृष्ठभूमि भी निर्मित की। यद्यपि कि यह आन्दोलन जानवरों की संख्या को आर्थिक कारण से बरकरार रखने के लिये किया गया था। लेकिन शीघ्र ही इसने सामाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक आयाम ग्रहण कर लिया।[40] गोहत्या का प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में केन्द्र में रहा। ऐसा इसलिये नहीं हुआ कि मुसलमानों को गोहत्या से कोई विशेष प्रेम था, बल्कि इसलिये हुआ कि उग्र हिन्दुओं ने इसे एक मुद्दा बना दिया था तथा यह कि जो धार्मिक क्रियायें पहले शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न की जाती थीं उन्हें अब मुसलमानों द्वारा भव्य प्रदर्शन के साथ किया जाने लगा। इसके पीछे उनकी यह भावनाकाम करती थी कि हमें हिन्दुओं की ललकार स्वीकार है।[41]

यह आन्दोलन अर्द्धराष्ट्रवाद का जातीय रूप था जिसने समुदाय को विशेष रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया। जिसमें हिन्दुओं के रीति–रिवाज को वरीयता दी जाती थी और इस तरह से यह मुस्लिमों को प्राथमिक समुदाय से वंचित करना था। इस आन्दोलन का यह भी प्रभाव हुआ कि इसने ग्रामीण एवं शहरी हिन्दुओं तथा अभिजात एवं सामान्य हिन्दू सम्प्रदाय को एक स्तर पर ला दिया। इस तरह गोरक्षा आन्दोलन ने हिन्दुओं को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अखिल भारतीय स्तर पर संगठित गोरक्षिणी सभा ने इस आन्दोलन के लिये मुख्य अभिकरण का काम किया।

आर्य समाज एवं कूका आन्दोलन के प्रयास से गोरक्षा आन्दोलन उत्तरी भारत में उद्भूत हुआ, जिसकी प्रेरणा स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखन एवं इस सन्दर्भ में की गयी, उनकी गतिविधियों से प्राप्त हुई। शीघ्र ही इस आन्दोलन ने गोरक्षिणी सभा के रूप में अपना सांगठनिक स्वरूप प्राप्त किया। 1880 के दशक में पंजाब में और शीघ्र ही उत्तरी एवं मध्य भारत में अनेक केन्द्र स्थापित हो गये। इसमें एक निर्णायक मोड़ तब आया जब इलाहाबाद नगर पालिका में गाय एवं भैंस को मारने पर विवाद उत्पन्न हुआ। जिसमें इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह निर्देशित किया कि गाय एक धार्मिक पूजा की वस्तु (Object) नहीं है। परिणामस्वरूप गोरक्षा के प्रश्न को लेकर लोगों में एक नया वाद–विवाद उत्पन्न हुआ जो पूर्वी उत्तर प्रदेश में 1887–88 में बड़ी तेजी से उभरा। इसे प्रचारित प्रसारित करने में नगरीय हिन्दुओं, अधिकारियों जमींदारों एवं साधू–सन्यासियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन गतिविधियों से न केवल गोरक्षिणी सभा का जाल विस्तृत हुआ, बल्कि आन्दोलन पूर्वी उत्तर प्रदेश एव पश्चिमी बिहार में तेजी के साथ फैला। मैकलेन एक अधिकारी के हवाले से इसे सम्पूर्ण भारत के लिये डरावने खतरे के रूप में देखते हैं।[42]

पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ बलिया एवं गाजीपुर जिलों तथा बिहार के सारन एवं शाहाबाद जिलों में इस आन्दोलन को विस्तार देने में पहले के उत्तेजक विवादों को माध्यम बनाया गया। इस क्षेत्र के धार्मिक एवं पशु मेलों में फैलायी गयी अफवाहों द्वारा शीघ्र ही अप्रत्याशित रूप से यह आन्दोलन समाज में काफी गहराई तक उग्ररूप में फैला और इस क्षेत्र के हिन्दू एवं मुस्लिम सम्बन्धों को काफी तीव्रता से प्रभावित किया। सॉन्ड्रिया फ्रिताग के अनुसार – यह आन्दोलन अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक लोगों के हाथ में (शहर से गाँव) चला गया, परिणामस्वरूप गोरक्षा आन्दोलन धर्म के आदर्शों एवं जरूरतों की अच्छी जानकारी रखने वालों के हाथ में चला गया।'[43] स्पष्ट है कि इसका

परिणाम नकारात्मक होना था, परिणामस्वरूप आपसी कटुता बढ़ी तथा स्थानीय संघर्षों का परिणाम दंगों के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

इस अवधि में गोरक्षा आन्दोलन के विस्तार के साथ सामाजिक आधार भी विस्तृत हुआ तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बिहार में गंभीर तनाव का कारण हुआ। इस क्षेत्र की मनः स्थिति के सन्दर्भ में ज्ञान पाण्डेय का विचार है कि, 'यह कहना जल्दबाजी होगी कि साम्प्रदायिकता या विश्वास की एकात्मकता' हिन्दू और मुसलमानों के साम्प्रदायिक माँगों के सन्दर्भ में भोजपुरी क्षेत्र में पहले से तैयार थी।''[44] यहाँ तक कि इस क्षेत्र के अलग-थलग पड़े मुस्लिम समुदाय का दृष्टिकोण बीसवीं सदी के आते-आते कुछ ज्यादा ही जटिल था। जैसा कि मुबारकपुर के अब्दुल माजिद (स्थानीय बुनकर) के बयान से सिद्ध होता है।[45]

अब्दुल माजिद ने 1904 के साम्प्रदायिक दंगे के सम्बन्ध में अपनी डायरी में लिखा था— 'मुबारकपुर का दंगा एक विचित्र समस्या थी। यह क्षेत्र के बड़े लोगों के कारण जटिल हुई, जबकि निम्न वर्गीय लोगों की यह समझ थी कि सरकारी पूर्वोपाय (Precaution) के कारण उनके साथ कुछ भी नहीं होगा। उन लोगों को यदि यह पता होता कि जल्दबाजी के कारण उनको इसमें अपनी सहभागिता देनी होगी और इसके लिये उन्हें सजा भी दी जायेगी, तो कदापि इस तरह की कार्यवाही नहीं करते। सुअर का सिर मस्जिद के पास के एक तालाब में, जो सिकती जमींदारी इकाई के अन्तर्गत पड़ता था में पाया गया था। मुसलमानों में इसकी कड़ी प्रतिक्रिया हुई। वे इस बात को सोचने के लिए तैयार नहीं थे कि इसके लिये कौन उत्तरदायी है ? सुअर के सिर को मस्जिद के अन्दर रखने का काम मुस्तफाबाद (मुबारकपुर के पास एक टोला) के खुदाबख्श ने किया था। उसने यह शर्मनाक काम बाबू रामबली सिंह (गूजरपार) के साथ अपनी शत्रुता के कारण किया था। रामबली सिंह हिन्दू बहुल गूजरपार के जमींदार थे, जोकि मुबारकपुर के उत्तर में है। उसने मस्जिद को अपवित्र करने का निश्चय किया और उसके बाद मुबारकपुर के मुसलमानों में यह भ्रान्ति फैलाने को सोचा कि यह काम रामबली सिंह ने किया था। उसके बाद वह पीछे हट जायेगा और रामबली से अपना बदला ले लेगा। लेकिन घटनायें कुछ इस तरह घटीं कि मुबारकपुर के मुसलमान उसी दिन पाँच बजे शाम से गिरफ्तार किये जाने लगे। सर्वत्र पुलिस बल तैनात कर दिया गया। वैसे लोगों के घरों पर छापे मारे गये जो घरों में छिप गये थे। इन्स्पेक्टर मोहन सिंह, दरोगा दोस्त मोहम्मद खॉ और दस से बारह कांस्टेबल एवं चौकीदारो ने

पूरादीवान के मौलवी रफीउद्दीन साहब के घर की तलाशी ली। उन लोगों ने कुरान की एक प्रति को आँगन में फेंक दिया, जिसे मोहन सिंह ने अपने पैरों से कुचला। हम लोग वहाँ पर उपस्थित थे और इस दृश्य से काफी आहत थे।[46]

इससे स्पष्ट पता चलता है कि लोगों में धार्मिक भावनाओं का कितना प्रभाव था। औद्योगिक प्रगति एवं वैज्ञानिक शिक्षा ने लागों के धार्मिक विश्वास पर तनिक प्रभाव भी नही डाला था। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न हित वाले सुखी सम्पन्न जमींदार और बड़े लोग गरीब तबका या छोटे लोग तथा-औपनिवेशिक राज की शक्ति में अच्छा तालमेल था। यह सब गोरक्षा आन्दोलन के प्रभाव के कारण ही हो रहा था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोरक्षा अभियान के दौरान अनेक हिंसक वारदातें हुई। इनसे लोगों में स्पष्ट रूप से हिन्दू एवं मुसलमान होने का विचार और अधिक दृढ़ हुआ। इस आन्दोलन का दो रूप देखने को मिलता है, एक गाँव और शहर का सम्मिलित आन्दोलन जिसका रुख कम आक्रामक था तथा जिसको उच्च जातीय समर्थन प्राप्त था और दूसरा वह जिसकी प्रवृत्ति अति आक्रामक थी तथा जिसे छोटी जातियों एवं कट्टर लोगों का समर्थन प्राप्त था। इस आन्दोलन की समयावधि काफी लम्बी थी और इस दौरान इसके अनेक केन्द्र बने, जिनमें अनेक संगठन सक्रिय थे। सॉन्ड्रिया फ्रिताग के अनुसार, 'आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में शहरी क्षेत्र में स्पष्ट रूप से जिन आदर्शों के तहत लोग एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे, वह धर्म पर आधारित था। ऐसा देखने में आया कि गोरक्षा की भावना से गाँव के लोग अधिक प्रेरित थे। उनकी मानसिकता अत्यन्त संकीर्ण थी। जिसका उपयोग दुष्ट प्रकृति के लोगों ने गोरक्षा अभियान प्रचार के दौरान स्थानीय जातियों, हिन्दू एवं मुसलमानों दोनों को समान रूप से उत्तेजित करने में किया।[47]

मुसलमानों के त्योहार बकरीद पर 25 जून 1893 को एक विचित्र तरह का साम्प्रदायिक दंगा उत्तर प्रदेश एवं अन्य भोजपुरी क्षेत्र में भड़का, जिसका चरित्र पहले के स्थानीय झगड़ों से काफी भिन्न था। सरकारी अभिलेख में इसे लड़ाई के मुख्य केन्द्र आजमगढ़ जिले पर दूसरे जिलों के लोगों ने आक्रमण किया, के रूप में व्यक्त किया गया। पैंतीस गैर कानूनी सभायें एवं दंगे जो आजमगढ़ में हुये.वे सभी उग्र हिन्दुओं के कार्यो का प्रतिफल था, जो कि दूरस्थ गाँवों (बलिया एवं गाजीपुर जिलों) से आकर एकत्र हुये थे। जिनका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों द्वारा की जाने वाली पारम्परिक

बलि (कुर्बानी) को रोकना था। ईद के दिन उग्र हिन्दुओं ने जिले भर में भ्रमण किया तथा यह माँग की कि जो जानवर बलि के लिये रखे गये हैं, उनका समर्पण किया जाय। ऐसा नहीं करने पर यह धमकी भी दी गयी कि लोगों को शारीरिक क्षति पहुँचायी जायेगी तथा सम्पत्ति को लूटा जायेगा। उन लोगों ने यह भी माँग की कि वे एक समझौता करें जिसके अनुसार वे इस तरह की बलि नहीं करेंगे। ईद के बीत जाने के बाद उन मुसलमानों की फसल नष्ट कर दी गयी, जिनके सन्दर्भ में यह विश्वास था कि उन्होंने कुर्बानी दी है।[48]

सबसे भयानक दंगा आजमगढ़ के मऊ क्षेत्र में हुआ, जो कि अकबर के जमाने से ही वस्त्र उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था। जिसका उल्लेख आइने अकबरी में हुआ है।[49] उन्नीसवीं शताब्दी तक यहाँ की जनसंख्या में मुख्यतः मुसलमान बुनकर और हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के ऐसे लोग सम्मिलित थे जो कि सूत कातने, व्यापार एवं व्यवसाय में संलग्न थे। बहुत से हिन्दुओं को मुगलशाही सत्ता ने वहाँ पर स्थापित किया था। तब से यहाँ सूती कपड़ा उद्योग का महत्व बढ़ता गया था तथा बाद में एक चुंगी वसूली केन्द्र स्थापित किया गया था, जो कि इस बात की ओर संकेत करता है कि उस समय व्यापारिक आवाजाही कितनी अधिक थी।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में 1801 के आस–पास जब ब्रिटिश शासन की स्थापना हुई, उस समय तक हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच संघर्ष की संभावना बढ़ गयी थी, क्योंकि मुसलमानों ने मऊ के धुनवार राजपूत भूस्वामियों को विस्थापित कर अपनी समृद्धि की थी। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दू जमींदार व्यापारी एवं महाजन उस क्षेत्र में फिर से अपनी स्थिति को मजबूत कर रहे थे, जो कि मुस्लिम बहुल क्षेत्र था। इस पृष्ठभूमि में गोहत्या के प्रश्न पर संघर्ष मऊ में कोई नयी बात नहीं थी, क्योंकि इस मुद्दे पर गोरक्षिणी सभा की स्थापना के पहले भी कई बार तनाव हो चुका था। लेकिन 1893 में जो दंगा हुआ, वह पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत था।

आजमगढ़ का मऊ शहर ही नहीं बल्कि दक्षिण–पूर्वी हिस्सा जो कि गाजीपुर और बलिया से सटा हुआ था, भी गोरक्षा आन्दोलन एवं दंगे की चपेट में आ गया। इन परगना क्षेत्रों में गोरक्षिणी प्रचार–प्रसार बलिया एवं गाजीपुर जिलें में किये जा रहे प्रयास के कारण काफी अधिक था। जिसका प्रमाण 1893 के शुरू में ही मिलता है, जब 9 जनवरी 1893 को कोपागंज (जो कि आजमगढ जिले का तीसरा बड़ा बुनकर केन्द्र था और मऊ से 6 मील उत्तर में स्थित) से कुछ मील पहले कुछ ग्रामीणों ने मुसलमान कसाइयों द्वारा गाजीपुर ले जाये

जा रहे मवेशियों को बचाया। दूसरे दिन पुलिस ने इन मवेशियों को कसार गाँव से बरामद किया, लेकिन आस–पास के गाँवों से आयी दो सौ हिन्दुओं की भीड़ ने बलपूर्वक मवेशियों को अपने कब्जे में ले लिया तथा अपने विभिन्न सहधर्मियों के यहाँ बलिया जिले में भेज दिया।[50]

इस तरह के प्रदर्शनों में आने वाले दिनों में अत्यधिक वृद्धि तब हुई, जब गोरक्षिणी सभाओं का गठन करने का प्रयास मई 1893 से कियां गया। आजमगढ़ और जहानागंज में इसी महीने दो बड़ी सभाओं से इसकी शुरुआत हुई। इन सभाओं में कई हजार हिन्दू सम्मिलित हुये, जिन्हें बलिया से आये गोरक्षिणी नेताओं ने सम्बोधित किया। दूसरी सभा में यह माँग की गयी कि मुसलमान कुर्बानी छोड़ दें नहीं तो उनके विरुद्ध इस प्रथा का अन्त करने के लिए सीधी कार्यवाही की जायेगी।

जहानागंज सभा के तीन दिन बाद 22 मई को महाराजगंज के समीप सिकन्दरपुर गाँव में कई सौ हिन्दुओं ने एक मुसलमान से एक भैंस छीन ली, जिसे वह शादी के भोज के लिये ले जा रहा था। एक सप्ताह बाद भैसों को ले जा रहे कुछ कसाइयों को गाँव के हिन्दुओं ने रोका और धमकी भी दी। इसी अवधि मे वलीदपुर के मुसलमान जमींदारों के यहाँ काम करने वाले कृषक और मुहम्मदाबाद के कुछ मुसलमानों ने गोरक्षिणी गतिविधियों को लेकर मुकदमें चलाये। इनमें कुछ कपोलकल्पित थे, जैसाकि हिन्दू पुलिस इन्सपेक्टर ने रिपोर्ट दर्ज की। जहानागंज सभा के बाद हिन्दुओं ने मुसलमानों को मवेशी खरीदने से रोका। इस तरह हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच खाई काफी बढ़ गयी। इसी समय गोरक्षा संघ की कई शाखायें जिले के विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित की जा चुकी थीं, जो कि तुरन्त ही काफी शक्तिशाली हो गयी थीं, जैसे की सगड़ी और मुहम्मदाबाद परगना में। इसका विस्तार बाद में निजामाबाद एवं देवगाँव परगना के कुछ हिस्सों में हुआ। देवगाँव परगना मुहम्मदाबाद एवं निजामाबाद परगने की सीमाओं से सटा हुआ था।

गोरक्षिणी सभा ने निधि एकत्र करने के लिये जो पद्धति अपनायी, उसे चुटकी के नाम से जाना जाता है। जिसमें एक चुटकी खाने को (घर के प्रत्येक सदस्य के खाने से) अलग कर दिया जाता था और बाद में पूरे गाँव से एकत्र किया जाता था। अंत में यह गोरक्षिणी सभा के अधिकारियों के पास जमा कर दिया जाता था। आजमगढ़ के मजिस्ट्रेट ने इस पर अपनी टिप्पणी की थी कि जहाँ कहीं भी चुटकी एकत्र की जाती है, वहाँ पर निश्चित तौर पर गोरक्षा संघ अवस्थित था। आन्दोलन आजमगढ़ के सगड़ी, नत्थूपुर, मुहम्मदाबाद, मऊ जैसे

क्षेत्रों में काफी प्रभावशाली था। शुरू में इसका उद्देश्य गोशालाओं का निर्माण करना था, लेकिन जब यह आन्दोलन आजमगढ़ जिले में पहुँचा तो इन लोगों ने सड़कों पर घूमने वाले संदिग्ध मवेशियों को अपने कब्जे में लेकर उनकी सेवा शुरू की, जिसके लिये वे शुल्क एकत्र करते थे।

इसी समय आजमगढ़ में गोरक्षिणी सभा द्वारा मुसलमानों से यह इकरारनामा माँगना शुरू किया गया कि वे किसी भी सूरत में भविष्य में गोहत्या नहीं करेंगे। इस तरह की माँग के साथ प्रायः धमकी भी दी जाती थी जैसे, मुस्लिम बुनकरों का बहिष्कार कर दिया जायेगा तथा मुस्लिम भूस्वामियों की सम्पत्ति लूट ली जायेगी। ऐसे दो मामले दर्ज किये गये, जिसमें मुस्लिम भूस्वामियों ने यह शिकायत की कि उन लोगों से यह कहा जाता था कि यदि वे गोरक्षिणी निधि में अपना अंशदान देंगे तो उन्हें बख्श दिया जायेगा।

इस तरह 25 जून 1893 की बकरीद के आने के पहले ही हिन्दू—मुस्लिम सम्बन्ध कटुतापूर्ण हो गये थे। इसी समय 24 जून को गार्स्टिन आजमगढ़ जिले का पुलिस अधीक्षक और जानकी प्रसाद उप जिलाधिकारी होकर आया। उसी दिन उपजिलाधिकारी ने स्थानीय हिन्दू एवं मुस्लिम नेताओं के बीच समझौता कराया, लेकिन 24 जून की रात एवं दूसरे दिन सुबह बलिया एवं गाजीपुर से हिन्दुओं की उग्र भीड़ मऊ आ गयी जो किसी भी कुर्बानी के विरुद्ध प्रदर्शन करने को आमादा थी। दिन ढलने के पूर्व ही 700 से 1200 आदमियों की एक भीड़ ने चाँदपुरा के जुलाहा क्वार्टर के नजदीक मुसलमानों की एक भीड़ पर आक्रमण कर दिया। मौके पर उपस्थित सरकारी अधिकारियों की अपील की अवहेलना कर दी गयी। दोनों के बीच खुली लड़ाई पुलिस फायरिंग एवं बरसात की वजह से ही रोकी जा सकी। पुलिस फायरिंग में दो हिन्दुओं की मृत्यु हो गयी। आक्रमणकारियों का उद्देश्य शुरू से ही स्पष्ट था कि कुर्बानी के लिये ले जायी जा रही गायों को मुसलमानों से ले लिया जाय। मुसलमानों से बलपूर्वक यह इकरारनामा लिया जाय कि वे भविष्य में कभी गायों की बलि नहीं चढ़ायेंगे। हिन्दुओं ने वैसे मुसलमानों से जो कि 6 या अधिक गायों के साथ थे, ऐसे इकरारनामें पर हस्ताक्षर के लिये बाध्य किया। इस पर उपजिलाधिकारी और तहसीलदार के हस्ताक्षर बलपूर्वक ले लिये गये। कुछ हिन्दू इस पर भी संतुष्ट नहीं थे और जब एकत्रित भीड़ तितर—बितर हो रही थी, हिन्दुओं की एक भीड़ ने मऊ के एक मुस्लिम के घर को क्षतिग्रस्त कर दिया।[51]

1893 की बकरीद के अवसर पर हिन्दुओं के प्रदर्शन के दौरान सर्वाधिक भयंकर एवं निर्मम दंगा मऊ में ही हुआ। जबकि अन्य स्थानों पर भी

हिन्दुओं द्वारा प्रदर्शन किया गया किन्तु अन्यत्र कहीं ऐसी स्थिति नहीं हुई। इस दौरान छोटे–मोटे दंगे आजमगढ़ बलिया शाहाबाद और गया में हुये। इसके पश्चात गोरक्षिणी सभायें प्रायः समाप्त हो गयीं या भूमिगत हो गयीं और ऐसा प्रतीत होता है कि यह आन्दोलन स्थानीय लोगों के भय और पुलिस सक्रियता के चलते दबा दिया गया। किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से इसका महत्व कम नहीं हुआ और यह पुनः 1910 में पश्चिमी बिहार में उभरा 1910 के पश्चात गोरक्षिणी कार्यक्रम अहीर ग्वाला अभियान के साथ जुड़ गया।[52]

1893 के दंगे के कारण, व्यापकता एवं प्रभाव पर सुमित सरकार की टिप्पणी महत्वपूर्ण है, "1892–93 में गोरक्षिणी सभायें अधिक जुझारू बनने लगीं थी ..... चूँकि उसी समय इस्लामी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ बकरीद पर गोकुशी की अनिवार्यता पर बल दे रही थीं, इसलिये जून–जुलाई 1893 में बड़े स्तर पर होने वाले दंगों का आधार यहाँ तैयार था। ये दंगे आरंभ हुये आजमगढ़ के मऊ कस्बे में जहाँ बड़ी संख्या में मुसलमानों पर गाजीपुर और बलिया जिले से आयी भीड़ ने आक्रमण कर दिया था। बलिया में दंगे अधिक संगठित थे, जहाँ एक राजपूत जमींदार अधिक सक्रिय था । इनका सबसे अधिक विस्तार (कुल मिलाकर 22) सारन, गया, और पटना में था जहाँ बड़े–बड़े पशु मेले लगते थे। इनका सबसे अधिक हिंसक रूप बम्बई शहर में देखा गया, जहाँ 80 लोग मारे गये, वहाँ गड़बड़ी की शुरूआत इस बात को लेकर हुई थी कि हिन्दुओं के जुलूस मस्जिदों के आगे बाजे बजाते हुये निकलें या नहीं। दंगों के दो अन्य स्थान थे जूनागढ़ और दूरस्थ रंगून। ऐसे लगभग देशव्यापी दंगे पहले कभी नहीं हुये थे। यह निश्चय ही आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये बुरा शगुन था, जो अभी गति पकड़ ही रहा था।[53]

प्रमाण यह दर्शाते हैं कि बलिया एवं गाजीपुर के हिन्दुओं ने मऊ, कोपागंज घोसी और चिरैयाकोट के मुसलमानों पर सुनियोजित आक्रमण किया, जबकि स्थानीय लोग गाँवों के दूरस्थ इलाकों में प्रदर्शन करने में शामिल थे। जैसा कि जीयनपुर अजमतगढ़ और गैरडीह में लोग संलग्न पाये गये। मुबारकपुर में भी संभवतः यही बात थी। सरकारी रिपोर्टों में इन दंगों के लिये अर्द्धशिक्षित, अंग्रेजी बोलने वाले, पुरोहित एवं जमींदारों को उत्तरदायी ठहराया गया। सरकारी अभिलेखों में इस दंगे के मुख्य उत्प्रेरक के रूप में चार प्रमुख व्यक्तियों पं. घनश्याम नरायन मिश्र (नीमटाड़), नगरा के ठाकुर जगदेव नरायन सिंह (बलिया जनपद), ठाकुर सुदिष्ट नारायन सिंह (मऊ) एवं फकीर खाकी बाबा को उत्तरदायी ठहराया गया था। इस क्षेत्र में खाकी बाबा गोरक्षिणी सभा

के जाने—माने वक्ता थे और आन्दोलन को ठोस रूप देते हुये अपने धर्म के प्रति बहुत कट्टर थे। घनश्याम नारायण मिश्र जाति से पंडित तथा आजमगढ़ और बलिया जनपद में बड़ी सम्पत्ति वाले जमींदार थे। अतः इनका प्रभाव धार्मिक एवं धनी व्यक्ति दोनों रूप में था। सगरी परगना की गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष थे। जगदेव नरायन सिंह बलिया गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष एवं एक बड़े जमींदार थे। वह पूर्वी आजमगढ़ मे इस आन्दोलन के अति सक्रिय व्यक्ति थे। जैसा कि 1893 के दंगे के ठीक एक सप्ताह पहले आजमगढ़ के कई गाँवों के मुसलमानों की ओर से एक प्रार्थना पत्र भेजा गया था जिसमें कहा गया था कि जगदेवनरायन सिंह की ओर से उन मुसलमानों को जान से मारने की धमकी दी गयी है, जो कुर्बानी करेंगे।[54] इस तरह के प्रार्थना पत्र जनपद के अन्य भागों कोपागंज, चिरैयाकोट, निजामाबाद से भी भेजे गये थे। जिसमें मुख्य आरोपी स्थानीय जमींदार एवं प्रभावी लोग थे।

1893 के इस दंगे में एक तथ्य यह उल्लेखनीय है कि इसमें हिन्दू समाज के प्रायः सभी स्तर के लोग शामिल थे। जहाँ धनी एवं जमींदार वर्ग की सक्रियता नेतृत्व करने वाले लोगों के भीतर उत्तेजना पैदा करने की थी वहीं निम्न स्तर के लोग घटनाओं को अंजाम देने में सक्रिय थे। जैसाकि निजामाबाद मुहम्मदाबाद एवं सगरी क्षेत्र की गतिविधियों से पुष्ट होता है। निजामाबाद में चौकी का सारा पैसा स्थानीय जमींदार के यहाँ जमा होता था। अत्यधिक प्रभावित क्षेत्र मुहम्मदाबाद में गतिविधियों को सक्रियता देने में एक फकीर दो गोसाई तथा बहुत से छोटे राजपूत भूमिहार एवं ब्राह्मण सम्मिलित थे।[55] मुहम्मदाबाद के ठाकुर एवं भूमिहार गोरक्षा आन्दोलन में पहले से ही सक्रिय भूमिका निभा रहे थे।[56]

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी सामने आता है कि इस अवसर का उपयोग पुरानी दुश्मनी निकालने के लिये भी किया गया। मुबारकपुर के आस—पास के राजपूत भी इसी प्रकार सक्रिय थे। उनकी मुसलमानों से पुरानी दुश्मनी होने के कारण राजपूत काफी पहले से इस सभा में सक्रिय योगदान दे रहें थे। इसके पीछे धार्मिक भावना भी कार्य कर रही थी। सगरी परगना के सूरजपुर के बाबू लोग जो सूरजपुर तालुके तथा गाजीपुर के सारनपुर स्टेट के मालिक थे, जाति से भूमिहार तथा बनारस के महाराजा के सम्बन्धी थे। इन लोगों के द्वारा गोरक्षा आन्दोलन को काफी बढ़ावा मिला। 25 जून 1893 को घोसी में हुये प्रदर्शन में 3000 प्रदर्शनकारी सूरजपुर के निर्देश पर एकत्र हुये थे। आजमगढ़ के जिलाधिकारी के अनुसार इतनी बड़ी संख्या में घोसी में

हिन्दुओं का एकत्रित होना सूरजपुर के बाबुओं की मदद के बिना संभव नहीं था।[57] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 1893 की बकरीद के अवसर पर आजमगढ़ जनपद में मुस्लिम बस्तियों पर जो आक्रमण हुये उनमें राजपूत ब्राह्मण एवं भूमिहार जाति के जमींदारों ने सक्रिय हिस्सा लिया। वे लोग अपने साथ कृषक नौकर एवं अन्य असामियों को भी ले आये।[58]

गोरक्षा आन्दोलन में लोगों को एकत्र करने के लिए पत्रों (जिन्हें पतिया कहा जाता था) का प्रयोग किया गया। इसमें हिन्दुओं को जाग्रत एवं क्रियाशील करने में धार्मिक आह्वान को आधार बनाया जाता था। इन पतियों के सन्दर्भ में ज्ञान पाण्डेय का अध्ययन महत्वपूर्ण है।[59] इन पतियों का स्वरूप एक जैसा होता था जिसमें आह्वान के साथ सहयोग हेतु अपील की जाती थी। उनका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रतिबद्धतापूर्ण रखा जाता था। जिससे कि इसे बार-बार आसानी से लिखा जा सके और लोगों के बीच वितरित किया जा सके। 1805-11 के बीच बनारस में हिन्दुओं को क्रियाशील करने के लिये इसी प्रकार की धर्मपत्री का प्रयोग किया गया था। इसी आधारपर 1880-90 के दशक में पतिया को प्रचार का माध्यम बनाया गया। इसका स्वरूप इस प्रकार था, "गऊमाता की कृपा से तथा हम लोगों के आदेशों के अनुरूप सभी हिन्दुओं को 22 दिसम्बर 1893 को होने वाली सभा में आमंत्रित किया जाता है। इसका उद्देश्य एक सभा स्थापित करना है। जो इसमें भाग नहीं लेगा उस पर गोवध का पाप लगेगा और जो लोग इसमें भाग लेगें भगवान उन्हें सुख समृद्धि प्रदान करेगा। सभी लोगों को इस निमंत्रण पत्र पर हस्ताक्षर करना है।"

इसी प्रकार बलिया की सदर सभा से 'पतिया' प्रचारित की गयी जो इस प्रकार थी –

(1) गंगा महारानी तथा गऊमाता और भृगुजी बालेश्वर जी के आदेशानुसार यह गोरक्षिणी सभा स्थापित की गयी है।

(2) मुस्लिम सन्त गुलाम हैदर शाह एवं लाकरशाह के आदेशानुसार जिले के सभी मुसलमानों को इस सभा में उपस्थित होने का निर्देश दिया गया था। जिसका मुसलमानों द्वारा पालन भी किया गया।

(3) पूरे हिन्दुस्तान और बंगाल में ऐसी 182 सभायें स्थापित हो चुकी हैं। राजाओं एवं जमींदारों ने अपने क्षेत्रों में गऊ हत्या प्रतिबन्धित कर दिया है। इन्हीं सभाओं के निर्देशानुसार हमने बलिया में सदर सभा

शुरू कर दी है। हम ऐसा सोचते हैं कि यह करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है।

(4) अपने रियासत एवं गाँव में आप लोग और लोगों की रक्षा करें तथा यह शपथ दिलायें कि किसी अजनबी को अपने जानवर न बेचें।

(5) कुछ लोग अपने जानवरों को खुला छोड़ देते हैं, जो एक गाँव से दूसरे गाँव में घूमते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि लोग उसे अपने कब्जे में कर लेते हैं तथा महीने भर बाद कसाई के हाथ बेंच देते हैं। कोई भी हिन्दू जो इस तरह के कार्यों को करता है उसे कसाई से उत्पन्न समझा जायेगा तथा धर्म से बहिष्कृत कर दिया जायेगा।

(6) इस प्रकार लाखों गायों की हत्या हो रही है। अगर हिन्दुओं के गाँव में गोहत्या होती है तो उसे फूँक देना चाहये। ऐसे गाँव कभी सुख शान्ति से नहीं रह सकेगें। बछड़ों का नपुंसकीकरण रोका जाना चाहिये। जो भी ऐसा करता है उसे कसाई से उत्पन्न समझना चाहिये तथा जाति से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

इनका उद्देश्य लोगों के बीच सक्रियता पैदा करना था इन विभिन्न पत्रों के माध्यम से हिन्दू राजा एवं जमींदारों तथा हिन्दू समाज के अधिक से अधिक लोगों को संगठित करने का आह्वान किया गया। इन पत्रों के अन्त में उन परिणामों की घोषणा भी की जाती थी जो इसके निर्देशों के न मानने पर घटित होता। इनमें बार—बार हिन्दुओं के मस्तिष्क में हिन्दुत्व की श्रेष्ठता एवं हिन्दू होने के गौरव को उजागर किया गया। गोरक्षिणी सभायें धर्म पर अधिकाधिक आधारित थीं और शहर की अपेक्षा ग्रामीण हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को उद्वेलित करने में अधिक सफल रहीं। गाय की रक्षा तथा सेवा करने का आह्वान धार्मिक आदर्शों से अधिक प्रेरित था।[60]

गोरक्षा आन्दोलन का समर्थन उस समय के साहित्य में भी मिलता है प्रताप नारायण मिश्र द्वारा प्रकाशित पत्रिका ब्राह्मण में इस बात का प्रबल समर्थन किया गया था कि गोरक्षा हिन्दुओं का सर्वोच्च धर्म है और यह कि हिन्दुस्तान की आर्थिक सम्पन्नता का यह प्रबल स्रोत है। गोरक्षा के बिना हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। आगे तर्क देते हुये उन्होंने लिखा कि गाय हिन्दुओं के लिये मॉ के समान है क्योंकि हिन्दू उसे गो ब्राह्मण के रूप में देखते हैं और ब्राह्मणों के समक्ष झुकने से पहले उसके समक्ष श्रद्धापूर्वक झुकते हैं।[61]

गोरक्षिणी आन्दोलन एवं दंगे के बाद की स्थिति काफी भयपूर्ण थी। तात्कालिक धन–जन की हानि काफी अधिक हुई। सरकारी बयानों में 26 जून 1893 को मऊ में दर्जनों लोगों के मारे जाने की बात कही गयी किन्तु इसे हिन्दू एवं मुसलमान दोनों में से कोई स्वीकार नहीं करता क्योंकि डार ने लिखा है कि इसमें कोई संदेह नहीं कि 250 हिन्दू एवं मुसलमान मारे गये।[62]

दंगों में शामिल मुसलमानों में प्रमुख रूप से निम्न वर्गीय जुलाहों की अधिकता थी। प्रायः यह क्षेत्र मध्यकालीन समय से ही कपड़ा बुनाई का केन्द्र था। अतः अधिकतर आबादी जुलाहों की ही थी और सरकारी अभिलेखों के अनुसार ये धर्म के प्रति अत्यधिक कट्टर होते थे, 1909 में संकलित आजमगढ़ गजट इसी ओर संकेत करता है। जिले के जुलाहे प्रमुख रूप से मुबारकपुर और कोपागंज के गाँवों में केन्द्रित थे। गजट के अनुसार ये अशान्त प्रवृत्ति के लोग ही समय–समय पर हो रहे हिन्दू–मुस्लिम विवाद एवं जिले की शान्ति व्यवस्था भंग करने के लिये जिम्मेदार थे।[63] बलिया गजट जिसका संकलन कुछ वर्ष पहले हुआ था, जुलाहों की इसी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है– गाजीपुर ओर आजमगढ़ के अपने रिश्तेदारों की तरह जुलाहे (बलिया के) अशान्त और स्वेच्छाचारी थे। इन्हें ही समय–समय परहोने वाली शांति भंग का श्रेय जाता है।[64] इसी प्रकार गाजीपुर गजट के अनुसार जुलाहे सभी मुसलमानों में अधिक कट्टर एवं अशान्त एवं उच्छृंखल हैं। जैसा कि 1893 के हिन्दू–मुस्लिम विवाद एवं अन्य अवसरों पर देखा गया।[65]

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट होता है कि जहाँ गोरक्षिणी सभाओं ने सामान्य हिन्दुओं के भीतर धार्मिक सक्रियता पैदा की तथा इस बात के लिये प्रेरित किया कि धर्म के नाम पर संगठित हो धर्म के प्रतीक रूप गायों की रक्षा करें, वहीं दूसरी ओर अपने धार्मिक रीतियों को बनाये रखने के लिये मुस्लिम भी दृढ़ थे जिसमें बहुसंख्यक जुलाहों की कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति ने प्रमुख भूमिका निभाई, एवं इस क्षेत्र की स्थिति को साम्प्रदायिक बनाया। यद्यपि 1893 के बाद गोरक्षिणी सभाओं की गतिविधियाँ समाप्त हो गयी थीं किन्तु गोरक्षा का विचार दबा नहीं था जैसा कि बाद में 1911–12 में अयोध्या एवं 1917 में पश्चिमी बिहार में इसकी हिंसात्मक परिणति हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दो दशक एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच अलगाव काफी स्पष्ट हो गया था। हिन्दुओं के गोरक्षा आन्दोलन एवं हिन्दी–उर्दू विवाद तथा मुसलमानों के पुनरुत्थान आन्दोलन ने दोनों की सामुदायिक चेतना जाग्रत की। तात्कालिक परिदृश्य से यह परिलक्षित होता है कि राजनीतिक अलगाव एवं वैमनस्यता की परिस्थितियों ने दोनों समुदायों के बीच अविश्वास की भावना पैदा की जिसका उपयोग उनका राजनैतिक नेतृत्व करने वाले लोगों ने किया और जिससे साम्प्रदायिक स्थिति असहयोग आन्दोलन के बाद और जटिल होती गयी।

उत्तर प्रदेश की स्थितियों पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि असहयोग आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश सत्ता ने अलगाववादी संगठनों की गतिविधियों को बढ़ावा दिया जिससे सामुदायिक वैमनस्य की भावना सामान्य हो गयी तथा आपसी भय एवं घृणा की भावना काफी तीव्रता से फैली। खिलाफत की स्थापना जो कि असहयोग आन्दोलन का एक अंग थी ने हिन्दू प्रतिक्रिया के रूप में एक विरोधी संगठन को जन्म दिया और शुद्धि तथा संरक्षा को बढ़वा दिया। 1923 में स्वामी श्रद्धानन्द ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके मलकाना राजपूतों, गूजरों तथा बनियों को पुनः हिन्दू बनाने के लिये आन्दोलन चलाया। इसी साल हिन्दू महासभा ने आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन को अपनाया और उसे रिक्लमेशन ऑफ अनटचेबल कहा।[66] इन गतिविधियों से साम्प्रदायिक तनाव बढ़ाया गया और जिसके परिणाम के रूप में 1920 के हिन्दू–मुस्लिम दंगें घटित हुये।

इन गतिविधियों का प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों पर भी पड़ा। कांग्रेस के क्रियाकलापों ने भी बहुत हद तक इन परिस्थितियों को निर्मित करने में भी भूमिका निभायी। मदन मोहन मालवीय और अन्य कई प्रमुख राष्ट्रीय नेता हिन्दू महासभा के शुद्धि अभियान में बहुत पहले से ही भाग ले रहे थे। स्वयं मालवीय जी ने महासभा के उस सत्र की अध्यक्षता की थी जिसमें शुद्धि कार्यक्रम स्वीकार किया गया था। यहाँ ध्यातव्य यह है कि 1920 के चुनावी अभियान में कांग्रेस के धर्मनिरपेक्ष घटक भी तात्कालिक चुनावी लाभ के लिये धार्मिक भावनाओं को बढ़ाने में पीछे नहीं रहे। यह प्रवृत्ति 1925–26 के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान मंडलों के चुनावों में भी देखने को मिलती है।[67]

इन चुनावों में हिन्दू साम्प्रदायिक भावनाओं का उपयोग मालवीय द्वारा किया गया। इलाहाबाद में मस्जिद के सामने एक धार्मिक जुलूस निकाला गया। जिसने न केवल 1923–26 के दौरान केन्द्रीय विवाद का रूप लिया

अपितु 1924 में इसी प्रश्न पर दशहरा के पहले रामलीला समारोह के दौरान हिन्दू–मुस्लिम दंगे को जन्म दिया।[68] बाद में जिला प्रशासन ने इसमें हस्तक्षेप किया किन्तु कुछ हिन्दू नेताओं द्वारा यह अस्वीकार कर दिया गया कि रामलीला समारोह सूर्यास्त से पहले सम्पन्न किया जाय, जबकि मुसलमानों ने यह बात स्वीकार कर ली कि यदि कार्यक्रम शान्तिपूर्ण ढंग से किया जाय तो 17 में से 15 मस्जिदें बन्द कर दी जायेंगी। बाद में यह प्रस्ताव भी अस्वीकृत हो गया। अंततः इसे जिला प्रशासन द्वारा ही रोका जा सका। हिन्दू नेताओं ने यद्यपि अपने उत्सवों को बन्द कर दिया किन्तु दंगों को रोका नहीं जा सका। परिणामस्वरूप हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों में तनाव और बढ़ा।

हिन्दुओं के इस कठोर रुख के पीछे मालवीय समूह का हाथ था। दिल्ली में आयोजित 1924 की एकता कान्फ्रेन्स में मस्जिदों के सामने संगीत के मुद्दे पर हुई सहमति को मालवीय के समर्थकों द्वारा संचालित इलाहाबाद हिन्दू सभा द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया।[69] 1924 के इलाहाबाद दंगों में जब शहर की सामान्य स्थिति बहाल करने के उद्देश्य से पुरुषोत्तम दास टंडन एवं जहूर अहमद द्वारा प्रयास किया गया तो उनके इस प्रयास का स्वागत किया गया किन्तु उन मुहल्लों में जहाँ मालवीय के समर्थक थे जहूर अहमद को अपमानित किया गया। जिला मजिस्ट्रेट के पत्र से यह भी पता चलता है कि दंगों के बाद की बैठकों में मालवीय का रवैया बहुत हद तक असहयोग पूर्ण था। 1925 के स्थानीय चुनावों में इस समस्या में राजनैतिक दृष्टिकोण दिखायी देता है जैसा कि इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा यह लिखा गया कि, "यह पूरा आन्दोलन पूर्णतया राजनैतिक था क्योंकि इसका चुनाव पर प्रभाव स्पष्ट था।"[70]

हिन्दुओं का यह कठोर रुख 1926 के बाद भी बना रहा। सितम्बर के अन्त तक इलाहाबाद प्रशासन हिन्दू एवं मुस्लिम नेताओं को एक साथ लाने में असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप प्रशासन द्वारा इन समारोहों को प्रतिबन्धित कर दिया गया। बाद में मालवीय ने दस हजार हिन्दुओं की उस सभा को संबोधित किया जो इस प्रतिबन्ध के विरोध में हुई थी। 1926 में मालवीय समूह द्वारा प्रान्तीय स्तर पर साम्प्रदायिक हिन्दू अभियान को सांगठनिक रूप दिया गया। अप्रैल 1926 में हिन्दू सभा की एक बैठक में मालवीय ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया, जिसमें कहा गया था कि संगठन उन प्रत्याशियों का समर्थन करेगा, जो हिन्दू हितों की रक्षा करेंगें। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं ने बहुत समय से मुसलमान हितों की रक्षा की है किन्तु अब समय आ गया है कि हिन्दू अपने हितों की बात करें।[71] अगस्त में मालवीय और उनके समूह ने हिन्दू सभा के

प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें चुनाव बोर्ड के गठन की बात कही गयी थी। जिसमें कहा गया था कि अन्य संगठनों के उन प्रत्याशियों का समर्थन किया जायेगा, जो हिन्दू सभा के परिपत्रों पर हस्ताक्षर करेंगे।[72] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि मालवीय समूह द्वारा हिन्दू सभा का प्रयोग खुले तौर पर हो रहा था। अगस्त में मालवीय के भतीजे कृष्णकान्त मालवीय ने एक चुनावी सभा में यह सूचना जारी कि प्रत्याशियों को अपना नाम एवं राजनैतिक विचार हिन्दू सभा के समर्थन में देना होगा।

एक तरफ जहाँ हिन्दू सभा द्वारा साम्प्रदायिक दृष्टि से कार्य किया जा रहा था वहीं अन्य दलों की गतिविधियाँ इसे नियंत्रित करने की रहीं यद्यपि कि वे पूरी तरह सफल नहीं रहीं तथा कुछ का समर्थन भी हिन्दू सभा को था। जनपदीय चुनावों में स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी ने यह दिखाने का प्रयास किया कि वह हिन्दू सभा से जुडी है। अक्टूबर 1926 को लाजपत राय इलाहाबाद कांग्रेस के प्रमुख नेता गौरीशंकर मिश्र तथा राघवदास स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी के समर्थन में आजमगढ़ पहुँचे। उन्होंने पूरे शहर में म्यूनिस्पल बोर्ड, हिन्दू सभा तथा आर्य समाज को संबोधित किया। वहाँ शाम को एक सार्वजनिक सभा में स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी के प्रान्तीय विधान मंडल के बनारस एवं गोरखपुर मंडल के प्रत्याशी जी.डी. बिड़ला जिन्हें हिन्दू बहुत पसंद करते थे, के लिये वोट माँगा।[73] इस सभा में भारी संख्या में हिन्दू उपस्थित थे। यहाँ ध्यातत्व यह है कि स्वराज पार्टी का नेतृत्व वर्ग हिन्दू सम्प्रदायवादियों के दबाव में आ गया। यद्यपि कि उन्होंने धर्म निरपेक्ष नीति का समर्थन यह कहते हुये किया कि यह दोनों सम्प्रदायों के हित में है।

स्वराज पार्टी ने हिन्दू सभा की चुनाव में भागीदारी का विरोध किया। जैसा कि स्वराजपार्टी के बनारस के प्रत्याशी सम्पूर्णानन्द के दृष्टिकोण से पता चलता है यद्यपि कि वे हिन्दू सभा से भी जुड़े हुये थे। उन्होंने कहा, "हिन्दुओं का सामाजिक एवं धार्मिक मामलों में विशेष योगदान है। अतः उनके राजनीति में आने का कोई कारण नहीं है क्योंकि कांग्रेस हिन्दू एवं मुसलमानों दोनों के हितों की रक्षा कर सकती है।[74] इसी समय कई स्वराजियों ने अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिये अपने आपको हिन्दू सभा से अलग कर लिया। जैसा कि जून 1926 के अन्त में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सचिव ज्योतिशंकर दीक्षित, जो कि उत्तर प्रदेश हिन्दू सभा के सचिव भी थे ने हिन्दू सभा का अपना पद त्याग करके किया।

इसके बावजूद साम्प्रदायिक तनाव बढ़ता रहा। जून में कांग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेसी एवं गैर कांग्रेसी सभी हिन्दू–मुस्लिम विधायक यदि इस बात का समर्थन करें तो वह पृथक निर्वाचन मंडल का विरोध करेगी। किन्तु ज्योतिशंकर दीक्षित गौरीशंकर मिश्र एवं प्रान्तीय कांग्रेसी कमेटी के चार अन्य सचिवों ने सदन में ही स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली तथा कुछ अन्य कांग्रेसी नेताओं ने अपने को स्वराजियों के उस कार्यक्रम में शामिल कर लिया जिसमें हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात कही गयी थी।[75] यहाँ एक तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि स्वराजी हिन्दू सभा में मतभेद पैदा करने की कोशिश कर रहे थे जिसके लिये ऐसे स्वराजियों का उपयोग किया गया जो हिन्दू सभा से भी जुड़े हुये थे। इस योजना का उद्देश्य यह था कि हिन्दू सभा के प्रान्तीय वार्षिक सम्मेलन में यह प्रस्ताव लाया जाय कि 20 हिन्दू स्थानीय स्तर पर कान्फ्रेन्स के लिये अपने प्रतिनिधि चुन सकें। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि हिन्दू सभा की गतिविधियों को नियंत्रित किया जा सके। इस कार्य के लिये सम्पूर्णानन्द एवं अनादि प्रसाद दुबे जैसे स्वराजी नेताओं को जिम्मेदारी सौंपी गयी जो हिन्दू सभा से बहुत नजदीकी तौर पर जुड़े थे। लेकिन स्वराजियों की इस कार्यवाही का भेद खुल गया और मालवीय समूह ने हिन्दू सभा को अपने नियंत्रण में कर लिया और कान्फ्रेस को अपने समर्थकों से भर दिया। स्वराजपार्टी के सचिव ने इस बेईमानी के लिये पुराने कार्यकर्ताओं को दोषी ठहराया।[76] इसके बाद मालवीय समर्थकों द्वारा एक ऐसा चुनावी बोर्ड बनाया गया जो हिन्दू हितों की रक्षा कर सके।

आने वाले दिनों में हिन्दू अधिक जागरूक हुये। इसी बीच स्वामी सत्यदेव द्वारा एक आकस्मिक बैठक बुलाई गयी जिसमें बनारस के सन्यासियो द्वारा मालवीय की पार्टी की आलोचना की गयी, जिसका उपयोग मोतीलाल नेहरू द्वारा किया गया। उन्होंने 1926 में प्रतापगढ़ की एक चुनावी सभा में स्वराजी नीतियों का खुलासा किया। यहाँ उनका रुख हिन्दू समर्थक का था। इलाहाबाद रामलीला प्रकरण के सवाल पर जब सभा में उनसे प्रश्न पूछा गया तो उनका स्पष्टीकरण था कि उन्हें उस समय बहुत बुखार था, इसलिये वे इसमें सम्मिलित नहीं हो सके। लेकिन उन्होंने 5000 स्वयंसेवकों को रामलीला कमेटी के कार्यक्रम में सहयोग करने के लिये भेजा था। यहाँ मालवीय के प्रति उनका रुख आलोचनात्मक था, "जबकि मालवीय ने मजिस्ट्रेट गवर्नर एव गर्वनर जनरल को मात्र एक प्रार्थना पत्र दिया ताकि रामलीला कार्यक्रम हो

सके और हिन्दुओं के अधिकार की रक्षा की जा सके। मैं आपसे पूछता हूँ कि किसके हाथ में यह अधिकार अधिक सुरक्षित है जो आपकी सभी विपदाओं में आपके साथ है या उनके जो कि लम्बी याचिकायें देते हैं।[77] स्वाभाविक था ऐसी स्थिति में वे उत्साहित हिन्दुओं की प्रशंसा के हकदार बने।

यहाँ उल्लेखनीय है कि कांग्रेस की स्थिति काफी दुविधाग्रस्त थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान उन्होंने सभी संगठनों से समर्थन माँगा। इस तरह का समर्थन हिन्दू सभा द्वारा भी दिया गया और इस समर्थन से कांग्रेस का विकास भी हुआ। यद्यपि कि आन्दोलन के लिये ऐसा समर्थन लाभकारी अवश्य हुआ किन्तु इसकी एक कमजोरी यह रही कि दोनों समुदायों के बीच तनाव एवं विरोध में वृद्धि हुई। स्थानीय स्तर पर कांग्रेस एवं हिन्दुओं के सम्बन्ध परिस्थिति आधारित थे। गोरखपुर के बाँसगाँव तहसील के भिनसा बाजार का अनुभव इसकी पुष्टि करता है। नवम्बर 1929 में तहसील कांग्रेस कमेटी के सचिव गणेश प्रसाद पाण्डेय द्वारा लिखा गया कि गाँव में संगठन का कार्य अच्छा चल रहा है। गाँव में एक ऐसे संगठन की स्थापना भी हुई है, जो लड़कियों के लिये स्कूल भी चलाता है। साथ ही एक प्रकाशन विभाग एवं संगीत समिति भी है। हिन्दू सभा एवं कांग्रेस गाँव में कुछ समय से हैं तथा एक साथ काम कर रहे हैं। आगामी कार्यक्रमों में गाँव में एक खादी भंडार खोलने की योजना है ताकि खादी कार्यक्रम को बढ़ाया जाय एवं ग्राम सेवक पत्रिका की शुरुआत की जाय।[78] इससे स्पष्ट होता है कि कांग्रेस एवं हिन्दू सभा आम आदमी के हित के स्तर पर मिलकर काम कर रही थीं।

यद्यपि कि कांग्रेस अपना धर्म निरपेक्ष चरित्र बनाये हुये थी, किन्तु समय–समय पर इसे धर्म आधारित संगठनों का सहयोग मिलता रहा। 1930 के इलाहाबाद कुंभ मेले का प्रयोग सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम के लिये किया गया, जहाँ कई सभायें हुई तथा जिसमें तमाम साधु–सन्यासियों ने भी हिस्सा लिया। इसमें प्रमुख रूप से गोरखपुर के कांग्रेस नेता बाबा राघवदास भी थे। उन्होंने ब्रिटिश शासन की तुलना औरंगजेबी शासन से करते हुये देश की गुलामी से मुक्ति करने का आह्वान किया। इसके साथ ही रोजाना वध की जाने वाली पचहत्तर हजार गायों को मुक्त करने की माँग की[79] इसी प्रकार 1929–30 में आर्य समाज एवं हिन्दू सभा द्वारा जारी किया गया वक्तव्य सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा कांग्रेस के समर्थन में था। कई बार कांग्रेस द्वारा भी स्वयं पहल करके हिन्दू संगठनों से सहायता माँगी गयी। जब 1928–29 में कांग्रेस पदाधिकारियों द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को सुदृढ़ करने

की बात कही गयी, तो आगरा की प्रादेशिक हिन्दू सभा ने इसकी हिमायत की। सभा ने कई शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया और 6 स्वयंसेवकों को हनुमान व्यायाम प्रचारक मंडल अमरावती में प्रशिक्षण के लिये भेजा। हिन्दू महासभा द्वारा आगरा प्रादेशिक हिन्दू सभा के प्रशिक्षण कार्यक्रम में सहायता देने के लिये हरिहर राव देशपाण्डे को नियुक्त किया गया। जनवरी 1929 में गोरखपुर में एक शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। देशपाण्डे ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई जिलों गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, आदि में इस कार्यक्रम को फैलाया। बाद में इन प्रशिक्षण शिविरों में लाठी, चाकू, गड़ासें चलाने का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा। राजा कालाकांकर (प्रतापगढ़) ने ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रों को मदद दी जो जालौन, गाजीपुर, काशी विद्यापीठ बनारस एवं कुम्भ मेला इलाहाबाद में चल रहे थे।[80] इन कार्यक्रमों के पीछे इलाहाबाद के नर्मदा प्रसाद सिंह का हाथ था, जो हिन्दूसभा के आगरा प्रदेश शाखा के सचिव के साथ ही प्रमुख कांग्रेसी नेता थे।

अगस्त 1929 में हिन्दू सभा के प्रशिक्षण केन्द्रों के साथ कांग्रेस के सहयोग के प्रमाण उपलब्ध हैं। यह बात तब स्पष्ट होती है जब प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी के महासचिव श्री प्रकाश, बनारस में कांग्रेस के प्रमुख नेता नरेन्द्र देव, उत्तर प्रदेश कांग्रेस प्रमुख नेता बीरबल सिंह ने लाजपत प्रशिक्षण केन्द्र गाजीपुर का दौरा किया तथा केन्द्र के प्रशिक्षण कार्यक्रम से प्रभावित होकर न केवल इसका स्वागत किया अपितु एक वक्तव्य में यह भी कहा कि यदि अन्य जिला समितियां चाहें तो ऐसा केन्द्र स्थापित कर सकती हैं।[81] स्पष्ट है कि इस तरह का कदम सकारात्मक नहीं कहा जा सकता, यद्यपि कि इस वक्तव्य के समय दो मुसलमान भी उपस्थित थे किन्तु बड़े पैमाने पर ऐसी कोई सूचना मुसलमानों को नहीं दी गयी। अतः स्वाभाविक था कि ऐसे कार्यक्रम को मुसलमानों द्वारा अविश्वास की दृष्टि से देखा गया।

कांग्रेस के इस कदम से ब्रिटिश प्रशासन को यह अवसर उपलब्ध हो गया कि वह मुसलमानों का समर्थन कर उन्हें उत्तर प्रदेश कांग्रेस से अलग कर सके। अतः आने वाले दिनों में प्रादेशिक सरकार द्वारा मुस्लिम पोषण बढ़ गया। इसके लिये बुलन्दशहर के जमींदार एवं छत्तरी के नवाब को माध्यम बनाया गया। 1928 में सरकार के गृह विभाग द्वारा प्रान्तीय गवर्नर को यह प्रयास करने के लिये कहा गया कि खिलाफत आन्दोलन के प्रमुख नेता रहे मुहम्मद अली को सविनय अवज्ञा के विरुद्ध तब तक बोलने के लिये सहमत करें जब तक कि गोलमेज परिषद का परिणाम न आ जाय। यह भी प्रयास किया गया

कि उलेमा सविनय अवज्ञा के विरोधी रहें। इस समय जब कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को सफलता मिल रही थी, प्रशासन की लगातार कोशिश थी कि मुसलमानों को अपने पक्ष में करे। इसका अवसर उसे शारदा एक्ट के मुद्दे पर मिला जिसमें एक्ट के परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया गया और मुसलमानों को बता दिया गया कि उनके लिये नियम हिन्दुओं की भाँति नहीं है।[82] सरकार का विचार था कि सभी कानूनी प्रयत्न किये जाने चाहिये, जिससे कि मुसलमान सविनय अवज्ञा को समर्थन न दें। प्रादेशिक सरकार ने कांग्रेस के विरोध में मुस्लिम जन समुदाय को संगठित करने वाले शौकत अली एवं अन्य पारम्परिक मुसलमानों के संगठन उ.प्र. तंजीम कमेटी को वित्तीय मदद भी दी।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन में मुसलमानों की भागीदारी बहुत कम थी। जिसके लिये ब्रिटिश प्रशासन भी प्रयासरत था। ऐसा स्थानीय स्तर पर भी हो रहा था जैसा कि 1930 में इलाहाबाद के मंडलायुक्त ने कहा कि इस प्रकार के कई कार्य शान्तिपूर्ण ढंग से पहले ही किये जा चुके हैं।[83] कानपुर के एक पत्रकार ने भी अपना अनुभव बताया कि कांग्रेस के विरोध में भाषण देने एवं कार्य करने के लिये कानपुर के कलेक्टर द्वारा उसे नौकरी की पेशकश की गयी तथा एक हिन्दू अधिकारी द्वारा 150 रुपये प्रतिमाह तथा साथ में यात्रा भत्तादेने की बात कही गयी।[84]

यद्यपि कि राजनैतिक नेतृत्व वर्ग प्रायः सम्भ्रान्त एवं शहरी वर्ग से सम्बन्धित था, किन्तु इनके क्रियाकलाप हिन्दू एवं मुसलमान दोनों समुदायों को प्रभावित करते थे। अलग पहचान एवं निजी स्वार्थों के कारण होने वाले दंगों से भय एवं घृणा की भावना में और अधिक वृद्धि होती थी। जैसा कि 1931 के कानपुर के दंगों से इसकी पुष्टि होती है। गाँधी–इरविन वार्ता के बाद यद्यपि कि दंगे कुछ समय के लिये रुक गये थे, किन्तु मुसलमान इस बात से परेशान थे कि उन्हें पुलिस तथा अन्य कांग्रेसी जनों से धमकी मिल रही थी। परिणामस्वरूप शहर में तनाव और बढ़ा तथा बाद के आन्दोलन में मुस्लिम भागीदारी और कम हो गयी।

इससे कई अन्य स्थानों पर भी असन्तोष में वृद्धि हुई। बनारस में 11 फरवरी 1931 में साम्प्रदायिक दंगे हुये। इस सन्दर्भ में जिलाधिकारी ने लिखा कि भारतीय कांग्रेस कमेटी के सभी सदस्यों को छोड़ना कांग्रेस की जीत के रूप में मनाया गया।[85] बनारस की कई मुसलमानों की दुकानों में लोगों को जाने से रोका गया। 10 फरवरी को कई ग्राहकों को मारा पीटा गया। बनारस के प्रमुख कपड़ा व्यापारी आगा मोहम्मद जान की दुकान पर धरना दिया गया।

धरना देने वाले सभी हिन्दू थे। यद्यपि कि पुलिस ने तमाम गिरफ्तारियाँ की, किन्तु शाम को हिन्दू–मुस्लिम झगड़े भड़क उठे, जिसमें दुकान से घर लौटते समय मोहम्मद जान की हत्या भी हो गयी।[86]

गाँधी–इरविन समझौते के बाद 15–17 मार्च के बीच आगरा एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर के दो गाँवों में 14–16 मार्च के बीच साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। आगरा में एक मुसलमान मारा गया एवं कई घायल हो गये। यहाँ 15 मार्च को होली उत्सव पर मस्जिद के सामने संगीत कार्यक्रम पर मुसलमानों ने आपत्ति की थी। मिर्जापुर में हिन्दुओं ने मुसलमानों को मार डाला।[87] इस दंगे के पीछे कोई प्रमाण नहीं है कि इसके पीछे राजनैतिक उद्देश्य था लेकिन यह इस बात का संकेत करता है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना देहातों में भी फैल चुकी थी। इस सम्बन्ध में यह भी प्रासंगिक है कि इन घटनाओं ने कानपुर को भी प्रभावित किया, जहाँ बड़े पैमाने पर दंगे हुये।

मुस्लिम राजनीति की नकारात्मक प्रवृत्तियाँ भी इस दौरान देखने को मिली। 1928–29 में शौकत अली एवं तंजीम कमेटी ने कानपुर में कांग्रेस के विरोध में सक्रिय प्रचार किया और 'तौसीह–जमात–उल–उलेमा–ए–हिन्द' का गठन कर जेहाद की भावनाओं को और अधिक समृद्ध किया। यह संगठन कांग्रेस समर्थक देवबन्द की 'जमात–उल–उलेमा–ए–हिन्द' के विरोध में था।[88] इसका प्रभाव यह पड़ा कि मई 1930 में मुसलमानों ने खुले तौर पर कांग्रेस की विदेशी कपड़ों के बहिष्कार एवं मदिरापान निषेध कार्यक्रम का बहिष्कार किया। कांग्रेसी मुस्लिम नेताओं के भाषणों का बहिष्कार किया गया तथा मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं के भाषाण को ध्यान से सुना गया।[89] दोनों समुदायों के बीच मतभेद इतना गहरा था, कि राष्ट्रीय नेताओं की मृत्यु पर होने वाली शोक सभायें भी प्रभावित हुईं। जनवरी 1931 में मोहम्मद अली की मृत्यु पर संयुक्त सभा के आयोजन का कांग्रेसी नेताओं का प्रस्ताव मुस्लिम नेताओं द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और दोनों ने अलग–अलग शोक सभायें की। इसी तरह मोतीलाल की मृत्यु पर हसरत मोहानी की अध्यक्षता में शोकसभा तो हुई लेकिन अधिकतर मुसलमान कांग्रेस द्वारा आयोजित हड़ताल में शामिल नहीं हुये और जब मुसलमानों से दुकान बन्द करने को कहा गया तो उन्होंने अनिच्छा जतायी, क्योंकि मुहम्मद अली की मृत्यु पर हिन्दुओं ने ऐसा ही किया था।[90]

यद्यपि कि 1930 तक साम्प्रदायिक दंगों मे कमी आती गयी, लेकिन साम्प्रदायिक सोच ने मुसलमानों को उत्तर प्रदेश में हिन्दुओं के प्रति अविश्वास

की भावना से भर दिया था। जिसका प्रभाव सविनय अवज्ञा के बाद के वर्षों में दिखाई देता है। यहाँ तक कि अब कांग्रेसी मुसलमान भी कांग्रेस टिकट पर चुनाव लड़ने के अनिच्छुक हो गये। जैसा कि खलीकुज्जमाँ ने व्यक्त किया है, "पृथक निर्वाचन मंडल के आधार पर होने वाले चुनाव में मैं इस बात से सहमत हूँ कि स्वराज पार्टी से किसी भी मुसलमान को टिकट मिलना मुश्किल है।"[91] भारत शासन अधिनियम 1935 के आने के बाद हुये चुनाव में खलीकुज्जमाँ ने सलेमपुर के रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी राजाअली अहमद खान के साथ मिलकर उत्तर प्रदेश मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसे रफी अहमद किदवई एवं नेहरू के अन्य समर्थकों द्वारा समर्थन दिया गया, क्योंकि वे पहले ही मान चुके थे कि कोई भी मुसलमान अब कांग्रेस के टिकट पर चुनाव नहीं जीत सकता।[92] फरवरी 1933 के चुनाव में उत्तर प्रदेश में कोई मुस्लिम प्रत्याशी नहीं जीता स्वयं रफी अहमद किदवई मुस्लिम बहुल गोण्डा से चुनाव हार गये। यह स्थिति न केवल कांग्रस के प्रति मुस्लिम दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, बल्कि साम्प्रदायिक अलगाव की ओर भी संकेत करती है।

इस साम्प्रदायिक अलगाव को बढ़ाने में 1930 के दशक के आखिरी वर्षों में खाकसार आन्दोलन के उभार को देखा जा सकता है। 1930 में इसे प्रारम्भ करने वाला अल्लामा मशरीकी था जिसने पंजाब तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी विभिन्न विषयों में रुचि एवं विद्वता थी, जिसमें प्रमुख विषय गणित भौतिकी एवं धर्मशास्त्र थे। इसने उसे कुरान एवं मुस्लिम रीति-रिवाजों एवं सिद्धांतों को अपनी तरह से व्याख्या करने के लिये प्रेरित किया।[93] भारतीय शिक्षा सेवा में उसने उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रान्त में कुछ वर्षों तक कार्य किया ...... शिक्षा सेवा के दौरान मशरीकी ने सरकार के विरोध के बावजूद स्कूलों में इस्लाम की धार्मिक शिक्षा का प्रचार करने में सफलता प्राप्त की।[94] उसका सबसे महत्वपूर्ण प्रयास खाकसार पार्टी के उदय के रूप में सामने आया। मशरीकी ने पाया कि समकालीन मुल्ला एवं मौलवी अपने कर्तव्यों का पूर्णतया ईमानदारी से पालन नहीं कर रहे हैं। उसने खाकसार पार्टी का उद्देश्य 'पुनः अल्लाह के इस्लाम की स्थापना' रखा।[95]

स्पष्ट है कि यह संगठन धार्मिक भावनाओं पर आधारित था। प्रारम्भ में इसकी गतिविधियां उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में केन्द्रित थीं किन्तु मुस्लिम लीग के साथ सम्बन्धों में बढ़ती प्रगाढ़ता से इसका क्षेत्र विस्तार हुआ। उत्तर प्रदेश में खाकसार एवं मुस्लिम लीग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से लखनऊ के शिया-सुन्नी विवाद में उभरकर सामने आया। यह एक पुराना विवाद था तथा मुस्लिम लीग पहले से ही इस मामलें में रुचि ले रही थी।[96] यह विवाद 1939

में जब पुनः उभरा तो कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग दोनों ने समान रूप से इसमें रुचि ली। मामला इतना जटिल था कि निकट भविष्य में उसके समाधान का कोई रास्ता नहीं था। किन्तु लीग ने यह महसूस किया कि कांग्रेस जान—बूझकर मुस्लिमों को बाँटकर इस विवाद को हवा दे रही है ताकि वह मुसलमानों पर आसानी से शासन कर सके। अतः कांग्रेस शासन पर लीग द्वारा तीव्र प्रहार होने लगा। कोई भी मंत्री इस तरह के आरोपों का सामना करने के लये तैयार नहीं था। अतः कांग्रेसियों ने भी लीग के नेताओं पर जवाबी हमला प्रारम्भ किर दिया।[97]

लखनऊ के इस विवाद से अपनी परिस्थितियों में खाकसारों ने हस्तक्षेप किया। मशरीकी के सिद्धांत में मुसलमानों की एकता एक महत्वपूर्ण कारक थी। मुस्लिम लीग ने खाकसारों के इस हस्तक्षेप को बढ़ा चढ़ाकर प्रचारित करना शुरू किया। उसके अनुसार खाकसार मुसलमानों की ओर से लड़ने आये हैं। दूसरी तरफ सेना और पुलिस जिन्होंने खाकसारों को चुनौती दी के विषय में यह प्रचारित किया गया कि वास्तव में वे मुस्लिम विरोधी हैं। जब खाकसारों एवं कांग्रेसियों तथा अहरार स्वयं सेवकों के बीच झड़प हुई तो लीग ने यह प्रचारित किया कि ऐसा हिन्दू कांग्रेस का मुस्लिम विरोधी होने के कारण है।[98]

इससे स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग ने सामान्य मुसलमानों से खाकसारों का सम्पर्क कायम करा दिया और बाद में मुस्लिम लीग की तरफ से खाकसार मुसलमानों के बीच ध्रुवीकरण के साधन बन गये। उत्तर प्रदेश में खाकसारों का विस्तार जारी रहा। सरकारी तौर पर इनकी शक्ति का आकलन किया गया जो 1938 में 3000 थी अगस्त 1940 में बढ़कर यह संख्या चौदह हजार हो गयी।[99] इसके साथ ही लीग का स्वयं का अपना आधारभूत संगठन एवं विस्तार तथा इसके नेतृत्व द्वारा कठोर साम्प्रदायिक प्रचार जैसा कि खाकसार भी करते थे, ने लीग को काफी मजबूत स्थिति प्रदान कर दी।[100]

इस प्रकार मुस्लिम लीग के अत्यधिक धार्मिक झुकाव ने उसे मुसलमानों के बीच काफी लोकप्रिय बना दिया। जैसा कि 1936 के चुनावों में कांग्रेस को मुस्लिम क्षेत्रों में मिली विफलता से पता चलता है। साथ ही साम्प्रदायिक प्रश्नों पर उसका कमजोर रवैया भी मुसलमानों को कोई आश्वासन नहीं दे सका जब कि प्रतिद्वन्दी मुस्लिम लीग अति कट्टर खाकसारों के साथ मिलकर मुसलमानों में अपनी पैठ बना रही थी। ऐसी स्थितियों में साम्प्रदायिक समस्या इतनी उलझ गयी कि उसका कोई समाधान नहीं निकाला जा सका।

सन्दर्भ

1. ब्रास पाल आर., लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया, (विस्तृत व्याख्या के लिये) कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1974.
2. राबिन्सन एफ., सेप्रेटिज्म एमंग इंडियन मुस्लिम्सः, द पालिटिक्स आफ यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम्स 1860—1923 (विस्तृत व्याख्या के लिये), कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1994.
3. ब्रेनेन लांस, द इल्यूशन आफ सिक्योरिटीः, द बैक ग्राउण्ड टु मुस्लिम सेप्रेटिज्म इन द यूनाइटेड प्राविन्सेज, मुशीरुल हसन द्वारा सम्पादित इंडियाज पार्टीशन : प्रासेस, स्ट्रैट्जी एण्ड मोबिलाइजेशन, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1994, पृ. 328.
4. वही, पृ. 329.
5. नील वाल्टर सी., लैण्ड इज टू रूल, राबर्ट फाइकेन द्वारा सम्पादित लैण्ड कन्ट्रोल एण्ड सोशल स्ट्रक्चर में, मेडिसन 1969, पृ. 9, उद्धृत मुशीरुल की सम्पादित वही पुस्तक, लांस ब्रेनेन द्वारा, पृ. 330.
6. खाँ अहमद शफात, व्हाट आर द राइट्स आफ द मुस्लिम माइनारिटीज इन इंडिया, इलाहाबाद, 1928, पृ. 65—67.
7. पाण्डेय ज्ञान, रैलिंग राउण्ड द काऊ, : सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन 1888—1917, सब अल्टर्न स्टडीज खण्ड—2, पृ. 65—67
8. वही, पृ. 68.
9. सेना गुप्ता एस., कास्ट एज एन एग्रेरियन फेनामेनान इन ट्वेन्टियथ सेन्चुरी बिहार, ए.दास और वी, नीलकण्ठ द्वारा सम्पादित एग्रेरियन रिलेशन इन इंडिया में उद्धृत, दिल्ली, 1979, पृ. 85—89.
10. सान्याल हितेश रंजन, सोशल मोबिलटी इन बंगाल, कलकत्ता, 1981
11. राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ. 32.
12. वही, पृ. 18—23.
13. शिक्षा आयोग के समक्ष बाबू शिवप्रसाद का साक्ष्य (ई.सी.एन.डब्ल्यू.पी. एण्ड ओ.) एजूकेशन कमीशन, इविडेन्स टेकेन इन नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ. 314 फ्रांसिस राबिन्सन की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 70.
14. नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज प्रशासनिक रिपोर्ट 1862—63, पृ. 91.
15. राबिन्सन एफ. की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 71.

16. कवि वचन सुधा, 8 अगस्त 1873 का संस्करण.
17. राबिन्सन एफ. की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 73.
18. बाबू शिवप्रसाद द्वारा यह मेमोरंडम 'कोर्ट कैरेक्टर्स इन द अपर प्राविन्सेज आफ इंडिया' नाम से 1868 में प्रस्तुत, (मालवीय के कोर्ट कैरेक्टर में उद्धृत, परिशिष्ट, पृ. 72–74) पाल आर ब्रास की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 130.
19. ब्रास पाल आर. की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 130.
20. वही, पृ. 130.
21. राय आलोक, हिन्दी नेशनलिज्म, ओरियन्ट लांगमैन, दिल्ली, 2000 में उद्धृत, पृ. 41.
22. शिक्षा आयोग के समक्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का साक्ष्य, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1054–60.
23. राय आलोक की पुस्तक हिन्दी नेशनलिज्म में उद्धृत, पृ. 41, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1054–60.
24. राय आलोक की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 42.
25. वही, पृ. 42.
26. सरस्वती हीरक जयन्ती अंक, संपा. श्री नारायण चतुर्वेदी, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद 1961, आलोक राय की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 42.
27. मालवीय, कोर्ट कैरेक्टर, पृ. 24–63, उद्धृत पाल ब्रास की वही पुस्तक, पृ. 131.
28. वही
29. ए डिफेन्स आफ उर्दू लैंग्वेज एण्ड कैरेक्टर (कोर्टकैरेक्टर एवं प्राइमरी एजूकेशन के प्रत्युत्तर में) पाल ब्रास की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 132.
30. गुप्त ज्योतीन्द्र दास एवं गुम्प्रेज जे., लैग्वेंज कम्यूनिकेशन एण्ड कन्ट्रोल इन नार्थ इंडिया, पाल ब्रास की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 135.
31. हिन्दी प्रदीप, मई–जुलाई, 1901.
32. शर्मा पद्मसिंह द्वारा उद्धृत 'सभापतियों के भाषण' खण्ड 2 में पृ. 130.
33. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1879.
34. रत्न चन्द्र बाबू, हिन्दी उर्दू का नाटक, (1890) उद्धृत आलोक राय की पुस्तक में पृ. 57.
35. राय आलोक, हिन्दी नेशनलिज्म में उद्धृत, पृ. 61.

36. वही.

37. मिश्र सिद्धिनाथ, खड़ी बोली का आन्दोलन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1956 में उद्धृत.

38. राय आलोक की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 94.

39. वही, पृ. 90.

40. तिर्मिजी एस.ए.ए., द काऊ प्रोटेक्शन मूवमेंट एण्ड मास मोबिलाइजेशन इन नादर्न इंडिया, 1882–1893, प्रोसीडिंग्स इन द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस वाल्टेयर, 1979, पृ. 575.

41. अहमद रफी उद्दीन, बंगाल मुस्लिम, कलकत्ता, 1980, पृ. 170.

42. मैकलेन जान, इंडियन नेशनलिज्म एण्ड द अर्ली कांग्रेस, प्रिन्सटन, 1977, पृ. 275.

43. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990, में उद्धृत, पृ. 77–78.

44. पाण्डेय ज्ञान, वही रैलिंग राउण्ड द काऊ, पृ. 77.

45. वही.

46. अब्दुल माजिद द्वारा डायरी में दर्ज (29 मई 1904) ज्ञान पाण्डेय की रैलिंग राउण्ड द काऊ में उद्धृत, पृ. 77–78.

47. फ्रितॉग, एस., रिलीजियस राइट्स : फ्राम कम्यूनिटी आइडेन्टिटी टू कम्यूनलिज्म इन नार्थइंडिया 1870–1940, यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया ब्रेकले, पी–एच.डी. शोध प्रबन्ध 1980, पृ. 127) ज्ञान पाण्डेय की पुस्तक कन्स्ट्रकशन आफ .... में उद्धृत, पृ. 176.

48. ईस्ट इंडिया रिलीजियस डिस्टर्बेंस, एन.डब्ल्यू. पी. एण्ड ओ. के मुख्य सचिव द्वारा भारत सरकार के गृह सचिव को लिख पत्र, 28 अगस्त 1893, ज्ञान पाण्डेय के रैलिंग राउण्ड ..... में पृ. 78–79.

49. नकवी एच. के., अर्बन सेन्टर्स एण्ड इन्ट्रस्ट्रीज इन अपर इण्डिया, 1556–1803 बम्बई, 1968, पृ. 140.

50. आजमगढ़ कलेक्ट्रेट इंग्लिश रिकार्ड रूप, विभाग (XIII), फाइल नं. 146/1894, पत्रांक 45/(XIII), 146, आजमगढ़ के मजिस्ट्रेट द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को लिखा पत्र (29 जनवरी, 1893).

51. पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक कन्स्ट्रक्शन आफ ...., पृ. 165.

52. वही, पृ. 166.

53. सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,

1992, पृ. 104.

54. गोरखपुर कमिश्नर रिकार्ड रूम विभाग (XVI), फाइल संख्या 37/1898—1900, यह प्रार्थनापत्र आजमगढ़ के कुछ गाँवों के मुसलमानों की ओर से भारत के गृह सचिव का, 18 जून 1893.

55. आजमगढ़ के मजिस्ट्रेट द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को भेजी रिपोर्ट 7 जुलाई 1893, उस समय डुपरनेक्स डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट था। एल/पी.एण्ड जे/6/357.

56. आजमगढ़, कलेक्ट्रेट, विभाग XIII फाइल संख्या 146/1894.

57. आजमगढ़, के मजिस्ट्रेट डुपरनेक्स की रिपोर्ट.

58. पाण्डेय ज्ञान, रैलिंग राउण्ड द काऊ .... पृ. 100.

59. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ .... पृ. 182—83.

60. वही, पृ. 186.

61. मल्ल विजयशंकर (संपा) प्रताप नारायण ग्रन्थावली, पृ. 178, 563.

62. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ .... में उद्धृत पृ. 174.

63. आजगमढ़ गजेटियर 1911, पृ. 91.

64. बलिया, गजेटियर, 1907, पृ. 80.

65. गाजीपुर गजेटियर, 1909, पृ. 90.

66. गोर्डान आर. ए., द हिन्दू महासभा एण्ड द इण्यिन नेशनल कांग्रेस 1915—26, माडर्न एशियन स्टडीज 9, 2 (1975) ज्ञान पाण्डेय के द एसेडेन्सी आफ द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश में पृ. 115.

67. पाण्डेय ज्ञान, द एसेडेन्सी आफ द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश 1926—34, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978, पृ. 117.

68. यू.पी. जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेंट, फाइल संख्या 246/1926.

69. यू.पी. जी.ए.डी. फाइल सं. 246/1926.

70. यू.पी. जी.ए.डी. फाइल सं. 680/1925 इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा उ.प्र. के मुख्य सचिव को 14 सितम्बर, 1925 को लिखा पत्र.

71. पुलिस एब्सट्रैक्ट आफ इंटेलीजन्स रिपोर्ट, 1 मई 1926.

72. लीडर समाचार पत्र, इलाहाबाद, 11 एवं 25 अगस्त 1926.

73. आज, 4 एवं 8 अक्टूबर 1926.

74. अभ्युदय, 13 एवं 20 मार्च, 1926.

75. अभ्युदय, 21 अगस्त, 1926.

76. अभ्युदय, 31 जुलाई, 1926 एवं लीडर 11 अगस्त 1926.

77. पाण्डेय ज्ञान, द एसेडेन्सी आफ .... में उद्धृत, पृ. 124.

78. अभ्युदय, 23 नवम्बर 1929.

79. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इंटेलीजेन्स, फरवरी 1930.

80. अभ्युदय, 19 जनवरी, 9 फरवरी, 1929.

81. अभ्युदय, 31 अगस्त एवं 14 सितम्बर, 1929.

82. यू. पी. जी.ए.डी. फाइल सं. 241/1930.

83. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इंटेलीजेन्स रिपोर्ट, 6 सितम्बर, 1930.

84. कानपुर इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट पृ. 180.

85. आज, 12 फरवरी, 1931.

86. आज, 12 फरवरी, 1931.

87. लीडर 21 मार्च 1931 एवं अभ्युदय 25 मार्च 1931.

88. अभ्युदय, 2 नवम्बर 1929.

89. यू.पी. जी.ए.डी. 241/1930, इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा उ.प्र. के मुख्य सचिव को लिखा पत्र 9 मई, 1930.

90. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इंटेलीजेन्स, 17 जनवरी एवं 14 फरवरी, 1931.

91. खलीकुज्जमाँ चौधरी, पाथवे टु पाकिस्तान, लाहौर, 1961, पृ. 129.

92. आज, 22 नवम्बर 1934.

93. शान मोहम्मद, खाकसार मूवमेंट इन इंडिया, दिल्ली, 1973, पृ. 18.

94. वही, पृ. 4.

95. वही, पृ. 5.

96. वही, पृ. 31.

97. वही, पृ. 49–52.

98. वही.

99. चन्दर सुनील, कांग्रेस राज कन्फ्लिक्ट एण्ड राइज आफ द मुस्लिम लीग इन द मिनिस्ट्री पीरियड 1937–39, माडर्न एशियन स्टडीज, 21.2, 1987, पृ. 303–328 में उदधृत.

100. वही.

अध्याय—5

विभाजन एवं उसकी स्मृति

साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक राजनीति की अंतिम परिणति देश विभाजन के रूप में मूर्तिमान हुई, जिसकी त्रासद परिस्थितियों से हिन्दू एवं मुसलमानों दोनों को गुजरना पड़ा क्योंकि दोनों ही समुदायों की जनसंख्या का स्थानान्तरण इधर—उधर हुआ। आर्थिक हानि के साथ—साथ व्यापक पैमाने पर जनहानि भी हुई। यद्यपि कि यह त्रासदी सीमावर्ती पंजाब एवं बंगाल में अधिक थी क्योंकि बड़े पैमाने पर दंगे यहीं भड़के और आने—जाने वालों को हिंसा का निशाना बनाया गया किन्तु इसका प्रभाव व्यापक रूप से सम्पूर्ण देश पर पड़ा। चूँकि उत्तर प्रदेश राजनीति के केन्द्र में था, अतः स्वाभाविक था कि यह त्रासदी यहाँ भी झेलनी पड़ी। यहाँ उन स्थितियों की चर्चा होगी कि सामान्य जन के मन में विभाजन की पीड़ा कैसे बसी हुई थी और उनका सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन कैसे प्रभावित हुआ था। इसके साथ ही तत्कालीन साहित्यकारों की दृष्टि एवं स्मृतियों में इसका क्या स्वरूप था, इसे विवेचित करने का प्रयास होगा।

सबसे पहले यहाँ यह विवेचित करने का प्रयास होगा कि उत्तर प्रदेश के लोगों की जनसंख्या एवं स्थिति को विभाजन ने कैसे प्रभावित किया। इसके लिये राष्ट्रीय स्तर के आँकड़ों पर दृष्टिपात किया जाय तो प्रदेश में यह संख्या अधिक नहीं बैठती है। विभाजन के बाद भारी संख्या में लोगों ने स्थानान्तरण किया। यह संख्या लगभग 6—7 लाख के बीच थी, जिन्होंने भारत छोड़कर पाकिस्तान पलायन किया। इसी तरह हिन्दुओं और सिखों ने भारत आने के के लिये पाकिस्तान छोड़ा। इसमें यह संख्या अतिरिक्त है जिसमें लाखों लोग स्थानान्तरण की प्रक्रिया में रोग, भुखमरी एवं दंगे के शिकार हुये।[1] ऐसा अनुमान है कि पंजाब से करीब 80 प्रतिशत लोग भारत से पाकिस्तान गये। पूर्वी भाग में प. बंगाल, बिहार, उड़ीसा से करीब 55 प्रतिशत मुसलमान पाकिस्तान गये, करीब 10 प्रतिशत उत्तर प्रदेश से और 6.4 प्रतिशत लोग दिल्ली से पश्चिमी पाकिस्तान के कराँची सिन्ध एवं पंजाब गये।[2] जनसंख्या 1951 के आंकड़ों के अनुसार उत्तर प्रदेश से स्थानान्तरण करने वालों की संख्या भारत से कुल स्थानान्तरण करने वाली संख्या का केवल 6 प्रतिशत थी। यह भी मुख्यतः शहरी क्षेत्रों से गये लोग थे।[3] यदि पंजाब को छोड़ दिया जाय

तो 20 प्रतिशत कुल स्थानान्तरण में से 60 प्रतिशत संख्या शहरियों की थी। इस समय उत्तर प्रदेश की शहरी मुस्लिम जनसंख्या में तेजी से गिरावट हुई थी।[4]

यह तस्वीर और अधिक स्पष्ट होती है जब पाल ब्रास के अध्ययन से इसकी तुलना की जाय। उनका मत है कि उत्तर प्रदेश में मुसलमान हिन्दुओं की तुलना में अधिक शहरी थे, ऐसा वे 1881 की जनगणना के आधार पर कहते हैं जो कि धर्म के आधार पर हुई थी। 1931 के अन्त में संयुक्त प्रान्त के शहरों में 29 प्रतिशत मुसलमान रहते थे, जबकि हिन्दुओं की संख्या मात्र 8 प्रतिशत थी। 1931 में संयुक्त प्रान्त के 29 शहरों में मुसलमानों की संख्या 50 प्रतिशत थी, जबकि अन्य 31 शहरों जिनमें लखनऊ एवं आगरा भी थे, मुसलमानों की संख्या आधा एवं तिहाई थी। 1881 से 1930—31 के बीच मुसलमानों का शहरीकरण 1881 में 34.6 प्रतिशत 1891 में 33.8 प्रतिशत तथा 1931 में 38.23 प्रतिशत था जबकि हिन्दुओं की संख्या आनुपातिक रूप से घट रही थी। यह संख्या क्रमशः इन्हीं वर्षो में 64.51 प्रतिशत, 64.27 प्रतिशत एवं 59.52 प्रतिशत थी।[5] यहाँ इन आँकड़ों का उल्लेख यह दिखाने के लिये किया गया कि पलायन करने वालों में शहरी अधिक थे, क्योंकि प्रायः शहर ही राजनीति के केन्द्र थे और वही प्रथमतः प्रभावित भी होते थे। यह बात विभाजन की प्रक्रिया पर भी लागू हुई। यह इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि विभाजन के बाद रामपुर और मुरादाबाद ही दो ऐसे शहर थे, जहॉ मुसलमानों की संख्या अधिक थी।

इस स्थानान्तरण का सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में व्यापक प्रभाव पड़ा। उत्तर प्रदेश में स्वतन्त्रता से पूर्व मुसलमानों का प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में तो था ही, साथ ही सरकारी नौकरियों, सेना, पुलिस, विधि, चिकित्सा, उद्योग, व्यापार एवं परिवहन के क्षेत्र में प्रभावी भागीदारी थी।[6] इनमें से अधिसंख्य मुसलमान शहरी व्यवसायों में लगे थे, यद्यपि कि ये आंकड़े ब्यौरेवार उपलब्ध नहीं हैं कि किस व्यवसाय से कितने लोगों ने स्थानान्तरण किया, किन्तु सामान्यतया स्थानान्तरण करने वालों में सरकारी नौकरी पेशा एवं व्यवसायी ही अधिक थे।[7] लखनऊ से प्रकाशित नेशनल हेराल्ड के अनुसार 4.4 लाख सरकारी कर्मचारी एवं उनके परिवार पिछले दो माह से पाकिस्तान गये, उनमें से तीन लाख से अधिक उत्तर प्रदेश के थे।[8] इस स्थानान्तरण ने न केवल मुस्लिम आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया, अपितु बौद्धिक एवं राजनीतिक नेतृत्व की भी कमी हुई।

उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को पाकिस्तान जाने की प्रेरणा मुस्लिम लीग के बड़े नेताओं द्वारा दिये गये आश्वासन से मिली थी। तत्कालीन स्थितियों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह बात उभरकर सामने आती है कि बिना निश्चित रूप रेखा एवं आधार के पाकिस्तान की माँग के सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को दिग्भ्रमित किया गया। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों में इससे कई भ्रम पैदा हुये और अन्ततः उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार देखा जाय तो यह पूरी प्रक्रिया विश्वासघात की कहानी है। तमाम मुसलमानों का विचार है कि वे अन्त तक अनिश्चितता की स्थिति में थे किन्तु साथ के लोग उन्हें सान्त्वना देते थे। जैसाकि अलीगढ़ के हेरात बिन हमीद का मानना है – "यह मुस्लिम लीग के सर्वोच्च नेताओं का दायित्व था कि वे हमारी पीड़ा बाँटते और हमें मार्गदर्शन देते क्योंकि हमने उनके लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया था।"[9] ये भावनायें न केवल हमीद की हैं बल्कि उन तमाम मुसलमानों की हैं, जिन्होंने मुस्लिम लीग का समर्थन किया था लेकिन विभाजन के बाद पाकिस्तान की जगह भारत में ही रहना स्वीकार किया था।

यह सही है कि मुस्लिम लीग की दूसरी पंक्ति के तमाम नेता जैसे इस्माइल खान, मुफ्ती फकरुल इस्लाम, नवाब एजाज रसूल, बेगम एजाज रसूल देश में ही रह गये थे, जबकि बड़े नेता पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाबजादा लियाकत अली खाँ, पाकिस्तान में मुस्लिम लीग के चेयरमैन चौधरी खलीकुज्जमाँ, अमीर हैदरखाँ राजा महमूदाबाद जो उत्तर प्रदेश के बड़े ताल्लुकेदार थे, पाकिस्तान चले गये थे।[10] ऐसे नेता जो पाकिस्तान नहीं गये उन्होंने स्थितियों से समझौता कर लिया था। मुफ्ती फकरुल इस्लाम का विचार था कि यदि उत्तर प्रदेश के उच्च नेताओं ने पाकिस्तान जाने का निर्णय न लिया होता तो बड़ी संख्या में बौद्धिक मुसलमान और आर्थिक उच्च वर्ग भारत में रह जाता। उनके अनुसार भागे हुये मुसलमानों ने यहाँ के मुसलमानों में भय पैदा कर दिया, जिसकी वजह से बाद में और मुसलमान देश छोड़कर चले गये।[11]

इसी तरह का विचार बेगम एजाज रसूल का भी है, जिन्होंने विभाजन के बाद मुस्लिम लीग छोड़कर कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली थी एवं राजनीतिक रूप से सक्रिय थीं। उनका विचार था कि खलीकुज्जमॉ एवं लियाकत अली खाँ जैसे लोग यदि रह जाते तो उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा में प्रभावी भूमिका निभाते और विभाजन के बाद जो असुरक्षा एवं अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी थी वैसी स्थिति में उनके (मुसलमानों) अन्दर विश्वास पैदा करते। उनके अनुसार लीग के दिग्भ्रमित

करने के कारण ही विभाजन हुआ और अब उन्हें (मुसलमानों को) इसकी कीमत देने के लिये तैयार रहना चाहिये, क्योंकि हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों के सामने उनकी शक्ति क्षीण हो गयी थी। बेगम रसूल मुफ्ती फकरुल इस्लाम के विचार से सहमत थीं कि यदि लीग के बड़े नेता पाकिस्तान न गये होते तो वे उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के पलायन को रोक सकते थे। उनके अनुसार खलीकुज्जमाँ, लियाकतअली एवं राजा महमूदाबाद का मुस्लिम अभिजन एवं बौद्विक वर्ग में काफी प्रभाव था। यह उनकी नैतिक जिम्मेदारी थी कि उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के साथ रहकर उनमें विश्वास पैदा करते।[12]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है जैसा कि स्थानान्तरण के आँकड़ों से भी पुष्ट होता है कि तुलनात्मक रूप से उत्तर प्रदेश से मुसलमानों का स्थानान्तरण कम हुआ यह उन शिक्षित अभिजनों तक सीमित था जो इकबाल के इस्लामी पुनर्जागरण की पवित्र भूमि की भावना से प्रभावित थे तथा इसका एक हिस्सा उन व्यवसायियों एवं सरकारी नौकरों का था जो पाकिस्तान में अपनी बेहतरी की उम्मीद करते थे तथा जिनकी दृष्टि में भारत में उनके लिये अनिश्चितता थी। जैसा कि इलाहाबाद के प्रख्यात साहित्यकार अकील रिजवी भी उन स्थितियों की चर्चा करते हैं – "जो लोग पाकिस्तान पहुँच गये थे वे अपने अज़ीजों को खत लिखते कि फौरन चले आओ, यहाँ बहुत मज़ा है, मुलाज़मते भी खूब हैं और हिन्दुओं की छोड़ी हुई जायदादें भी। चुनाँचे वह लोग जो यहाँ भी किराये के मकानों में रहते थे और रोज़ मारते खाते थे, सब पाकिस्तान जाने के लिये तैयार हो गये।"[13] इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि कि स्थानान्तरण में अभिजन की संख्या अधिक थी, किन्तु सामान्य लोग भी जाने की तैयारी में थे।

मुस्लिम लीग जो कि विभाजन के पहले उत्तर प्रदेश के मुसलमानों का प्रभावी संगठन था, विभाजन के बाद उसके बड़े नेताओं के पलायन कर जाने से मुसलमानों में भ्रम, असुरक्षा एवं अलगाव की भावना पैदा हुई और कुछ समय के लिये उनका आत्मविश्वास डिग गया और वे दिशाहीन हो गये। यद्यपि कि इन परिस्थितियों में कांग्रेस के कुछ मुस्लिम नेताओं द्वारा उनके लिये काम किया गया किन्तु इस समय स्थिति यह थी कि मुसलमानों को विश्वासघाती समझा जाता था, क्योंकि उन्होंने देश का विभाजन कराया था। इसमें यह तथ्य भी काम कर रहा था कि विगत कई चुनावों से मुस्लिम मतदाताओं ने कांग्रेस की अपेक्षा मुस्लिम लीग के पक्ष में मतदान किया था। ऐसी स्थिति में न केवल राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू महासभा जैसे उग्रवादी संगठनों ने ही मुसलमानों पर अविश्वास किया अपितु कुछ बड़े

नेताओं की सोच भी ऐसी थी। यहाँ तक कि धर्मनिरपेक्ष और अति सम्मानित उत्तर प्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री पं. गोविन्द बल्लभ पन्त ने भी एक बार मुस्लिम क्षेत्र के उपचुनाव में कांग्रेस प्रत्याशी मुजफ्फर हुसेन को वोट देकर अपनी विश्वसनीयता प्रदर्शित करने को कहा – "कांग्रेस ने केवल मुसलमानों का परीक्षण करने के लिये ही मुस्लिम प्रत्याशी खड़ा किया है और उन्होंने चेतावनी दी की यदि वे अपने पुराने रास्ते पर ही रहते हैं तो हिन्दू राज्य की स्थापना अनिवार्य है।"[14]

इन परिस्थितियों में भी ऐसा नहीं था कि सभी राजनेता मुसलमानों पर अविश्वास करते थे बल्कि गाँधी और नेहरू ने मुसलमानों पर अविश्वास की बात से इन्कार किया।[15] यही नहीं गाँधी का रुख तो चेतावनी पूर्ण था कि यदि हिन्दू और सिखों द्वारा किसी भी प्रकार से मुसलमानों का बहिष्कार किया जाता है तो यह भारत की प्रगति में बाधक होगा।[16] उस तनावपूर्ण दंगे की स्थिति में शांति स्थापना की उनकी तमाम कोशिशों के अलावा 13–18 जनवरी तक दिल्ली में उपवास भी किया गया। जो हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना के लिये किया गया था। इसके अतिरिक्त यह भारत में मुसलमानों के विरुद्ध एवं पाकिस्तान में हिन्दुओं के विरुद्ध हो रही हिंसक गतिविधियों को रोकने के लिये किया गया था। ऐसा करके गाँधी मुसलमानों के भीतर विश्वास बढ़ाना चाहते थे। इसने न केवल हिंसा को कम किया बल्कि विभाजन के बाद मुसलमानों को यह अवसर दिया कि वे अपने घरों से बाहर निकलकर गाँधी को उपवास करने से रोकें। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों द्वारा अनेक सभायें की गयीं और इनमें उनसे उपवास तोड़ने का अनुरोध किया गया। जो यह दर्शाता है कि मुसलमान उनके साथ काम करने को इच्छुक थे। इतना ही नहीं विभाजित पाकिस्तान में भी उनके इस कदम की प्रशंसा की गयी। जैसा कि 13 जनवरी 1948 की एक सभा में पाकिस्तान के वित्तमंत्री जिया मुहम्मद मुमताज खान द्वारा व्यक्त किया गया – "महात्मा गाँधी के अनशन ने मुसलमानों के प्रति उनकी जिस सहानुभूति को प्रकट किया है, उसे यथोचित उपलब्धि मानना हमारा फर्ज है। इससे इतना समझा जाता है कि भारत में कम से कम एक आदमी है जो हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए अपनी जान तक न्योछावर करने को तैयार है। हम सर्वशक्तिमान ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह अनशन चलाने की जरूरत नहीं होगी। इस सभा में खड़े होकर मैं महात्मा गाँधी को यह आश्वासन देता हूँ कि अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए उनके आग्रह के प्रति हम सम्पूर्ण रूप से समर्थन व्यक्त करते हैं।"[17]

परिवर्तित परिस्थितियों में अब मुस्लिम समाज में भी साम्प्रदायिकता के प्रति घृणा की भावना देखने को मिली। बहुत से लोग जो विभाजन से पूर्व मुस्लिम लीग में कार्य कर रहे थे, अब उससे खुद को अलग करने लगे। मुस्लिम लीग के गाजीपुर के अध्यक्ष हसन खॉ ने अपने पद से त्याग पत्र देते हुये उसे साम्प्रदायिक पार्टी कहा और उन्होंने ने मुसलमानों से अपील की कि वे गाँधी जी की इच्छा के अनुरूप साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना के लिये कार्य करें।[18] इलाहाबाद जिले के मुस्लिम लीग के अध्यक्ष तुफेल ने अध्यक्ष पद छोड़ न केवल कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली बल्कि मुसलमानों से कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने की अपील की।[19] एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि 14 फरवरी 1948 को उत्तर प्रदेश मुस्लिम लीग विधायक दल ने मुस्लिम लीग को भंगकर जनता पार्टी नाम से नया दल बना लिया।[20] इससे स्पष्ट होता है कि लोग विभाजन की वास्तविकता को समझ चुके थे और हकीकत से साक्षात्कार कर नये ढंग से सोचने लगे थे।

विभाजन से उपजी परिस्थितियों में लोगों की मानसिकता में मुसलमानों के प्रति पूर्वाग्रह दिखायी देता है। यह पूर्वाग्रह सरकारी नीति में भी देखने को मिला। उत्तर प्रदेश के पहले मुख्यमंत्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने राजकीय सेवाओं विशेषकर पुलिस सेवा में उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की भर्ती का विरोध किया।[21] जब पन्त दिल्ली चले गये तो उनके उत्तराधिकारी ने भी यह नीति जारी रखी तथा इस बात को निश्चित किया कि अखिल भारतीय एवं प्रादेशिक सेवाओं में अल्पसंख्यकों का चयन बन्द रहेगा।[22] इसके कारण मुस्लिम मध्यवर्ग में पलायन की प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई और सरकारी सेवाओं में मुसलमानों का प्रतिशत तेजी से घटा जो कभी हिन्दुओं के बराबर था।[23] इस समय मुस्लिम मानसिकता में परिवर्तन देखने को मिला। यह परिवर्तन वैसे तो सभी क्षेत्रों में देखने को मिला किन्तु पुलिस व्यवस्था के प्रति यह विशेष रूप से था क्योंकि अब दंगों में पुलिस का रवैया निर्मम हो गया था। बहुत से मुसलमान इस बात को लेकर दुखी थे तथा 1947 के पहले कि स्थिति के बारे में सोचने लगे थे कि जब प्रत्येक थाने पर एक मुस्लिम दरोगा रहता था तथा ब्रिटिश अधिकारियों की उपस्थिति में उन्हें बेहतर संरक्षा एवं न्याय मिलता था।

उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की राजनीतिक स्थिति में भी साफ परिवर्तन देखने को मिलता है। 1946 के विधान सभा चुनावों में 66 मुस्लिम सीटों में से मुस्लिम लीग को 53 सीटें मिली थीं तथा 73.29 प्रतिशत शहरी एवं 62.39 प्रतिशत ग्रामीण मुस्लिम मतदाताओं का मत प्राप्त हुआ था।[24] यद्यपि कि चुनाव बहुत सीमित थे, लेकिन उत्तर प्रदेश के चुनाव में मुस्लिम लीग प्रमुख

पार्टी बनकर उभरी थी विभाजन के बाद इसके बिखराव एवं नेताओं के पलायन से मुसलमान नेतृत्व विहीन हो गये। कुछ समय तक तो ऐसा लगा कि 1947 के बाद नेतृत्व रह ही नहीं गया। बाद में मुस्लिम नेता समझौते करने लगे। इसका एक पहलू यह था कि पृथक निर्वाचन मंडल समाप्त हो जाने से उत्तर प्रदेश में मुस्लिम समाज अपने आपको संगठित नहीं कर सका, लेकिन जब संसदीय व्यवस्था में सार्वभौमिक मताधिकार मिल गया तो निम्नवर्गीय मुसलमान जो कभी भी राजनीतिक आधार पर संगठित नहीं हुये थे, अब संसदीय व्यवस्था के भाग बन गये। इस परिवर्तन ने 1947 के बाद मुस्लिम राजनीति को परिवर्तित कर दिया।

विभाजन के पहले उत्तर प्रदेश के मुसलमानों का राजनीतिक नेतृत्व तीन भागों में विभाजित दिखायी देता है। पहले वर्ग में मध्यमवर्गीय ऐसे वकील, डाक्टर, अध्यापक एवं पत्रकार थे जो धर्म निरपेक्ष एवं मार्क्सवादी थे, यह संख्या अत्यन्त सीमित थी। ये कांग्रेस के साथ काम कर रहे थे, किन्तु बाद में अन्य दलों में भी गये। दूसरे वर्ग में ऐसे मध्यमवर्गीय लोग थे जो पुरातनपंथी एवं रूढ़िवादी थे। इनका राजनीतिक प्रभाव अत्यन्त सीमित था।[25] तीसरे वर्ग में जमायत उल उलेमा जो देवबंद के उलेमाओं का समूह था, जिसने कांग्रेस के साथ काम करते हुए पाकिस्तान बनने का विरोध किया था। विभाजन से पहले इनका एक गुट मुस्लिम हितों पर बोलता था। यह समूह पिछड़े वर्ग के मुसलमान बुनकरों (मोमिन) का था जो उत्तर प्रदेश एवं बिहार से सम्बन्धित थे। मोमिन आन्दोलन कांग्रेस का सहयोगी था क्योंकि कांग्रेस ने हथकरघा एवं खादी को लोकप्रिय बनाया था। मोमिन नेताओं ने उच्च जाति प्रभावित मुस्लिम लीग का विरोध किया था। विभाजन के बाद जमायत और मोमिन नेता मुसलमानों की आवाज थे। अब्दुल कयूम अंसारी जो आल इंडिया मोमिन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष थे ने हमेशा मुसलमानों को मुस्लिम लीग से सबक लेने को कहा तथा अपील की कि वे कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करें तभी उनका विकास होगा।[26] जनवरी 1949 में मोमिन कांफ्रेन्स की वर्किंग कमेटी की बैठक में उन्होंने सरकार से माँग की कि मोमिन को पिछड़ी जाति घोषित किया जाय तथा धागों के मूल्य आदि में रियायत दी जाय।[27] अंसारी ने उन पाकिस्तानी नेताओं के खिलाफ भी आवाज उठायी जो भारत में मुस्लिम अभियान के विरुद्ध बोल रहे थे। उन्होंने कहा कि पहले पाकिस्तान अपना घर देखे तब भारतीय मुसलमानों के बारे में बात करे।[28]

जमायत उल उलेमा के अन्दर दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिली, एक तो वह मुसलमानों को राजनीतिक नेतृत्व देना चाहती थी तथा दूसरे यह कि

मुसलमानों का धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठन भी बना रहे। विभाजन एवं गाँधी की हत्या के बाद धर्म एवं राजनीति में भेद करना मुश्किल हो गया था। इसलिये जमायत को रक्षात्मक रुख अपनाना पड़ा क्योंकि अब उसके ऊपर साम्प्रदायिक होने का आरोप लग रहा था।[29] 27 अप्रैल 1948 को बम्बई की एक सभा में मौलाना आजाद एवं जवाहर लाल नेहरू ने जमायत के बारे में यह मत प्रकट किया था कि यह एक सांस्कृतिक एवं धार्मिक संगठन है न कि राजनीतिक।[30] यहाँ यह उल्लिखित करना समीचीन है कि खिलाफत आन्दोलन के समय से ही जमायत का राजनीति में दखल था। उसने कई राजनेता तैयार किये जो कांग्रेस राजनीति के साथ जुड़े। इनमें प्रमुख थे मौलाना अबुल कलाम आजाद, हफीजुर्रहमान, निसार अहमद शेरवानी हफीज मुहम्मद इब्राहिम जिन्होंने न केवल मुसलमानों का रुख कांग्रेस की ओर किया बल्कि मुसलमानों को प्रभावी बनाने के लिये जमायत का प्रयोग किया।[31] विभाजन के बाद मुस्लिम लीग के परिदृश्य से हट जाने के बाद जबकि कांग्रेस को मुसलमानों का समर्थन अनिश्चित हो गया था, मोमिन कान्फ्रेन्स एवं जमायत जैसे संगठनों ने कांग्रेस का सहयोग किया।

कांग्रेस ने अपने हित साधन एवं राजनीतिक आधार के लिये जमायत का उपयोग किया। थोड़े बहुत अन्तरों के बावजूद जमायत कांग्रेस को सहयोग करती रही। मुसलमानों का धार्मिक संगठन होने के कारण इस पर उलेमाओं का बोलबाला था। यह मुसलमानों के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हितों की रक्षा करती थी। इसके धर्म को राजनीति के साथ जोड़ने पर जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि वे ईमानदारी से बाहर आयें और सामाजिक आर्थिक आन्दोलन में भाग लें – "एक स्वाधीन राष्ट्र में कोई अल्पसंख्यक समुदाय यदि अपने आपको अलग करता है, तो देश का नुकसान तो करता ही है, इससे अधिक वह अपना नुकसान करता है क्योंकि ऐसा प्रतिबन्ध केवल धार्मिक नहीं होता बल्कि राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र तक विस्तृत होता है और उन लोगों को प्रभावित नहीं करता जो औरों को ऐसा करने के लिये प्रेरित करते हैं।"[32]

तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विभाजन के बाद कांग्रेस को मुसलमानों का समर्थन मिलने लगा था। पृथक निर्वाचन की समाप्ति के बाद मुसलमान कांग्रेस के सहयोगी हो गये थे। इसका प्रभाव उत्तर प्रदेश पर भी पड़ा। कई क्षेत्रों में मुस्लिम प्रत्याशी कांग्रेस समर्थन के कारण जीते थे और वे इस स्थिति को आगे भी बनाये रखता चाहते थे। इनमें से बहुत से लोगों का मत था कि वे उन मुद्दों से दूर रहना चाहते थे, जो केवल मुसलमानों से सम्बन्धित थे।[33] इससे यह पता चलता है कि मुस्लिम

मानसिकता में परिवर्तन आ रहा था क्योंकि पूर्व की स्मृतियाँ काफी भयावह थीं और उन स्थितियों की गवाह थीं जिससे देश का विभाजन हुआ और परिवर्तित परिस्थितियों में कोई भी इसकी पुनरावृत्ति नहीं चाहता था।

यहाँ उन सामान्य लोगों की स्थितियों एवं भावनाओं की चर्चा भी समीचीन है, जिन्हें विभाजन की त्रासदी झेलनी पड़ी थी। 1946 से 1950 के मध्य ग्रामीण मुसलमानों का शहरों की ओर पलायन भी एक महत्वपर्ण पहलू था। कुछ साक्ष्यों के अनुसार यह तीन लाख से ऊपर था।[34] इसका एक महत्वपूर्ण कारण विशेषतः उत्तर प्रदेश और बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक दंगों का फैलना था, जहाँ मुस्लिम आबादी छोटे–छोटे समूहों में बिखरी हुई थी। यह एक सामान्य दृश्य था कि 1946–47 में मुस्लिम शरणार्थी घर छोड़कर उत्तर प्रदेश के शहरों एवं मुहल्लों में शरण ले रहे थे। उनमें से सभी पाकिस्तान नहीं गये और न ही सबको पाकिस्तान जाने वाली ट्रेन में जगह मिली थी।[35]

इनमें से बहुत से शहरों में रह गये और जो गाँव गये भी उन्हें निराश होकर शहर लौटना पड़ा क्योंकि उनकी सम्पत्ति पर दूसरों ने कब्जा कर लिया था। ऐसे तमाम लोगों में से एक उस्मान भी था जो इलाहाबाद के एक गाँव मंसूराबाद से अपनी माँ एवं पत्नी के साथ 1947 में गाँव छोड़कर इलाहाबाद आ गया था। उसे अटाला में एक मुस्लिम होटल मालिक ने काम दिया जहॉ उस्मान बेयरे का काम करता था और उसकी पत्नी बर्तन माँजती थी।[36] बाद में 1950 में मालिक से झगड़ा हो जाने पर वह नौकरी गवाँ बैठा, वह जब गाँव लौटा तो वहाँ उसका घर भी नहीं था और उसकी एक–दो एकड़ जमीन पर गाँव के ही धुन्नी सिंह ने कब्जा कर लिया था। उसने (धुन्नी सिंह) यह मामला उठाने के लिये उस्मान को मना किया। उस्मान शहर लौट आया और रिक्शा चलाने लगा। बाद में वह गाँव फिर गया और सौ रूपये के बदले स्थानीय पटवारी की मध्यस्थता से विवाद में समझौता कर लिया और इलाहाबाद आकर चाय की दुकान खोली। .... वह अपने को उन लोगों की तुलना में भाग्यवान समझता है जिन्होंने विभाजन में अपना सब कुछ गवाँ दिया था।[37]

विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश के मुसलमानों का वह भ्रम भी टूटा जो उन्होंने मुस्लिम लीग एवं पाकिस्तान को लेकर पाल रखे थे। अधिक संख्या में उत्तर प्रदेश के अभिजनों के पलायन ने प्रदेश में मुसलमानों के आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभाव को कम किया। हिन्दुओं द्वारा उन्हें विश्वासघाती भी कहा गया क्योंकि मुस्लिम लीग के माध्यम से वे पाकिस्तान की माँग कर रहे थे किन्तु अब उन्हें इसके लिए मानसिक तौर पर अपराध बोध हो रहा था।

बनारस का बुनकर शम्सुद्दीन अंसारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय 14 वर्ष का था, वह घटना को इस प्रकार याद करता है – "गलियों में बहुत ही प्रसन्नता एवं उत्सव का वातावरण था, लेकिन हम उसमें भाग ले सकने में असमर्थ थे। हमारे हिन्दू भाइयों ने इस अवसर का स्वागत पटाखे छोड़कर किया और हम अपने घरों में संशय एवं भय के बीच बैठे थे। हम अनुभव करते थे कि हमारी आजादी पाकिस्तान ने छीन ली है।"[38] इसी प्रकार का अनुभव जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर का भी था जो 1947 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्र थे। वे उस समय की स्थिति को इस प्रकार याद करते हैं – "अलीगढ़ में लोगों की स्थिति सदमें और अविश्वास की थी। वे भावशून्य थे और चारों ओर दुख और शोक का माहौल था, जैसे कोई मर गया हो। वे अपने छात्रावास के रसोइये निजामुद्दीन के चेहरे के भाव को याद करते हैं जो उनके कमरे के अन्दर जाने से घबरा रहा था। उसने दबी जुबान से कहा– सर! वे कहते हैं कि पाकिस्तान बन गया है, लेकिन अलीगढ़ उसका भाग नहीं होगा।"[39] स्पष्ट है कि निजामुद्दीन की यह किंकर्तव्यविभूढ़ता केवल उसकी अपनी ही नहीं थी बल्कि उन तमाम मुसलमानों की थी, जो सोचते थे कि पाकिस्तान बनने पर गली एवं मुहल्लों का भी विभाजन होगा।

तमाम साधारण मुसलमानों के दिमाग में मुस्लिम लीग के प्रचारकों द्वारा यह बात बैठा दी गयी थी कि जब पाकिस्तान का निर्माण होगा, तो उनका मुहल्ला पाकिस्तान का अंग होगा। बनारस के बुनकर रहमत उल्ला अंसारी जिन्होंने मुस्लिम लीग का विरोध किया था, के अनुसार बनारस की आम जनता कभी भी जिन्ना एवं मुस्लिम लीग के सम्पर्क में नही आयी। अधिकांशतः उनका मन परिवर्तन अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उन छात्रों द्वारा किया गया जो बनारस आते रहते थे तथा समय–समय पर मुस्लिम मुहल्लों के पाकिस्तान का भाग होने की बात कहते थे। वे कहते थे कि तब भारत और पाकिस्तान के बीच खुला गलियारा होगा, जहाँ लोग आसानी से आ जा सकेगें।[40] स्पष्ट है कि विभाजन लागू होने के बाद जो हकीकत सामने आयी उससे मुसलमानों का भ्रम टूटा जो कि विभाजन के पक्षधर नहीं थे, तथा विभाजन के बाद पाकिस्तान की क्या तस्वीर होगी उसको लेकर आशंकाग्रस्त भी थे, फिर भी उनके मन में यह बात भरी जाती रही कि विभाजन से उनको भी लाभ होगा, जो कि बाद में मिथ्या साबित हुई।

यहाँ कुछ सरकारी कदमों की चर्चा भी समीचीन है जिससे विभाजन के बाद की प्रतिक्रिया को समझा जा सकता है। सरकार के सम्पत्ति संरक्षा विभाग द्वारा शहरी मुसलमानों की सम्पत्ति जब्त करने का प्रयास किया गया।

शरणार्थी सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत जो मुस्लिम पाकिस्तान चले गये थे, उन्होंने भारत में सम्पत्ति का अधिकार खो दिया था। ऐसी स्थिति में ऐसे समस्त मुस्लिम परिवार मुश्किल में थे, जो पलायन कर गये थे। सामान्यतया एक या दो ही सदस्य बेहतर भविष्य की खोज में पाकिस्तान गये थे किन्तु यदि सम्पत्ति उसी व्यक्ति के नाम थी जो पाकिस्तान चला गया था तो यह स्थिति पूरे परिवार के लिये त्रासद थी। सम्पत्ति विभाग के लोग मुस्लिम क्षेत्रों में जाकर पलायन कर गये लोगों की सूची बना रहे थे। नेतृत्व के अभाव में मुस्लिम दिग्भ्रमित थे और अपनी जायदाद को बचाने में असमर्थ थे। जिन अधिकारियों ने ऐसे मकानों को खाली कराया उनकी कई पीढ़ियाँ इन मकानों में रहीं। कई ऐसी घटनाओं में सम्पत्ति तब बच सकी जब उन्होंने अधिकारियों को घूस दी। जैसा कि नेहरू जी के मन्तव्य से भी पता चलता है — उन्हें तब अधिक दुख पहुँचा जब यह पता चला कि स्वतन्त्रता संग्राम के दौर के उनके मित्रों को इसलिये कष्ट झेलना पड़ रहा था कि उनके सम्बन्धी पाकिस्तान चले गये थे।[41] नेहरू जी की भावनाओं का पता इससे भी चलता है जब उन्होंने पुनर्वास मंत्री मोहन लाल सक्सेना को 1949 में पत्र लिखा था — "वास्तव में उत्तर प्रदेश मेरे लिये विदेशी भूमि हो गयी है मैं इसमें उपयुक्त नहीं बैठता। उत्तर प्रदेश की कांग्रेस जिससे मैं पैंतीस वर्ष जुड़ा रहा, उसके कार्य अब चकित करते हैं। इसकी आवाज कांग्रेस की आवाज नहीं रही जिसे मैं जानता हूँ।[42] इससे स्पष्ट है कि विभाजन से उपजी परिस्थितियों ने लोगों के दिमाग में परिवर्तन कर दिया था। यह इसलिये भी स्वाभाविक था कि लोग तुरन्त ही विभाजन की पीड़ा से गुजरे थे।

शरणार्थी सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत यदि कोई मुस्लिम पाकिस्तान चला गया तो उसका कोई सम्बन्धी न तो जमीन बेंच सकता था और न ही उसके बदले ऋण ले सकता था। सितम्बर 1949 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा ऐसे चालीस जिलों को चिह्नित किया गया था जहाँ कोई भी अचल सम्पत्ति स्थानान्तरित नहीं की जा सकती थी, जब तक कि जिलाधिकारी इसके लिये सहमति न दे।[43] इससे मुसलमानों के अन्दर असुरक्षा का भाव आया। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पाकिस्तान में हिन्दुओं एवं सिखों का जीवन भी कठिन हो गया था।

इसी परिप्रेक्ष्य में उर्दू के प्रति सरकारी नीति को भी देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक उत्तर प्रदेश में उर्दू हिन्दी के साथ सरकारी भाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही थी। 1951 में हिन्दी राज्य की अकेली राजभाषा बनी लेकिन इसके भी पूर्व उर्दू को हटाने का प्रयास किया गया। नेशनल हेराल्ड

के अनुसार जनवरी 1948 में हिन्दी की खोज प्रारम्भ हुई। फारसी से लिये गये कुछ शब्द जो सरकारी भाषा में प्रयुक्त हो रहे थे अब उन्हें निकाला जाने लगा। इसके लिये कहा जा रहा था कि उर्दू अनुवादकों को सचिवालय के अन्य विभागों में भेजा जाय और बहुभाषी अनुवादकों को पुराने उर्दू शब्दों का हिन्दी में अनुवाद करने के लिये नियुक्त किया जाय।[44] अप्रैल 1948 में सभी थानों में प्रथम सूचना रिपोर्ट केवल हिन्दी में लिखी जाने लगी। एक हजार लोग हिन्दी में हेड कांस्टेबिल पद पर कार्य करने के लिये प्रशिक्षित किये गये और बहुत से लोग इसलिये हटा दिये गये कि वे केवल उर्दू में ही काम कर सकते थे।[45] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि उत्तर प्रदेश के बहुत से शिक्षित मुसलमान जिन्होंने उर्दू को अपनी मातृभाषा माना था और जिसने उन्हें सांस्कृतिक एवं धार्मिक एका में बाँधा था, 1947 के बाद उसे अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड़ रहा था।

उर्दू को न केवल सरकारी कार्यालयों एवं अदालतों से ही हटाने का प्रयास हो रहा था बल्कि शैक्षिक क्षेत्र से भी हटाया जा रहा था और इसके लिये प्राथमिक स्तर को ही चुना गया। उत्तर प्रदेश विधान सभा में विपक्ष के नेता जेड.एच. लारी. ने सरकार का ध्यान 29 मई 1948 के गजट की ओर आकृष्ट किया जिसमें उर्दू को स्कूलों से निकाल दिया गया था। सूचना निदेशक के आदेश में कहा गया था— निम्न पुस्तकों का उर्दू अनुवाद अब जुलाई 1948 से नहीं होगा— बेसिक रीडर भाग एक, दो, तीन एवं चार तथा बेसिक अंकगणित भाग एक, दो, तीन एवं चार।[46] साम्प्रदायिक सौहार्द कायम करने के लिये उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष पुरुषोत्तम दास टण्डन का मत था कि— "मुसलमानों को विदेशी संस्कृति और सभ्यता को रोकना चाहिये। उन्हें भारतीय संस्कृति अपनानी चाहिये। एक भाषा और एक संस्कृति एकता का मार्ग बताती है। उर्दू से विदेशी संस्कृति का एहसास होता है। हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो देश में विभिन्न शक्तियों को एक कर सकती है।"[47] ऐसे ही विचार उत्तर प्रदेश सरकार के संसदीय सचिव चरण सिंह के भी थे — फारस एवं अन्य मुस्लिम देशों की भाषा, संस्कृति, वेशभूषा पर निर्भर रह कर मुसलमान भारत के लोगों से अलग प्रतीत होते हैं। उन्होंने भारत के मुसलमानों को चीन के मुसलमानों से उदाहरण लेने की बात कही जो भाषा, संस्कृति यहाँ तक कि नाम भी अपने देश की भाषा के अनुरूप ही रखते हैं।[48]

इससे यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के बाद कतिपय ऐसी स्थितियों का निर्माण हुआ जिसे हम तात्कालिक प्रतिक्रिया कह सकते है क्योंकि बाद की स्थितियों में साम्प्रदायिक सौहार्द एवं समन्वय के लिये प्रयास सरकारी एवं गैर

सरकारी दोनों ही स्तरों पर किया गया, लेकिन यह भी ध्यातव्य है कि जो विश्वास टूटा था उसको पूरी तरह कायम नहीं किया जा सका।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

देश–विभाजन भारतीय इतिहास का एक ऐसा क्षण है, जिसने न केवल तत्कालीन स्थितियों को गहराई तक प्रभावित किया बल्कि यह प्रभाव आज तक बना हुआ है। विभाजन की प्रक्रिया से उपजी तमाम परिस्थितियों की याद लोगों के जेहन में घर गयी थी और आज भी बसी हुई है। यहाँ साहित्यिक स्रोतों के माध्यम से उन स्थितियों की तलाश की जायेगी जो विभाजन के बाद पैदा हुईं। साहित्य की दृष्टि से इतिहास को देखने का प्रयास होगा इस आशय के साथ कि विभाजन लोगों को कैसे प्रभावित कर रहा था, उत्तेजित कर रहा था और प्रतिक्रिया में किस हद तक लोग भावना में बहे जा रहे थे। तत्कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करें तो प्रतिक्रिया दोनों तरफ से हो रही थी चाहे वह हिंसक रही हो या समन्वय एवं सौहार्द स्थापना के लिए।

यहाँ सर्वप्रथम हिन्दू–उर्दू विवाद को विवेचित करने का प्रयास होगा क्योंकि यह एक ऐसा मुद्दा था जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के शुरुआती दौर को ही साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रभावित किया था। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि यह आन्दोलन उत्तर प्रदेश में बड़ी तीव्रता के साथ संचालित किया गया था। ध्यातव्य यह भी है कि इस आन्दोलन का केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रमुख शहर बनारस एवं इलाहाबाद थे। साम्प्रदायिक स्थितियों के निर्माण में इस आन्दोलन का बहुत बड़ा हिस्सा था। यही कारण था कि विभाजन के बाद भी यह प्रश्न लोगों को मथ रहा था। सरकारी तौर पर उठाये गये कदमों की चर्चा की जा चुकी है। यहाँ चर्चा का बिन्दु है साहित्यकारों की दृष्टि में हिन्दी और उर्दू की क्या स्थिति थी और वे क्या चाहते थे। यहाँ 1948 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति राहुल सांकृत्यायन के भाषण का यह अंश उल्लेखनीय है जिसमें हिन्दी–उर्दू विवाद की ओर संकेत किया है– "यह कुफ्र का फतवा आगे इतना बढ़ा कि जो भी छँटी मूँछ और बढ़ी दाढ़ी से विहीन शब्द उर्दू कविता या साहित्य में दिखलाई पड़ा उसे चुन–चुनकर रेल के डिब्बों से बाहर गिराया गया।'[44] यहाँ राहुल जी ने उर्दू वालों द्वारा हिन्दी शब्दों के बहिष्कार की ओर संकेत किया है लेकिन जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह निहायत प्रतिक्रियात्मक तो है ही साथ ही उस समय की साम्प्रदायिक मारकाट की ओर भी इशारा करती है। जैसा कि हंस के सम्पादक द्वारा टिप्पणी की जाती है –

"राहुल जी की इस निर्ममता से वे लोग खुश होंगे जो 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' का स्वप्न देखते हैं और जो लोग हिसाब लगाते रहते हैं कि अगर मुसलमानों ने इतनी स्त्रियों को मौत के घाट उतारा तो हम इतनों का खून बहायेंगे। उन्होंने अगर इतनों को गाड़ी के डिब्बों से बाहर फेंका तो हम.......... ।"[50]

राहुल जी का कथन और उस पर संपादक द्वारा की गयी टिप्पणी हिन्दू–उर्दू विवाद की तीव्रता का स्पष्ट निदर्शन करते हैं। लेकिन यदि वास्तव में देखा जाय तो क्या दोनों भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार संभव था जैसा कि इसी संपादकीय में लिखा गया है – "भाषा साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी क्या इस बदले की भावना को स्वीकार किया जायेगा। रेल के डिब्बों में से जिस प्रकार हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमान हिन्दुओं को बाहर फेंक रह थे, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी क्या हिन्दी वाले उर्दू के शब्दों को और उर्दू वाले हिन्दी के शब्दों को चुन–चुनकर फेंकना शुरू करेंगे ?" साथ ही खतरे की ओर संकेत भी किया गया है – "खतरा काल्पनिक नहीं वास्तविक है। प्रतिगामी शक्तियाँ दोनों ही ओर हैं– हिन्दुओं में भी और मुसलमानों में भी। इन शक्तियों के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता, न ही उनके खतरे की ओर से आँखें बन्द की जा सकती हैं।"[51] लेकिन यहाँ सम्पादक ने खुद स्पष्ट किया है कि राहुल जी ने उन मुसलमानों की निन्दा की है जिन्होंने छँटी मूँछे और बढ़ी दाढ़ी से विहीन शब्दों को चुन–चुनकर गाड़ी के डिब्बे से फेंका था। उन हिन्दुओं के पक्ष में भी राहुल जी नहीं है जो तिलक और चोटियाधारी शब्दों से हिन्दी को भरना चाहते हैं।

निश्चित रूप से विवाद के बाद भी एक ऐसा संकेत है जिसमें रास्ता निकालने की गुंजाइश है क्योंकि दूसरी ओर उर्दू लेखकों का दावा है कि– 'सिर्फ उर्दू की नज्मों अफसानों और मजामीन के इन्तखाब से पिछले नब्बे बरस की कौमी लड़ाई की पूरी तारीख मुरत्तब की जा सकती है।"[52] यद्यपि कि उन परिस्थितियों में पूरी मुस्लिम कौम को ही विश्वासघाती समझा जा रहा था लेकिन पूर्व में किये गये उनके बलिदान को नकारा भी नहीं जा सकता। इसीलिये कैफी आज़मी बड़े विश्वास के साथ कहते हैं–

हमने पूजा है तुझे, हमने सँवारा है तुझे

हर मिटे नक्श को चमकाके उभारा है तुझे

अपनी गर्दन का लहू देके निखारा है तुझे

दार पर चढ़के कई बार पुकारा है तुझे।

इस विश्वास के पीछे कवि को कौम के बलिदानों का एहसास भी है तभी बड़े विश्वास के साथ कहते हैं — तू जिस अंजाम पे मगरूर है भी, शाद भी है/उसका आगाज हमीं थे तुझे कुछ याद भी है।[53] कवि का यह कथन इस बात का भी आग्रह है कि इस विषय पर विचार करते समय सभी स्थितियों पर दृष्टिपात किया जाय।

हिन्दी—उर्दू को लेकर चल रहे विवाद में साम्प्रदायिकता का प्रश्न अन्तर्निहित था। जैसा कि राम विलास शर्मा उल्लेख करते हैं — "अभी हाल में ही नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने रविशंकर शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी वालों सावधान !' प्रकाशित की है, इसमें पचीसों ऐसे शब्दों की सूचना दी गयी है जो रोज के व्यवहार में आते हैं, लेकिन जिनसे हिन्दी को शुद्ध करने का तकाजा किया गया है। श्री रविशंकर प्रचलित भाषा को कसौटी नहीं मानते। उनकी कसौटी हिन्दुत्व है।"[54] शर्मा जी ने इस बात का विरोध किया, क्योंकि उनका मानना था कि — "जनता शब्दों को हिन्दू मुसलमान समझकर नहीं अपनाती, जो उसकी अपनी जातीयता के निकट होते हैं, उन्हीं को वह अपनाती है और अक्सर उन्हें अपने रंग में रंग लेती है।"[55] लेकिन राहुल सांकृत्यायन का मत था कि — "अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ—साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा से ज्यादा लादना व्यवहार एवं बुद्धिमानी की बात है।"[56] इस पर राम विलास शर्मा का मत है कि— राहुल जी ने अपने भाषण में हिन्दी और उर्दू के भेद को हिन्दू धर्म और इस्लाम का भेद बना दिया है। इसीलिये उन्होंने 'इस्लाम को भारतीय बनाना चाहिये'— यह मॉग पेश की है।"[57] शर्मा का यह भी मत है कि— "हिन्दू धर्म को शुद्ध भारतीय कहने वाले और इस्लाम को भारत ही नहीं विश्वव्यापी बताने वाले कुछ मनचले सज्जन हिन्दी और उर्दू को अपने—अपने धर्म की ध्वजा बनाकर हिन्दू—मुसलमान, मजदूर—किसान में भी फूट डालने की कोशिश कर रहे हैं।"[58] इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि कुछ हिन्दू साहित्यकार उर्दू को लेकर पूर्वाग्रह ग्रस्त थे, तो ऐसे भी लोग थे जो उर्दू की वकालत भी कर रहे थे।

लेकिन यह तथ्यतः सही है कि साम्प्रदायिक भावनाओं ने लोगों के मन में इस तरह घर कर लिया था कि जो उर्दू फारसी हिन्दू भी पढ़ते थे अब उससे लोगों का दुराव होने लगा था। जैसा कि अगस्त 1947 के हंस के सम्पादकीय से पता चलता है — "मेरी पीढ़ी आते—आते 'उर्दू मुसलमानों की भाषा है' यह भाव इतना काफी प्रबल हो गया था कि मेरी शिक्षा—दीक्षा हिन्दी में हुई। उर्दू—फारसी हमारे घर में बुरी तरह घर कर गयी थी वह जाती तो भला कैसे, मगर हिन्दी के प्रति पक्षपात का भाव हमारे यहाँ भी आने लगा था,

इसमें सन्देह नहीं।"[59] यह स्वीकारोक्ति उन अमृत राय की है जिनके पिता मुंशी प्रेमचन्द का लेखन कार्य ही उर्दू से शुरू हुआ था। इससे सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उर्दू के प्रति हिन्दुओं का क्या भाव था। इतना ही नहीं स्कूलों की स्थिति के बारे में भी वे संकेत करते हैं – "आप किसी स्कूल की उर्दू कक्षाओं के पिछले कई साल के रजिस्टर निकलवा कर देखिये आप पायेंगे कि उर्दू पढ़ने वाले हिन्दू लड़कों की संख्या प्रतिवर्ष कम होती जा रही है, और अभी उस रोज एक स्थानीय हाईस्कूल के एक अध्यापक मित्र कह रहे थे कि अब स्वयं लड़कों की ओर से यह आन्दोलन उठाया जा रहा है कि हम सेकेन्ड फार्म के रूप में भी उर्दू नहीं पढ़ना चाहते।"[60] इससे स्थितियों का सहज आकलन किया जा सकता है।

इसी तरह की स्थितियों की चर्चा इलाहाबाद के सैयद अकील रिजवी भी करते हैं और साथ ही सरकारी दृष्टिकोण के प्रति भी संकेत करते हैं– उस साल अजब इत्तेफ़ाक हुआ कि उर्दू के एम.ए. क्लास में कोई दाखला नहीं हुआ। उर्दू पढ़ने वाले सब पाकिस्तान चले जा रहे थे और जो बच रहे थे वह यह समझकर उर्दू से कनाराकश हो गये कि अब उर्दू का क्या मुस्तक़बिल रह गया है। पंडित पन्त और सम्पूरनानन्द (सम्पूर्णानन्द) की हुकूमतों ने उर्दू के तमाम रास्ते उत्तर प्रदेश में बन्द कर दिये थे, जिससे उर्दू तालीम–ओ–तअल्लुम (शिक्षा और शिक्षण) को काफी धक्का पहुँचा था। उर्दू पढ़ने वालों और पढ़ाने वालों दोनों का तालीमी समाज में कोई दर खुर (हैसियत) न रह गया था।"[61] इतना ही नहीं रिजवी ने मुसलमान होने के नाते हो रहे भेदभाव की भी चर्चा बड़े बेबाक ढंग से की है – "मुल्क के हालात ऐसे बदल गये थे, तास्सुब़ का ऐसा ज़हेर फैल चुका था कि अगर मेरा फर्स्ट डिवीजन भी अंग्रेजी में आता तब भी मुझे अंग्रेजी विभाग में जगह न मिलती। इलाहाबाद युनिवर्सिटी इस मामले में सख्त मुतास्सिब युनिवर्सिटी है और हमेशा से रही है ...... फिर अंग्रेजी का शोबा और मुसलमान ? यह बात कहते ही लोग हँसने लगते थे। मुसलमानों के लिये सिर्फ अरबी, फारसी और उर्दू ही मखसूस कर दिये गये हैं। हॉ तारीख के शोबे (इतिहास विभाग) में एक मुसलमान जरूर हमेशा रखा गया। सबब इसका यह कि तारीख और खुसूसन अहदे वुस्ता (मध्यकालीन इतिहास) यानी मुसलमानों के दौर की तारीख के तकरीबन तमाम अस्लमल (Original Text) फारसी में है।"[62] इससे स्पष्ट होता है कि मुसलमानों के प्रति भेदभाव की भावना व्याप्त हो रही थी।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि उर्दू साहित्यकारों का रुख सकारात्मक रहा– 'उर्दू के प्रगतिशील लेखकों की कान्फ्रेन्स में उन लोगों का विरोध किया

गया जो भौगोलिक विभाजन की दुहाई देकर सांस्कृतिक विभाजन का राग अलापते हैं .... उन्होंने सुझाव रखा कि उर्दू के साहित्य को नागरी लिपि में प्रकाशित किया जाय। ऐसा करने से यह हौवा अपने आप गायब हो जायेगा जिसे प्रतिगामी शक्तियों ने उर्दू के विरुद्ध खड़ा किया है। इस प्रकार फिराक के शब्दों में, 'एक ही पखवारे में उर्दू को एक करोड़ से अधिक नये समर्थक मिल जायेंगे।'[63] उर्दू कान्फ्रेन्स के इस प्रस्ताव के पीछे उर्दू के प्रमुख साहित्यकारों जोश, सागर, कृष्णचन्द्र कैफी आज़मी, मज़ाज, सरदार जाफरी आदि की भावना काम कर रही थी – "जो उन्होंने हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों को लिखे एक पत्र में व्यक्त की थी। हम हिन्दी और उर्दू के तरक्की पसन्द अदीब जो इत्तेहाद के अलमबर्दार हैं और हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की तरह अलग–अलग करके अपने जख्मों पर नमक नहीं छिड़कना चाहते। हम अपनी तहजीब़ तमद्दन और जुबान को तक्सीम नहीं कर सकते। अगर मुल्क की तकसीम के साथ–साथ हमारी जुबान और तहजीब भी तकसीम हो गयी तो हमारे दुख बढ़ जायेगें और हमारे अदब तहजीब और जिन्दगी को बे–इन्तिहा नुकसान पहुँचेगा।[64]

हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों की ओर से भी सद्भाव का प्रयास हो रहा था – जिसे बोलचाल की भाषा को कवि और लेखक साहित्य में सँवारते हैं, उस बुनियादी भाषा को हिन्दू–मुस्लिम जनता ने मिलजुलकर बनाया है। हमारी संस्कृति की तरह भाषा भी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर नहीं बनी बल्कि सभी सम्प्रदाय और धर्मों के लोगों ने मिलजुलकर उसे बनाया है। इसीलिये रामविलास शर्मा का मत है – "आज तो फारसी और संस्कृत को हिन्दू धर्म और इस्लाम से जोड़ दिया गया है ...... साहित्य का वह अंग जो आम जनता की सम्पत्ति बन गया है इस छूत–पाक को स्वीकार नहीं करता .... दोनों ही लिपियों में ऐसी सैकड़ों कहानियाँ और गीत लिखे गये हैं जो हिन्दू–मुस्लिम जनता की मिली जुली सम्पत्ति हैं।"[65] इसीलिये हंस के संपादक का भी मत है – "सरकारी फरमानों के भुलावे में हमें नहीं पड़ना है .... हिन्दी और उर्दू लेखकों को अभी बहुत दूर तक मिलकर चलना है और अपने संयुक्त मोर्चे को कायम रखना है– उसमें किसी भी प्रकार की दरार नहीं पड़ने देनी है।[66] इससे यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के बाद हिन्दी–उर्दू को लेकर कुछ साहित्यकारों एवं सरकारी नीतियों में पूर्वाग्रह था किन्तु ऐसे भी लोग थे जो सद्भाव कायम करने की कोशिश कर रहे थे क्योंकि वास्तविकता यही थी कि दोनों ही भाषाओं के शब्द काफी व्यापक रूप से आपस में प्रयुक्त होते थे।

विभाजन के समय लोगों की क्या मनःस्थिति थी, उसमें यह देखने को मिलता है कि पहले तो सब कुछ सामान्य था लोग आसानी से यहाँ से जा रहे थे किन्तु बाद में स्थिति भयावह हो गयी। इन्तेकाले मकानी (स्थानान्तरण) शुरू हो चुका था। बहुत से लोग जो पहले से ज़ेहन बना चुके थे कि पाकिस्तान चले जायेंगे वह पहले ही हफ्ते में पाकिस्तान रवाना हो गये ..... न अभी तक इलाहाबाद जैसे शहर में या यू.पी. के किसी शहर में पंजाब की मारकाट की खबरे आ रही थीं। इसके मानी यह भी हुआ कि ऐन तक़सीम के वक़्त अवाम के ज़ेहन में और शायद हुकूमत के ज़ेहन में भी किसी भी तरह के ख़लफ़ेशार का तसव्वुर नहीं था, शायद इसलिये भी कि पाकिस्तान ही निज़ाई मसला था और जब पाकिस्तान बन गया तो अब सब लोग अमन चैन से रहेंगे। .... मेरा ख्याल है कि माहौल में तनाव उस वक्त पैदा हुआ जब पंजाब से लुटे—पिटे काफिले हिन्दुस्तान आना शुरू हुये और हिन्दुस्तान खुसूसन पंजाब की सरहद पार करते हुये महाजरीन और शरणार्थियों की गाड़ियों पर हमले शुरू हुये।''[67] इससे यह पता चलता है कि देश—विभाजन को लोग प्रक्रिया के रूप में स्वीकार कर रहे थे क्योंकि जो माँग की जा रही थी वह पूरी हो गयी थी लेकिन जो निहित स्वार्थी तत्व थे उन्होंने माहौल को तनावपूर्ण बनाना शुरू किया क्योंकि ऐसी ही स्थिति में उनके स्वार्थों की पूर्ति होती और परिणामस्वरूप धीरे—धीरे हिंसा का दौर शुरू हो गया।

धीरे—धीरे बढ़ते तनाव की प्रक्रिया पर अकील रिजवी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि डाली है। इलाहाबाद से भी लोगों का स्थानान्तरण सामान्य ढंग से ही हो रहा था किन्तु बाद में स्टेशन पर जाने वालों की तलाशी ली जाने लगी पहले यह कार्य कांग्रेस के स्वयंसेवी कर रहे थे किन्तु जब तलाशी के नाम पर स्थिति यह हो गयी कि —'वालंटियरों ने उसे भी छीनना शुरू किया कि हमारे मुल्क का आटा, दाल, चावल पाकिस्तान क्यूँ लिये जा रहे हो।''[68] तो इस पर पुलिस की व्यवस्था कर दी गयी लेकिन अब — ''पुलिस के सिपाही जाने वालों के सामान में अपने कारतूस रख देते और फिर जाने वालों को पकड़ कर उनसे रूपये वसूल करते ..... रास्ते में गाड़ियों में झगड़े और झड़पे होने लगीं ..... हर ट्रेन के आखिर में दो तीन डिब्बे अलग से लगा दिये जाते जिस पर लिखा होता 'सिर्फ मुसलमानों के लिये।'' इस स्थिति पर इलाहाबाद के शायर मुजफ्फर शाहजहाँ पूरी ने एक नज़्म (कविता) 'शऊरे आजादी' लिखी जिसमें एक पंक्ति थी—

अब रेल भी हिन्दू होती है, डिब्बे भी मुसलमाँ होते हैं
ए दोस्त अभी आराम न कर है ख़ाम शऊरे आजादी।[69]

इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि पहले तो लोगों ने विभाजन को स्वीकार कर लिया था लेकिन जैसे–जैसे बाहर से खबरें आ रही थी लोगों का रुख प्रतिक्रियावादी होता जा रहा था।

यहाँ एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि सारे के सारे मुसलमान न तो विभाजन के पक्ष में थे और न ही विभाजन के बाद सभी पाकिस्तान जाने की सोच रहे थे, क्योंकि भारतीय नेताओं ने स्पष्ट कर दिया था कि देश के बँटवारे के आधार रूप में धर्म को मुद्दा बनाया गया है लेकिन भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य रहेगा और किसी को भी उसकी इच्छा के विपरीत पाकिस्तान जाने के लिये नहीं कहा जायेगा। बावजूद इसके मुसलमानों का एक बड़ा हिस्सा इस असमंजश में था कि पाकिस्तान जाँय या हिन्दुस्तान ही रहें। इस तरह की भावनाओं की अभिव्यक्ति कैफ़ी आज़मी की कविताओं से मिलती है– इक तरफ जोर है हुकूमत है/माल है मिल्क है, रियासत है/ इक तरफ बलबले हैं मेहनत है/शोर है, जोश है, बगाबत है/ मेरे अल्लाह मैं किधर जाऊँ..........जब उधर की हवायें आती हैं/ दिल के हर तार को बजाती हैं/इस तरफ जब निगाहें जाती हैं/ बिजलियाँ सर में कड़कड़ाती हैं/मेरे अल्लाह मैं किधर जाऊँ।.......... उनको रहम का वोट हासिल है/इनमें फितरत का जोर शामिल है/ बीच में हूँ अजीब मुश्किल है/इक तरफ आँख इक तरफ दिल है/ मेरे अल्लाह मैं किधर जाऊँ।[70]

इसी तरह की असमंजश की स्थिति कहानी 'पाँच दिन पहले' में भी मिलती है। इसमें एक मुस्लिम लड़के शौकत की स्थिति के माध्यम से पूरे परिवेश को मनोवैज्ञानिक ढंग से देखने की कोशिश की गयी है– 'दुनिया के आगे हिन्दोस्तान और पाकिस्तान का नंगा हाल खुलकर दिखायी देने लगा . .... शौकत ने उँगली पर गिना– बारह–तेरह– चौदह, पन्द्रह, सोलह, ठीक पाँच दिन बाद यह नगरी छूट जायगी। ... .शौकत ने सामने बनी मसजिद की ओर देखा, जो मुसलमानों की तरह अपना भी आत्म गौरव खोये, लुटी सी खड़ी थी। हफ्तों से, जब से पाकिस्तान बना, साम्प्रदायिक झगड़े चले, इमाम ने अजान लगानी बन्द कर दी, खुदा को पुकारना जैसे मौत को बुलावा देना हो। .... उसे लगा, कोई उसे भी बुला रहा है आ जा शौकत, भाग आ, चला आ !' यह आवाज पाकिस्तान से आ रही है। उसने अपने दोनों कानों में उँगलियॉ दे लीं। मगर आवाज आती ही जा रही है। हजारों मुसलमान, रावी के उस पार खड़े उसे बुला रहे हैं – आ जा शौकत, भाग आ ....। ... सत्रह तारीख को यहॉ से चल पड़ेंगे। ये झण्डे, ये दुकानें, यह सब कुछ यहाँ ही रह जायेगा।[71]

यह स्थिति केवल मुसलमानों के साथ ही नहीं थी बल्कि वतन छोड़ने का दर्द हिन्दुओं को भी उतना ही था। जैसा कि कहानी 'माँ और माटी नहीं छोड़ेगें ! में मिलता है इसमें पूर्वी पाकिस्तान के हिन्दू परिवार के अन्तर्द्वन्द का चित्रण है जिसमें अन्ततः परिवार का मुखिया अपना देश न छोड़ने का निर्णय करता है, यद्यपि परिवार के अन्य सदस्य कुछ समय के लिये कलकत्ता चले गये। 'आखिर उसने पूछा– तो अब आपकी क्या राय है ? .... धीरेन बाबू ने कहा – मैं अपनी राय दे चुका हूँ। अब तुम जैसा ठीक समझो करो ! कायर की तरह भाग जाना आसान है, पर मनुष्य की तरह साहस और संयम के साथ डटे रहना जीवट वालों का ही काम है। तुममें साहस नहीं, जीवन नहीं तो भाग सकते हो। तुम्हारी रक्षा भगवान भी नहीं कर सकता । ... आपको मालूम है, रास्ते चलते गुण्डे ललकार–ललकार कर कहते हैं कि या तो उन्हें *(माँ बहनों)* सीधी तौर से हमारे हवाले कर दो, वर्ना दो दिन बाद मुसलमान बनना ही पड़ेगा। .... अब तुम लोग जाना ही चाहते हो, तो जाओ। ..... मातृभूमि को छोड़कर कायर की तरह मैं भागूँगा नहीं।'[72]

विभाजन से उपजी हिंसक गतिविधियों पर काफी लिखा गया। यहाँ साहित्यकारों की कलम से दर्ज किये गये इतिहास के उस वीभत्स पहलू पर दृष्टि डाली जायेगी। यह एक ऐसा मंजर था जो लोगों को बुरी तरह प्रतिक्रियावादी बना रहा था। इनमें शामिल बलवाइयों एवं दंगाइयों पर साम्प्रदायिक जुनून इतना हावी था कि वे हैवानियत के साक्षात प्रतिरूप प्रतीत होते थे। ऐतिहासिक दस्तावेजों एवं आँकड़ों में सरकारी भाषा में घटना की आंकिक जानकारी दी जाती है। किन्तु जब साहित्यिक प्रमाण से इनकी पुष्टि होती है तो पूरे परिदृश्य की मानसिकता एवं भावना की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

कहानी 'पेशावर एक्सप्रेस' में इस पूरे परिदृश्य को पूरी संवेदना के साथ रूपायित किया गया है – जब मैं पेशावर से चली तो मैंने एकाएक इत्मीनान की साँस ली। मेरे डिब्बों में ज्यादातर हिन्दू लोग बैठे थे .... और पाकिस्तान में अपनी जान और माल को सुरक्षित न पाकर हिन्दुस्तान का रुख कर रहे थे ..... लम्बे चौड़े बलोची सिपाही .... इन हिन्दू– पठानों और उनके बीबी बच्चों की तरफ मुस्करा–मुस्कराकर देखते थे, जो भय के कारण उस धरती से भागे जा रहे थे, जहाँ वह हजारों साल से रहते चले आये थे .... आज यह मातृभूमि सरासर बेगाना हो गयी थी और उसने अपने मेहरबान सीने के किवाड़ उन पर बन्द कर लिये थे। .... तक्षशिला के स्टेशन पर मुझे बहुत अरसे तक खड़ा रहना पड़ा ... शरणार्थियों का जत्था आ रहा था शायद। ... गाँव के

मुसलमान लोग उसे अपनी हिफाजत में ला रहे थे। चुनाँचे हर एक मुसलमान ने एक काफिर की लाश अपने कन्धे पर उठा रखी थी।[73] इससे सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बर्बरता किस सीमा तक पहुँच गयी थी। इतना ही नहीं – "मजमे के सरगने ने हिन्दू शरणार्थियों से कहा कि दो सौ आदमियों के चले जाने से उनके गाँव वीरान हो जायेगें। इसलिये वह गाड़ी में दो सौ आदमी उतारकर अपने गाँव ले जायेंगे।" इन उतारे हुये यात्रियों का भी वही हश्र हुआ – दो सौ जिन्दा लाशें, चेहरे उतरे हुये ... सब मर गये। अल्लाहो अकबर ! फर्श खून से लाल था।[74]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस स्थानान्तरण की प्रक्रिया में सुरक्षा के लिये जो सिपाही तैनात होते थे उनका भी रुख साम्प्रदायिक था और वे शरणार्थियों की सुरक्षा के बदले दंगाइयों के साथ हो जाते थे– 'लालमूसा के करीब लाशों से इतनी घृणित सड़ाँध निकलने लगी कि बलोची सिपाही उन्हें बाहर फेंकने को मजबूर हो गये .... थोड़ी देर में सब लाशें एक–एक हमराही के साथ बाहर फेंक दी गयीं।[75] इसी तरह की स्थिति भारत से पाकिस्तान जाने वाले शरणार्थियों की थी – "मुस्लिम मुसाफिरों को चलती गाड़ी में डिब्बों से फेंक दिया जाता।"[76] यही नहीं सरकार का रुख भी इस ओर से नकारात्मक ही था – 'यू.पी. में उस वक्त पं. गोविन्द वल्लभ पन्त की हुकूमत थी, वह इन वाकयात की रोकथाम की कोई फिक्र नहीं करते थे।'[77]

इस हादसे का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि महिलाओं पर किया गया अत्याचार नितान्त अमानुषिक था, जो बर्बर युग की याद दिलाता है। इसके पीछे संभवतः महिलाओं को लेकर तमाम पूर्वाग्रह भी काम कर रहे थे कि इनकी अस्मिता एवं सम्मान लूट लेने पर पूरी जाति के ऊपर धब्बा लगेगा ही साथ ही पीढियों तक इसकी छाया प्रभावित करेगी – 'बुर्कापोश औरतों ने शोर मचाना शुरू किया। हम हिन्दू हैं। हम सिख हैं। हमें जबरदस्ती लिये जा रहे हैं' .... मुसलमान नौजवान हिन्दू औरतों को घसीट कर जंगल में ले गये और मैं मुँह छिपाकर वहाँ से भागी।" किन्तु आगे की स्थिति और भी क्रूरतम हैवानियत की ओर संकेत करती है – 'चन्द मिनटो में हुजूम स्टेशन पर आ गया आगे–आगे देहाती नाचते और गाते आ रहे थे और उनके पीछे नंगी औरतों का हुजूम था। मादरजाद नंगी औरतें। बूढ़ी, नौजवान, बच्चियाँ, दादियाँ और पोतियाँ, माँयें और बहुयें और बेटियाँ, क्वारियाँ और गर्भवती स्त्रियाँ नाचते और गाते हुये आदमियों के जत्थे में थीं। औरतें हिन्दू और सिख थीं और मर्द मुसलमान।' यह चित्रण पाशविकता को तो दर्शाता ही है लेकिन जब गाड़ी में एक बच्चा एक बूढ़ी औरत से पूछता है – माँ तुम नहा के आयी हो ? और

उत्तर में दादी ने अपने आँसुओं को रोकते हुये कहा, हाँ नन्हें, आज मुझे वतन के बेटों ने नहलाया है।''[78] तो पूरे परिदृश्य को संवेदनशील बना देता है, इस साक्ष्य के साथ कि लोगों के अन्दर कितनी संवेदनशून्यता पैदा हो गयी थी।

यह दृश्य ऐसा नहीं था कि केवल मुस्लिम क्षेत्र में ही देखने को मिल रहा था, कमोवेश वही स्थिति इधर भी थी। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें वे लोग भी सम्मिलित थे जो ऐसी ही स्थितियों से गुजर कर आये थे– 'कुछ खास जोशीले शरणार्थी नौजवानों के एक गिरोह ने आज शिकार किया। .... बन्नो ने देखा चार पाँच आदमियों ने एक नौजवान लड़की को जमीन पर दाब रखा है, लड़की चित लेटी है या लिटाई हुई है। उसके तन पर एक भी कपड़ा नहीं है। दो तीन जवान उसके हाथ पाँव कसे हुये हैं और वह मादरजाद नंगी लड़की छटपटा रही है।' लेकिन यहाँ गौर करने की बात यह है कि इसी कहानी की मुख्य पात्र बन्नों जो स्वयं पाकिस्तान में इसी स्थिति से गुजर चुकी होती है, इस पूरे दृश्य को देखकर पहले तो 'बन्नों के भीतर बैठे हुये पशु की आत्मा को गंभीर संतोष मिला, इसे ऐसे ही चीर डालना चाहिए .... इसी का खुदा उन जानवरों का भी खुदा है।' लेकिन अगले ही पल वह निर्णय ले लेती है – 'बन्नो ने बिजली की तेजी से दौड़कर उस लड़की के पेट में खंजर भोंक दिया था और वही खंजर अपने सीने में चुभा लिया था। उस मुसलमान लड़की को खंजर बहुत गहरा लगा था और वह फौरन मर गयी। बन्नों को हल्का घाव लगा था ..... वह खुद नहीं मरी तो उसके उदास चेहरे पर उदासी का एक और गहरा लेप चढ़ गया।''[79] इससे यह स्पष्ट होता है कि ऐसे पाशविक कुकृत्य दोनों ही ओर से हो रहे थे लेकिन जो स्वयं इस यन्त्रणा के दौर से गुजरे हुये थे, वे इसे रोकना भी चाहते थे।

दोनों ही तरफ के इन्सान (शायद) जो इस प्रकार की असामाजिक गतिविधियों में लगे थे, उनकी दृष्टि में उनका यह कार्य कौम और अपने धर्म की सेवा थी– 'उनका खून भी खून है पानी नहीं, उन्हें बदला लेने आता है, वह अपनी जिल्लत का बदला लेंगे अपने धर्म की किसी लड़की की लुटी हुई अस्मत का बदला वह दुश्मन की लड़की की अस्मत लूटकर चुकायेंगे। ..... पास के एक गाँव से पाँच छः नौजवान ..... एक लड़की को उठा लाये थे ... . उसकी अस्मत लूटकर न सिर्फ अपनी वहशत को खुराक पहुँचा रहे थे बल्कि उसके साथ ही अपने कौम की खिदमत के बोझ से भी दबे जा रहे थे।''[80] धार्मिक भावना का रूप यह भी था – ''सत श्री अकाल ! और हिन्दू धर्म की जय !'' के नारों की गूँज से जंगल काँप उठा और मुसलमान किसान घेर लिये गये' तो दूसरी ओर के दंगाइयों के भीतर भी मज़हब का जज्बा था– 'लाइन लगाओ काफिरो।'[81]

इन दंगों से आर्थिक पक्ष बुरी तरह प्रभावित हुआ इसका भी चित्रण तत्कालीन साहित्य में मिलता है— शहर के बहुत से मुसलमान जो आज़िमे पाकिस्तान (पाकिस्तान जाने को तैयार) थे, सड़कों पर लाकर अपना सारा सामान जमा कर देते और उसे ठठेरी औने पौने खरीद लेते खास तौर पर ताँबे पीतल के बरतन"[82] तो पाकिस्तान से आये शरणार्थियों की आर्थिक दशा कुछ ऐसी थी — "टीन के बड़े बक्स, मँझोले बक्स, छोटे बक्स, खाटों के पाये, पाटियाँ, सुतली या बाध सब अलग—अलग। ..... इसी गिरस्ती से घिरे बँधे वे इस नयी दुनिया में अपने लिये जगह बना रहे थे .... बच्चे धूप में सने कुछ सहमे—सहमे से खेल रहे थे। लोहता की खाक का मिलान हजारा की खाक से कर रहे थे।"[83]

इस साम्प्रदायिक हिंसा का मर्मान्तक परिणाम महात्मा गांधी की हत्या के रूप में आया जब एक हिन्दू सम्प्रदायवादी ने उनकी हत्या कर दी। साहित्यकारों ने इस पर लिखते हुये साम्प्रदायिकता पर कड़ा प्रहार किया। 'गोडसे के नाम खुली चिट्ठी' में अमृत राय इस पर व्यंगात्मक प्रहार करते हैं — "हिन्दुओं की रंगों में खून नहीं पानी बहता है, जो लाखों की तादात में मौत के घाट उतारे जाकर, लाखों बहू बेटियों की इज्जत गवाँकर, अपनी आँखों के आगे मुसलमान गुण्डों के हाथों, उनका सतीत्व लुटता देखकर .... वे इस खूसट बुड्ढे की बात सुनते हैं— ...... पंजाब के हिन्दुओं और सिखों की बरबादी का बदला गाँधी जी से लेकर आपने दिखा दिया कि भारत अभी भी भौगोलिक और ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक है ...... हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलकर रहना चाहिए ...... साठ पर ही अक्ल सठिया जाती है, बुड्ढा तो अब अस्सी का था .... हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है। हम हिन्दुस्तान में हिन्दू राज बनायेंगे।"[84] गोडसे के बहाने किया गया यह व्यंग्य उन साम्प्रदायिक शक्तियों की मानसिकता को उजागर करता है जिनका कि देश के विभाजन एवं साम्प्रदायिकता के विकास में महत्वपूर्ण हाथ रहा था।

इलाहाबाद के प्रख्यात शायर वामिक अहमद मुजतबा ने गांधी के प्रति लिखी अपनी कविता 'यह किसका खून बह गया में' गांधी को इस तरह याद किया कि जिस सद्भावना एवं सौहार्द की स्थापना के लिये उन्होंने जीवन भर कार्य किया आखिर उसके कारण ही उनकी हत्या हो गयी— तमाम उम्र दर्से अमनो, आश्ती दिया किया/तमाम उम्र जो इसी उम्मीद पर जिया किया/कि एक दिन जरूर सारे तफरिके मिटायेगा/फसाद का यह खोखला तिलिस्म टूट जायेगा/वही बुजुर्गे खानदान/वही हमारा पासवाँ/हमीं से आज छुट गया/सोहाग मादरेवतन का अपने हाथों लुट गया।[85] कमाल अहमद सिद्दीकी

ने इस तरह याद किया कि— एक हृदय क्रान्ति की जन्मभूमि/प्रेम का मन्दिर भी था/ मौत की अंधियारियों में सो गया/और खूनी इन्कलाब/ अपनी निर्दयता में खुद ही खो गया।[86] इन दोनों ही कविताओं को तत्कालीन साम्प्रदायिक हिंसक स्थितियों को गांधी जी की हत्या के लिये जिम्मेदार ठहराया गया है।

इस पूरे परिवेश में हिंसक घटनाओं का ही बोलबाला था किन्तु ऐसा नहीं था कि दोनों ओर की पूरी जनसंख्या ही इस प्रक्रिया में शामिल थी। यद्यपि कि एक बड़ा हिस्सा तटस्थ था किन्तु ऐसे भी लोग थे जो माहौल को शान्त करने की कोशिश में लगे थे। कहानी माँ और माटी नहीं छोड़ेंगे' के नायक के प्रयास से इस स्थिति में इस प्रकार बदलाव आता है— 'इस्लाम जोर जबरदस्ती और गुंडेपन का नाम नहीं है। सच्चा मुसलमान कभी किसी कमजोर और बेकसूर पर हमला नहीं करेगा, उसे लूटे मारेगा नहीं .... इसी तरह सच्चा हिन्दू भी कभी ऐसा नहीं करेगा। पर आज तो दोनों मजहब के नाम पर हैवान से भी बदतर हो गये हैं।''[87] इसके बाद पूरा परिदृश्य ही बदल जाता है और जुलूस निकलता है— हिन्दू मुस्लिम नहीं लड़ेंगे। माँ और माटी नहीं छोड़ेंगे। इसी तरह कहानी 'बदला' का शरणार्थी सिख कहता है— 'मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैंने देखा है वह किसी को न देखना पड़े और मरने से पहले मेरे घर के लोगों की जो गति हुई, वह परमात्मा न करे, किसी की बहू—बेटियों को देखनी पड़े।''[88]

इसी प्रकार 1947 के हंस के सम्पादकीय[89] में व्यापक रूप से उन स्थितियों की चर्चा की गयी है जिससे साम्प्रदायिकता फली फूली और इसके साथ ही संयुक्त संस्कृति की बात करते हुये ऐसे तत्वों से सावधान रहने का संकेत भी किया गया है। सौहार्द स्थापित करने का प्रयास इलाहाबाद में भी दिखायी पड़ता है — ''1947 में जब हर तरफ मारकाट हो रही थी, इलाहाबाद में हर जगह एक तनाव की सूरत थी उसी वक्त मुहर्रम आ पड़ा। इलाहाबाद के मुसलमानों ने हालात को देखते हुये यह तय किया कि मुर्हरम नहीं उठायेंगे. ...... आखिर जब सातवीं मुहर्रम आयी तो कुछ लोगों ने जुलूस का दुलदुल निकाला .... लोकनाथ पर कुल छः सात शिया मुसलमान रह गये, दुलदुल था और एक अलम कि लोकनाथ के अन्दर से चन्द हिन्दू हजरात निकले और आकर इस छोटे से जुलूस में शामिल हो गये और कोतवाली तक सब साथ—साथ रहे।''[90] इससे स्पष्ट होता है कि यदि कुछ लोग विद्वेष फैला रहे थे, साम्प्रदायिक हिंसा की आग को ईंधन दे रहे थे तो ऐसे भी लोग थे और ऐसी भी भावनायें थीं जो इस स्थिति से निपटने का सकारात्मक प्रयास कर

रही थी।

यहाँ कुछ साहित्यकारों द्वारा इस पूरे वाकयात पर की गयी टिप्पणियों को उद्धृत करना समीचीन है। प्रख्यात शायर साहिर लुधियानवी तब इलाहाबाद में ही रहते थे लेकिन उन्होंने लाहौर के एक मुशायरे में यह शेर कहा था—

चलो वह कुफ़्र के घर से सलामत आ गये लेकिन
खुदा की मुमलेकत में सोखता जानों पर क्या गुज़री।[91]

-x--x--x--x-

मेरा इल्हाद तो ख़ैर एक लानत था सो अब भी है,
मगर इस आलम ए वहशत में ईमानों पे क्या गुजरी।[92]

इन पंक्तियों में बिना किसी भेदभाव के जो टिप्पणी की गयी है वह पूरे वातावरण पर है। इसी प्रकार अज्ञेय की कविता शरणार्थी की पंक्तियाँ भी पूरे परिवेश के हालात को बयान करती हैं— वैर की परनालियो से हँस—हँसके / हमने सींची जो राजनीति की रेती / आज उसमें बह रही खूँ की नदियाँ है / कल ही जिसमें खाक मिट्टी कहके हमने थूका था / घृणा की आज उसमें पक गयी खेती / फसल काटने को अगली सदियाँ हैं।[92]

इस कविता में कारण एवं परिणाम एवं भविष्य तीनों के ही ऊपर टिप्पणी है। इसी तरह प्रख्यात शायर कैफी आज़मी ने पूरे माहौल पर टिप्पणी की—

लूट ली जुल्मत ने रू ए हिन्द की ताबन्दगी
रात के काँधे पे सिर रखकर सितारे सो गये,
वह भयानक आँधियाँ वह अब तरी, वह खलफशर,
कारवाँ बे राह हो निकला मुसाफिर खो गये।[93]

यहाँ निष्कषर्तः कहा जा सकता है कि जो साम्प्रदायिक राजनीति की शुरुआत की गयी थी उसकी आखिरी परिणति काफी विकृत रही। जहाँ बहुत से लोगों को आर्थिक एवं जनहानि का सदमा झेलना पड़ा वहीं दो राष्ट्रों के निर्माण की नींव में जो साम्प्रदायिक विद्वेष का पत्थर लगाया गया उसने उस समय के परिवेश को तो प्रभावित किया ही आगे के लिये भी माहौल को खौफ़नाक बना गया।

सन्दर्भ

1. यह संख्या अनुमानित है, क्योंकि उस माहौल में एकदम सही आंकड़ों का एकत्रीकरण संभव नहीं था। लेकिन कतिपय आंकड़ों के लिये जफर इमाम द्वारा सम्पादित मुस्लिम इन इंडिया, नई दिल्ली, 1975 में उनके द्वारा लिखित 'सम आस्पेक्ट्स आफ द सोशल स्ट्रक्चर आफ द मुस्लिम कम्युनिटी इन इंडिया' पृ. 76, को देखा जा सकता है।
2. वही, पृ. 76.
3. जनगणना (भारत) 1951, पृ. 62.
4. इमाम जफर, वही, पुस्तक, पृ. 80.
5. ब्रास पाल आर., लैंग्वेज, रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया, कैम्ब्रिज, 1974, पृ. 142—43.
6. वही, पृ. 150—53.
7. इमाम जफर, वही पुस्तक, पृ. 81.
8. नेशनल हेराल्ड, 21 जनवरी 1948.
9. असलम मोहम्मद, एलीट वर्सेस अर्टेजन लीडरशिप : मुस्लिम्स एण्ड पालिटिक्स इन उत्तर प्रदेश 1947—92, डी.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध (अप्रकाशित) ला टोब्रे युनिवर्सिटी, बुन्डूरा, विक्टोरिया, आस्ट्रेलिया, 1993, पृ. 33.
10. फिलिप सी.एच.एण्ड वेनराइट मेरी डोरेन (संपा.), पार्टीशन आफ इंडिया : पालिटिक्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स 1935—47, लन्दन 1970, में राजा आफ महमूदाबाद, सम मेमोरीज में उद्धृत, पृ. 34.
11. असलम मोहम्मद, एलीट वर्सेस ... में उद्घृत, पृ. 34.
12. वही, पृ. 35—36.
13. रिजवी सैयद मो. अकील, इलाहाबाद की संस्कृति और शायरी, इलाहाबाद संग्रहालय, 1996, पृ. 60.
14. नेशनल हेराल्ड, 8 जनवरी 1948.
15. नेशनल हेराल्ड, 3 जनवरी 1948.
16. नेशनल हेराल्ड, 20 जनवरी 1948.

17. ए बंच आफ ओल्ड लेटर्स, मोसले टु जवाहर लाल, पृ. 315, बी.पी. चट्टोपाध्याय, क्या देश का विभाजन अनिवार्य ही था ? सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1997, पृ. 174 पर उद्धृत।
18. नेशनल हेराल्ड, 9 फरवरी 1948.
19. वही
20. नेशनल हेराल्ड, 15 फरवरी 1948.
21. हसन मुशीरुल, एडजेस्टमेंट एण्ड एकमोडेशन : इंडियन मुस्लिम्स आफ्टर पार्टीशन, सोशल साइंसिस्ट भाग 18, अगस्त–सितम्बर अंक 8–9 1990, पृ. 52.
22. गोपाल एस. जवाहर लाल नेहरू : ए बायोग्राफी, खण्ड 2 : 1947–1956, दिल्ली, 1989, पृ. 92.
23. ब्रास पाल आर., वही पुस्तक, पृ. 152.
24. वही, पृ. 177.
25. वही, पृ. 235.36.
26. नेशनल हेराल्ड, 8 जनवरी 1948.
27. नेशनल हेराल्ड, 4 जनवरी 1948.
28. नेशनल हेराल्ड, 1 अगस्त 1949.
29. नेशनल हेराल्ड, 23 अप्रैल 1948.
30. नेशनल हेराल्ड, 29 अप्रैल 1948.
31. नेशनल हेराल्ड, 17 नवम्बर 1948.
32. गुप्ता एन.एल. (संपा.), नेहरू आन कम्यूनलिज्म, नई दिल्ली, 1965, पृ. 209.
33. हसन मुशीरुल, वही पुस्तक, पृ. 54.
34. इमाम जफर, वही पुस्तक, पृ. 94.
35. वही, पृ. 95.
36. असलम मोहम्मद, वही पुस्तक, पृ. 80.
37. वही
38. वही, पृ. 26.
39. वही, पृ. 27.
40. वही, पृ. 28.

41. पार्थसारथी जी., (संपा.), नेहरू : लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर 1947–64, खण्ड–2, दिल्ली, 1987, पृ. 379.
42. गोपाल एस. वही पुस्तक, उद्धृत पृ. 92.
43. नेशनल हेराल्ड, 11 सितम्बर 1949.
44. नेशनल हेराल्ड, 1 जनवरी 1948.
45. नेशनल हेराल्ड, 15 अप्रैल 1948.
46. नेशनल हेराल्ड, 14 जून 1948.
47. वही
48. नेशनल हेराल्ड, 2 जनवरी 1948.
49. हंस, जनवरी 1948 के सम्पादकीय में उद्धृत पृ. 318.
50. हंस जनवरी 1948, सम्पादकीय,संपा. अमृतराय, पृ. 318.
51. वही, पृ. 318.
52. वही, उद्धृत, पृ. 321.
53. वही, उद्धृत, पृ. 322.
54. शर्मा राम विलास, जनतन्त्र और हिन्दी, हंस, जनवरी 1948, पृ. 334.
55. वही, पृ. 336.
56. जनतन्त्र और हिन्दी, हंस 1948 में उद्धृत पृ. 336.
57. जनतन्त्र और हिन्दी, हंस पृ. 336.
58. वही. पृ. 337.
59. राय अमृत, संपादकीय हंस, अगस्त 1947, पृ. 827.
60. वही
61. रिजवी, सैयद मो. अकील, वही पुस्तक, पृ. 68.
62. वही पृ. 69.
63. सम्पादकीय, हंस जनवरी 1948, पृ. 322.
64. उद्धृत, सम्पादकीय हंस जनवरी 1948,पृ. 321.
65. शर्मा राम विलास, जनतन्त्र और हिन्दी, पृ. 336–38.
66. राय अमृत, हंस जनवरी 1948, पृ. 322.
67. रिजवी अकील, वही पुस्तक पृ. 59.
68. वही, पृ. 61–62.

69. मुजफ्फर शाहजहाँ पूरी, रिजवी अकील की इलाहाबाद की .... में उद्धृत पृ. 62.
70. आज़मी कैफी, कशमकश, हंस दिसम्बर 1947 पृ. 204—05.
71. पाँच दिन पहले, हंस, दिसम्बर 1847, पृ. 206—09.
72. माँ और माटी नहीं छोड़ेंगे ! हंस, नवम्बर 1947 पृ. 99—104.
73. पेशावर एक्सप्रेस, हंस नवम्बर 1847 पृ. 129.
74. वही
75. वही, पृ. 130.
76. रिजवी अकील, वही पुस्तक पृ. 62.
77. वही, पृ. 62.
78. हंस, नवम्बर 1947, पृ. 131.
79. राय अमृत, व्यथा का सरगम, हंस, मार्च 1948, पृ. 364—65.
80. वही, पृ. 365.
81. पेशावर सक्सप्रेस, हंस, नवम्बर 1947, पृ. 129—31.
82. रिजवी अकील, वही पुस्तक, पृ. 62.
83. राय अमृत, व्यथा का सरगम, हंस, मार्च 1948, पृ. 364.
84. राय अमृत, गोडसे के नाम खुली चिट्ठी, मार्च 1948, पृ. 434.
85. हंस, मार्च 1948, पृ. 396.
86. हंस मार्च, 1948 पृ. 398.
87. हंस, नवम्बर 1947, पृ. 103—04.
88. हंस, मार्च 1948 पृ. 342.
89. रिजवी अकील, वही पुस्तक, पृ. 83.
90. लोधियानवी साहिर, अकील रिजवी की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 71.
91. वही, पृ. 65
92. हंस, दिसम्बर 1947, पृ. 163—64.
93. हंस, जुलाई 1948, पृ. 665 पर उद्धृत

अध्याय—6
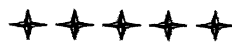
उपसंहार

राष्ट्रवाद एवं सम्प्रदायवाद जैसी परस्पर विरोधी अवधारणाओं ने लगभग समानान्तर रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में दस्तक दी और दोनों का परिणाम भी एक साथ आया स्वतन्त्रता एवं विभाजन के रूप में। स्पष्टतः साम्प्रदायिकता एक आधुनिक किन्तु प्रतिक्रियावादी पश्चगामी अवधारणा है। सामान्यतः साम्प्रदायिकता वह स्थिति है, जहाँ विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सदस्यों के बीच पारस्परिक भय एवं अविश्वास की उपस्थिति होती है। यह स्थिति पूरे परिवेश के लिये नकारात्मक प्रभाव वाली होती है। इसके मूल में तथाकथित धर्म एवं धार्मिक मनोवृत्ति की भूमिका होती है। साम्प्रदायिकता का विकास धर्म के दो पक्षों आन्तरिक अथवा नैतिक तथा वाह्य या कर्मकाण्ड एवं रीति—रिवाज में दूसरे पक्ष को प्रधान मान लेने के कारण हुआ। इन्हीं दोनों किनारों के बीच साम्प्रदायिकता के अन्य अवयव जुड़ते गये तथा साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का विकास होता गया।

साम्प्रदायिकता अनेक कारकों से उद्‌भूत परिस्थितियों का परिणाम थी। इसके मूल में यह भाव निहित था कि समुदाय विशेष के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हित एक दूसरे के विरोधी हैं। ऐसी स्थिति में विरोधी हितों एवं प्रवृत्ति के लोगों का एक साथ न तो रहना ही संभव है और न हितों की पूर्ति ही संभव है। इस प्रवृत्ति ने राजनीतिक मुद्दों को धार्मिक चश्मे से देखने की शुरुआत की। जिसमें सामाजिक, आर्थिक विकास की उपेक्षा की गयी, लेकिन बार—बार यही दोहराया गया कि पूरी लड़ाई इन्हीं मुद्दो पर आधारित है। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरिये से देखने एवं गतिशील करने की विधा है।

सम्पूर्ण साम्प्रदायिक परिदृश्य को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि इसे विकसित करने में कुछ अन्य कारक भी सहायक थे। जैसे सामान्य जनता को धर्म के सच्चे स्वरूप का अज्ञान, विवेक की जगह भावना का प्रयोग एवं धार्मिक कर्मकाण्डों एवं परम्पराओं को ही धर्म मान लेने की प्रवृत्ति। ये कुछ ऐसे तत्व थे जिनको धर्म एवं सम्प्रदाय के तथाकथित ठेकेदारों ने बहुप्रचारित एवं प्रसारित किया और यह प्रचार इस तरह का था कि साम्प्रदायिक हितों की तुलना में राष्ट्रीय हित बौने पड़ते गये। मानवीय हितों

की जगह व्यक्तिगत हित प्रभावी हो गये। इसे बढ़ाने एवं विकसित करने में आर्थिक अभाव, शैक्षिक पिछड़ापन, बेरोजगारी आदि ने भी अपनी–अपनी भूमिका का निर्वहन किया।

औपनिवेशिक शासन की भूमिका इसे बढ़ाने की अवश्य रही है, लेकिन केवल इसे ही आरोपित करके उत्तरदायित्वों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता है। औपनिवेशिक शासन द्वारा भारतीय इतिहास को हिन्दू काल, मुस्लिम काल जैसी शासकीय विचारधारा में बाँटने का प्रयास तभी संभव हुआ जबकि दोनों सम्प्रदायों के लोगों ने ऐसा करने का अवसर दिया। ऐसी स्थिति में औपनिवेशिक शासन की भूमिका को इसके मूल कारक के रूप में नहीं बल्कि इसका उपयोग करने वाली मनोवृत्ति के रूप में देखना चाहिए, क्योंकि यहाँ संयुक्त संस्कृति की लम्बी परम्परा विकसित थी, लेकिन जब ब्रिटिश शासन ने इसे अपने हितों के अनुरूप प्रयुक्त करना शुरू किया तो स्थितियाँ इतनी उलझती गयीं कि तनाव की परिणति हिंसात्मक मनोवृत्ति के रूप में होने लगी।

साम्प्रदायिक हिंसा को अमूर्त विचारधारा के मूर्त स्वरूप के रूप में देखा जाना चाहिए। महत्वपूर्ण यह है कि यह (हिंसा), साम्प्रदायिक विचारधारा/मनोवृत्ति के विकास एवं विस्तार में सहायक के रूप में अपना अस्तित्व रखती है। साम्प्रदायिक दंगे धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों को भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा के लिये विवश करते हैं और वे अपने जीवन एवं भौतिक संसाधनों की सुरक्षा के लिये साम्प्रदायिक तत्वों पर निर्भर हो जाते हैं। व्यक्ति संगठन या समूह में अपने को सुरक्षित महसूस करने लगता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि साम्प्रदायिक हिंसा में प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है क्योंकि इसमें व्यक्ति/समूह विशेष को जिम्मेदार न मानकर पूरे सम्प्रदाय की जिम्मेदारी निश्चित कर दी जाती है। ऐसी स्थिति में एक ऐसा दुष्चक्र कायम हो जाता है, जिसमें छोटी–बड़ी किसी भी घटना पर सम्प्रदाय को उद्वेलित/उत्तेजित किया जा सकता है। उल्लेखनीय यह है कि इसमें ऐसे लोग ज्यादा प्रभावित होते हैं, जिनका इस संकीर्ण विचारधारा के पोषण–पल्लवन में कोई हाथ नहीं होता है, लेकिन प्रभावित होने के बाद ऐसे व्यक्तियों के अन्दर भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति घर कर जाती है। ऐसी स्थिति में दंगे ही लोगों की अवधारणा विचारधारा एवं इच्छा को निर्धारित करने एवं परिवर्तित करने में प्रभावकारी भूमिका निभाने लगते हैं।

ऐसी स्थिति में भावनात्मक संवेग बडी तीव्र गति से योजना/उद्देश्यपूर्ण तरीकों से बढ़ाये जाते हैं। जिससे लोगों के अन्दर बढ़ता सामीप्य ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है, फलस्वरूप तनाव एवं विद्वेष की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। संवेगात्मक लहर पैदा करने के लिए तथ्यों को तोड़–मरोड़कर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मिथ्या सन्दर्भों में भी ये सही प्रतीत होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में अपने उद्देश्यों के अनुरूप लोगों की मानसिकता को परिवर्तित करने में स्वार्थी तत्व सफल हो जाते हैं। इसे भारत में विकसित साम्प्रदायिकता के स्वरूप द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

प्रारम्भ में भारत में साम्प्रदायिकता की अवधारणा औपनिवेशिक शासन से कतिपय सुविधाओं की प्राप्ति तक सीमित थी लेकिन साम्प्रदायिक चेतना के क्रमशः विस्तार ने इसके रुख को कठोर बना दिया। इसके पीछे मुस्लिम नेतृत्व की यह भावना काम कर रही थी कि औपनिवेशिक शासन से मिलकर ही अपने सामुदायिक हितों की सुरक्षा की जा सकती है। इसे सैयद अहमद द्वारा मुस्लिम हितों की सुरक्षा एवं संरक्षा के लिए औपनिवेशिक शासन को दिये गये सहयोग के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन 1880 एवं 1890 के दशक में साम्प्रदायिकता विस्तृत आकार लेने लगती है क्योंकि इसी समय हिन्दी–उर्दू विवाद एवं गोरक्षा आन्दोलन काफी तीव्रता के साथ विकसित हुये। ऐसी स्थिति में दोनों समुदायों के बीच वैमनस्य काफी तीव्रता से बढ़ा और पहली बार व्यापक तौर पर सामूहिक हिंसात्मक गतिविधियाँ प्रस्फुटित हुईं।

इसी दौर में जब कांग्रेस की स्थापना हुई तो उसमें हिन्दू प्रभुत्व एवं बाद में उग्रवादी नेताओं के कारण मुस्लिम मानसिकता में असुरक्षा की भावना घर करने लगी और यह भावना सांगठनिक स्वरूप लेती हुई मुस्लिम लीग की स्थापना के रूप में साकार हुई। ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्णिम अवसर मिला कि कांग्रेस के रूप में बढ़ते राष्ट्रवाद को प्रति संतुलित करने के लिये मुस्लिम लीग को संरक्षण दे, जिसकी पृष्ठभूमि 'अलीगढ़ स्कूल' ने ही तैयार कर दी थी। 1909 के सुधारों में पृथक निर्वाचन की व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि मुस्लिम हितों के संरक्षण के प्रति वह सचेत थी। यह और बात है कि इसके तुरन्त बाद ही दोनों के बीच बढ़ती दूरी के संकेत भी मिलते हैं क्योंकि 1911 में बंगाल विभाजन का रद्द किया जाना तथा अलीगढ़ कालेज को विश्वविद्यालय की मान्यता की अस्वीकृति इसके प्रमाण हैं।

इसके बाद कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच हुआ लखनऊ समझौता साम्प्रदायिक उभार को रोकने में कुछ समय तक सफल अवश्य रहा किन्तु लीग की साम्प्रदायिक माँगों की स्वीकृति कांग्रेस के अखिल भारतीय धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर प्रश्नचिह्न भी है और सीमा भी इस रूप में कि 1918 के बाद से ही लीग पर उलेमाओं का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। साम्प्रदायिक भावना इसलिये भी बढ़ती जा रही थी कि हिन्दू महासभा (1915) के रूप में हिन्दू सम्प्रदायवादियों को भी एक मंच प्राप्त हो गया था।

खिलाफत आन्दोलन के अतिशय धार्मिक प्रकृति के बावजूद कांग्रेस द्वारा उसका समर्थन साम्प्रदायिकता के इतिहास में एक ऐसा मोड़ है, जिससे कांग्रेस द्वारा समस्त भारतीयों की ओर से बोलने का अपना अधिकार सीमित कर लिया जाता है और खिलाफत आन्दोलन की असफलता का आरोप भी उसे झेलना पड़ता है। यहाँ से साम्प्रदायिक गतिविधियों का उभार तेजी से होता है, साथ ही राष्ट्रीय मुद्दों पर भी मुस्लिम लीग का समर्थन मिलना लगभग बन्द हो जाता है। जैसा कि साइमन कमीशन तथा नेहरू रिपोर्ट पर उसके रुख से स्पष्ट है।

जनसंख्या के आंकिक पक्ष की उपेक्षा करते हुये भी मुस्लिम लीग द्वारा अधिक प्रतिनिधित्व की माँग उसके साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ही पुष्ट करती है। साथ ही कांग्रेस की द्विविधाग्रस्त स्थिति के प्रति हिन्दू महासभा जैसे– हिन्दू संगठन का प्रभाव दबाव के रूप में कार्यरत था। इसके पीछे यह तथ्य निहित है कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों की ही सदस्यता का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं था। ऐसी स्थिति में धार्मिक एव साम्प्रदायिक संगठनो के सदस्य होते हुए भी लोग इन राजनीतिक दलों के लिये कार्य करते थे। इसलिये साम्प्रदायिकता पर कोई प्रभावी नियंत्रण सम्भव नहीं हो सका।

इस स्थिति में औपनिवेशिक शासन को यह अवसर मिलता गया कि वह अपनी सुविधानुसार अपनी नीतियों को संचालित करे। गोलमेज परिषद के परिणाम, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की निराशाजनक परिणति एवं 1935 के सुधार अधिनियमों में उसकी प्रतिबद्धता अपने हितों की पूर्ति की दिखायी देती है। 1937 के चुनावों के बाद बने कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के पास प्रभावी शक्ति न होने के कारण सुचारु रूप से कार्य न कर पाने को मुस्लिम लीग द्वार दुष्प्रचारित किया जाना साम्प्रदायिक दृष्टि से ही हो रहा था क्योंकि मुस्लिम लीग बार–बार हिन्दी, वन्देमातरम् एवं राष्ट्रीय झण्डे के प्रश्न पर कांग्रेस के दृष्टिकोण को हिन्दू प्रभुत्व के रूप में प्रचारित कर रही थी। क्रिप्स

प्रस्ताव एवं वेवेल योजना पर किसी सहमति के न बन पाने के पीछे साम्प्रदायिक मन्तव्य ही निहित था क्योंकि दो राष्ट्र सिद्धान्त अब स्पष्ट आकार ले चुका था। जिसकी अगली कड़ी के रूप में कैबिनेट प्रस्तावों पर अस्वीकृति एवं 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर भड़के दंगे साम्प्रदायिक राजनीति को न केवल अन्तिम बिन्दु तक ले जाते हैं बल्कि भविष्य के लिये संकेत भी छोड़ जाते हैं।

इस पूरी राजनीतिक प्रक्रिया में केवल धार्मिक दृष्टि को प्रभावी मानना तथ्यात्मक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण ही नहीं बल्कि निष्कर्ष का अति सरलीकरण होगा। यह सत्य है कि धार्मिक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ने मामले को उलझाया जरूर था, किन्तु इसके पीछे अविकसित अर्थव्यवस्था एवं अल्पविकास का महत्वपूर्ण हाथ था। मुसलमानों की यह सोच थी कि सरकारी नौकरियों एवं व्यवसायों में यदि उनका हिस्सा बढ़ा दिया जाय तो उनकी स्थिति मजबूत होगी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक सोच के हिन्दुओं एवं हिन्दू संगठनों का मानना था कि यदि यह हिस्सा बढ़ जाता है तो उनके हित प्रभावित होंगे। ऐसी स्थिति में स्वार्थी तत्वों को अवसर मिलता गया तथा साम्प्रदायिक समस्या जटिलतर होती गयी।

पूर्वी—उत्तर प्रदेश में हिन्दुओं एवं मुसलमानों की सामाजिक—आर्थिक संरचना ने समस्या को और अधिक उलझाया। सरकारी नौकरियों में मुसलमानों का अधिकांश प्रतिनिधित्व निचले स्तर की नौकरियों तक सीमित था तथा अधिकांश मुसलमान व्यवसायिक दृष्टि से बुनकरी के पेशे में संलग्न थे। यह आधिक्य इसलिये था कि प्रायः इनमें धर्मान्तरित मुसलमानों की संख्या अधिक थी।अल्पविकास का कारण शिक्षा का अभाव भी था। हिन्दुओं की आर्थिक स्थिति तुलनात्मक रूप से ही अच्छी थी क्योंकि उनके पास भूसंसाधन के रूप में एक प्रमुख आर्थिक आधार था, किन्तु इसका संकेन्द्रण ब्राह्मण, राजपूत एवं भूमिहार जैसी उच्च जातियों तक था। यद्यपि कि सैयद, शेख एवं पठान जैसे उच्च मुस्लिम वर्ग के पास भी कुछ जमींदारियाँ थीं, किन्तु ब्रिटिश शासन के विस्तार से जमींदारियाँ सिकुड़ती गयीं। ऐसी स्थिति में आर्थिक नियंत्रण एक प्रमुख कारण बना। निम्न जातियों की ओर से अपने स्तरोन्नयन के प्रयास की प्रवृत्ति दिखायी देती है। भिन्न—भिन्न मुद्दों के आधार पर हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों में अलग—अलग जातियॉ अपने हितों के प्रति संगठित हो जाती थीं। लेकिन साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति में ये लोग अपने—अपने वर्ग की जमींदार जातियों के पक्ष में संगठित हो जाते थे तथा व्यापक रूप से घटित हिंसात्मक गतिविधियों में इनकी प्रभावी भागीदारी होती थी।

इस क्षेत्र में तनाव बढ़ाने में हिन्दी–उर्दू विवाद एवं गोरक्षा आन्दोलन की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उर्दू–हिन्दी विवाद ने लोगों की मानसिक स्थिति को साम्प्रदायिक दृष्टि से पुष्ट किया और आर्थिक संसाधन एवं धार्मिक मान्यता के प्रतीक रूप गाय से जुड़े गोरक्षा आन्दोलन से हिंसात्मक घटनायें प्रस्फुटित हुईं। इन दोनों ही आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन की प्रवृत्तियाँ कार्य कर रहीं थीं। हिन्दी–उर्दू विवाद में प्रायः यह देखने में आया कि हिन्दू उच्चवर्ग हिन्दी का और मुस्लिम अभिजात वर्ग उर्दू का पक्षधर था। हिन्दी उस समय तक उच्च वर्ग के कुछ साक्षर लोगों तक सीमित थी जबकि उर्दू सरकारी काम–काज की भाषा होने के कारण हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के लिये समान रूप से न केवल शिक्षा का साधन थी, बल्कि जीविका से भी जुड़ी हुई थी।

पुनरुद्धार आन्दोलन के द्वारा उर्दू को विदेशी भाषा के रूप में प्रचारित किया जाने लगा तथा यह माँग की जाने लगी कि हिन्दी को सरकारी कामकाज की भाषा बनाया जाय क्योंकि यह बहुसंख्यक हिन्दुओं की भाषा है। ऐसी स्थिति में मुसलमानों की ओर से यह माँग की जाने लगी कि उर्दू को हटाया न जाय क्योंकि उसकी एक लम्बी परम्परा है। दोनों पक्षों के पीछे यह दृष्टिकोण कार्य कर रहा था कि जहाँ साक्षर हिन्दू, हिन्दी को इसलिये प्रशासनिक भाषा बनाना चाहते थे कि वे व्यवसायिक एवं सांस्कृतिक प्रभुता स्थापित कर सकें वहीं मुसलमान यह चाहते थे कि उनका हित बाधित न हो। इस प्रकार इस विवाद से सांस्कृतिक तौर पर हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा बनी। दोनों समुदायों द्वारा भाषा को साम्प्रदायिक पहचान देने के कारण हिन्दुओं एवं मुसलमानों की सामाजिक, राजनीतिक गतिशीलता दो विपरीत ध्रुवों पर बढ़ती गयी।

इसी प्रकार हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के व्यापक होते क्षितिज ने गोरक्षा आन्दोलन के द्वारा गायों की सुरक्षा के नाम पर हिन्दुओं को उद्वेलित किया। बकरीद पर की जाने वाली गोकुशी को रोकने के पीछे धार्मिक दृष्टि ही काम कर रही थी। इस दौरान अनेक हिंसक वारदातें हुईं। इससे लोगों में स्पष्टतः हिन्दू एवं मुसलमान होने का विचार अधिक दृढ़ हुआ तथा लोगों का रुख आक्रामक हो गया। जहाँ उच्च जातीय लोगों ने इसे वैचारिक रूप से प्रचारित–प्रसारित किया, वहीं निम्नजातीय कट्टर लोगों ने अपनी क्रियात्मक सहभागिता सुनिश्चित की। इसमें प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति ने स्थिति को अधिक जटिल बनाया क्योंकि पूर्व में कुछ मुसलमानों द्वारा राजपूत जमींदारों को

विस्थापित कर दिया गया था जो अब वे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रभावी स्थिति बनाने के लिए प्रयत्नशील थे।

इस प्रकार इस आन्दोलन से हिन्दुओं में यह धार्मिक सक्रियता पैदा हुई कि धर्म के नाम पर गायों की रक्षा की जाय तो दूसरी ओर मुसलमान भी अपनी धार्मिक परम्परा को कायम रखने के लिए दृढ़ थे। इसमें बहुसंख्यक जुलाहों की कट्टर प्रवृत्ति कार्य कर रही थी। लेकिन एक तथ्य यह उभरता है कि उच्च जातीय हिन्दुओं एवं निम्न जातियों के बीच कोई सांगठनिक एकता कायम नहीं हो सकी। कमोवेश यही स्थिति मुसलमानों की भी थी। इससे स्पष्ट होता है कि सारी स्थितियों का संचालन उच्चवर्गों द्वारा अपने हितों को बनाये रखने के लिये हो रहा था, लेकिन यह स्पष्ट है कि सम्प्रदायगत विभेद को बढ़ाने में यह आन्दोलन सफल रहा।

इस स्थिति में ब्रिटिश सत्ता द्वारा अलगाववादी संगठनों को बढ़ावा दिया जाने लगा जिससे सामुदायिक वैमनस्य की भावना आम हो गयी तथा आपसी घृणा एवं भय की भावना तीव्रता से फैली। खिलाफत की असफलता के बाद हिन्दू प्रतिक्रिया स्वरूप चले शुद्धि एवं संगठन आन्दोलनों में हिन्दू महासभा की भी भूमिका थी तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिले भी इससे प्रभावित हुये। कांग्रेस के क्रियाकलापों से भी बहुत हद तक इस तरह की प्रवृत्तियों को विकसित होने में मदद मिली, क्योंकि इस तरह के आन्दोलन से बहुत पहले से ही इसके कुछ नेता जुड़े हुये थे। रामलीला समारोह, धार्मिक जुलूस तथा मस्जिदों के सामने संगीत जैसे मुद्दों पर दोनों सम्प्रदायों की तमाम असहमतियों ने साम्प्रदायिक जटिलता में वृद्धि की।

सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में साहित्यकारों द्वारा प्रायः उन सभी मुद्दों पर लेखनी चलायी गयी जो इस आन्दोलन में अन्तर्निहित थीं। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों को न केवल साम्प्रदायिकता की जटिलता की समझ थी अपितु उसके कारण एवं परिणामों का भी उन्हें पूरा ज्ञान था। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने अपने साहित्य में तत्कालीन साम्प्रदायिक स्थितियों का प्रतीकात्मक चित्रण किया है वहीं साम्प्रदायिकता के भयावह परिणामों से देश को सुरक्षित बचा लेने की कोशिश में उस पर न केवल जमकर प्रहार किया है, अपितु समन्वय स्थापित करने की स्थितियों के संकेत भी दिये हैं। इस पूरे परिवेश में कम से कम भाषा का प्रश्न ऐसा था जो सीधे इनसे जुड़ा था स्वाभाविक था वे इससे उद्वेलित भी हुये।

साहित्यकारों ने अपने पात्रों के माध्यम से समकालीन समाज में व्याप्त साम्प्रदायिक सक्रियता को चित्रित किया है। भारतेन्दु अपने लेखन कर्म में राजभक्ति एवं देशभक्ति दोनों का साथ–साथ निर्वाह तो करते ही हैं, इसके साथ ही उन तमाम स्थितियों का चित्रण करते हैं जिनसे भारत में साम्प्रदायिक स्थितियों का निर्माण हुआ। इसके लिए वे भारतीय इतिहास के गौरवशाली अतीत एवं मध्यकालीन इतिहास की घटनाओं को भी उल्लिखित करते हैं। इसमें तमाम प्रतीकों एवं मिथकों का उपयोग करते हैं, जिनसे साम्प्रदायिकता के विकास की स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं। इसीलिए वे वर्तमान की तनावपूर्ण स्थितियों पर क्षोभ प्रकट करते हैं किन्तु अपने लेखन में इस बात का ध्यान रखा है कि किसी की भावनायें आहत न हों। साथ ही समस्त पूर्वाग्रहों को छोड़कर सौहार्द स्थापित करने की कोशिश भी उनके लेखन में दिखायी देती है क्योंकि राजभक्त होने के बावजूद साम्राज्यवादी खतरों की उन्हें अच्छी पहचान थी।

हरिऔध का साहित्य जातीय आग्रहों से भरा पड़ा है। उनके साहित्य में यद्यपि कि अतीत एवं हिन्दू धर्म के प्रति झुकाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है किन्तु उन शब्दों एवं प्रतीकों का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है जिनसे प्रत्यक्षतः साम्प्रदायिक भावना फैले। लेकिन जातीयता एवं हिन्दुत्व के प्रति आग्रह उनकी रचनाओं में आद्योपान्त मिलता है। इसीलिये वे गोरक्षा आन्दोलन का समर्थन करते हैं तथा गोधन के विध्वंस पर दुख भी प्रकट करते हैं। हरिऔध के आखिरी दिनों की कृति कल्पलता में उनका स्वर काफी मुखर हो उठता है और साम्प्रदायिक दृष्टि से संवेदनशील मुद्दों देवमन्दिरों के ढहाने, मूर्तियों के तोड़े जाने तथा धार्मिक उत्सवों में बाधा पहुँचाने की स्थिति का चित्रण करते हैं। गौर करने की बात यह है कि यह लेखन उस समय हो रहा था, जबकि साम्प्रदायिक दृष्टि से स्थितियाँ काफी जटिल हो गयी थीं। इस प्रकार हरिऔध के साहित्य में स्पष्ट शब्दों प्रतीकों का प्रयोग न होने के बावजूद जातीय आग्रह भरा पड़ा है।

प्रेमचन्द का साहित्य सच्चे अर्थों में जन साहित्य था। यही कारण है कि उनका साम्प्रदायिक वातावरण का चित्रण भी काफी जीवन्त है। उन्होंने हिन्दुओं एवं मुसलमानों के मध्य प्रखर रूप से व्याप्त वैमनस्य की भावना को काफी बेबाकी से चित्रित किया है। यह इसलिये भी स्वाभाविक था कि प्रेमचन्द के लेखन काल तक साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष काफी पुष्पित–पल्लवित हो गया था। प्रेमचन्द को दोनों सम्प्रदायों की मनोवृत्तियों की अच्छी समझ थी। इसीलिये वे उन तमाम प्रश्नों से सीधा साक्षात्कार करते हैं जो

दोनों ही समुदायों के बीच विभेद बढ़ाने के लिए जिम्मेदार रहे हैं और वे समान रूप से हिन्दू एवं मुसलमान दोनों पर प्रहार करते हैं। चाहे कुर्बानी का प्रश्न हो, धर्मान्तरण का मुद्दा हो, धार्मिक उत्सवों को लेकर तकरार हो और इन सबसे उद्भूत दंगे हों प्रेमचन्द ने न केवल कलम चलायी है अपितु समन्वय स्थापित करने का सुझाव भी प्रस्तुत किया है। यह और बात है कि प्रेमचन्द का हिन्दू–मुस्लिम एकता का स्वप्न पूरा नहीं हुआ लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न के हल की तलाश धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भों में की।

अपने समकालीन लेखकों की तुलना में जयशंकर प्रसाद धर्म के प्रश्न पर काफी उलझते हैं। शासकों की साम्प्रदायिक भेदनीति की आलोचना भी करते हैं लेकिन धार्मिक दृष्टि से संवेदनशील मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी कम ही चलाते हैं, किन्तु जहाँ वे इसे अपने वर्णन का विषय बनाते हैं वहाँ उन स्थितियों की चर्चा अवश्य करते हैं, जिनसे साम्प्रदायिक सौहार्द टूटता है। साथ ही इसके लिये जिम्मेदार कारकों की चर्चा भी करते हैं। ऐसे मुद्दों पर लेखन कर्म से बचने की कोशिश के बावजूद जहाँ उन्होंने इस पर लेखनी चलायी है वहाँ धार्मिक विभेदों के चित्रण से बच नहीं सके हैं। लेकिन उन्होंने भी सौहार्द स्थापना एवं हल निकालने की कोशिश की है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के साहित्य में साम्प्रदायिक जटिलता का चित्रण बड़ी साफगोई के साथ हुआ है उन्होंने न केवल भारतीय अतीत को गौरवान्वित किया है, अपितु तुलनात्मक रूप से मध्यकाल की स्थितियों के लिए उनका स्वर काफी कठोर है। उनके लेखन कर्म में मध्यकाल की तमाम घटनाओं एवं प्रवृत्तियों पर काफी कठोरता से प्रहार किया गया है। इसीलिए पहली नजर में उनका लेखन कर्म हिन्दुत्व एवं पुनरुत्थानवाद का दस्तावेज लगता है लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि सन्दर्भित रचनाओं के पीछे ठोस कारण एवं साक्ष्य है। ऐसी स्थिति में जब उनकी रचनाओं को सूक्ष्मता से विश्लेषित किया जाता है तो वे साम्प्रदायिक सौहार्द की वकालत करते नजर आते हैं।

इसी प्रकार श्याम नारायण पाण्डेय का रचना कर्म मध्यकालीन घटनाओं पर आधारित होने के कारण उन तमाम बिन्दुओं को प्रकाशित करता है जिसे साम्प्रदायिक दृष्टि से सकारात्मक नहीं कहा जा सकता है। उसके पीछे सम्भवतः परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी हैं क्योंकि यह रचनाकार्य स्वतंत्रता से कुछ ही समय पहले का है और उस समय तक साम्प्रदायिक समस्या काफी उलझ गयी थी। साथ ही पाण्डेय जी आजमगढ़ के उस क्षेत्र से सम्बन्धित थे जो साम्प्रदायिक दंगों के लिए कुख्यात था।

स्पष्टतः यह देखने में आता है कि इन साहित्यकारों ने साम्प्रदायिक स्थिति का जो वर्णन किया है उसके पीछे कोई पूर्वाग्रह कार्य नहीं कर रहा था न ही किसी रचनाकार का उद्देश्य ऐसा होता है, क्योंकि किसी भी रचना की रचनाधर्मिता का महत्वपूर्ण पक्ष उसकी सकारात्मक दृष्टि होती है ऐसी स्थिति में कोई भी रचनाकार नकारात्मक दृष्टिकोण के साथ लेखन नहीं करता है। यहाँ समकालीन साहित्य में साम्प्रदायिकता का जो चित्रण हुआ है, वह स्थितियों की सहज अभिव्यक्ति थी।

साम्प्रदायिक समस्या का दुष्परिणाम विभाजन के रूप में सामने आया और इसमें आर्थिक हानि के साथ भारी संख्या में जनहानि भी हुई। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण हो गया था, जिसे सुलझाने के जितने ही प्रयास किये जाते हैं समस्या उतनी ही उलझती जाती है। तत्कालीन परिवेश में लगभग पूरी—पूरी जनसंख्या ही धार्मिक आधार पर बँट गयी थी। यहाँ तक कि चन्द नेताओं को छोड़कर सबके स्वर बदल गये थे। ऐसी स्थिति में विभाजन के कुछ वर्षों तक तात्कालिक परिणाम के रूप में प्रतिक्रियावादी स्थिति देखने को मिलती है।

इस स्थिति का वर्णन उस समय के साहित्य में भी मिलता है। जिनसे तत्कालीन हिंसात्मक स्थिति, वहशीपन एवं क्रूरता का ज्ञान तो होता ही है, इसके साथ ही यह तथ्य भी उभरते हैं कि सबसे बड़ी बात यह कि विभाजन के लिए दोनों ही समुदायों का अधिसंख्य हिस्सा पक्षधर नहीं था। जैसा कि उस समय की रचनाओं एवं लोगों की स्मृतियों से पुष्ट होता है। यही कारण है कि साम्प्रदायिक मारकाट के बीच ही सौहार्द स्थापना की तमाम कोशिशें भी जारी थीं जिससे कि स्थितियों पर नियंत्रण पाया जा सका।

इस पूरी प्रक्रिया के परिणाम पर ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि स्थितियों में महज इतना ही बदलाव हुआ था कि एक पराधीन देश की जगह दो स्वतंत्र देशों का अस्तित्व कायम हो गया। जहाँ तक मूल समस्या साम्प्रदायिकता का प्रश्न है वह न केवल विभाजन के पश्चात आज भी कायम है, बल्कि तमाम नये सन्दर्भ ग्रहण कर चुकी है। इस प्रकार पूरे परिदृश्य से यह बात स्पष्ट है कि यह सामाजिक—राजनीतिक कुचक्रों का एक ऐसा दुष्परिणाम है जो आज भी पूरे परिवेश को प्रभावित कर रहा है।

सन्दर्भिका

प्राथमिक स्रोत — (अप्रकाशित)

गोरखपुर कमिश्नर्स रिकार्ड रूम विभाग (XVI) फाइल सं. 37/1898—1900.

आजमगढ़ कलेक्ट्रेट रिकार्ड रूम विभाग (XIII) फाइल सं. 146/1894.

डुपरनेक्स रिपोर्ट (डुपरनेक्स, डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट आजमगढ़ द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को भेजी रिपोर्ट) एल./पी. एण्ड जे./6/357.

होम डिपार्टमेंट पब्लिक डिपाजिट फाइल सं. 285/मई 1918, फाइल सं. 16/नवम्बर 1919, जुलाई 1920, फाइल सं. 94, फाइल सं. 95, फाइल सं. 96.

होम पोलिटिकल, फाइल सं. 360—63, फाइल. सं. 109, फाइल सं. 251—9, फाइल सं. 1/1928, फाइल सं. 23/66/1932.

फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यू.पी. अक्टूबर 1919, यू.पी. जून 1920, प्रथम पक्ष, यू. पी. जनवरी 1928 द्वितीय पक्ष, यू. पी. नवम्बर 1928, प्रथम पक्ष

ए.आई.सी.सी. फाइल ई.—1, 1936—37.

यू.पी. जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेंट, फाइल सं. 140/1917, 680/1925, 246/1926, 241/1930.

पुलिस एब्स्ट्रैक्ट ऑफ इंटेलीजेन्स रिपोर्ट — 1 मई 1926, फरवरी 1930, सितम्बर 1930, जनवरी 1931, फरवरी 1931.

प्रकाशित —

यूनाइटेड प्राविन्सेज नेटिव न्यूजपेपर्स रिपोर्ट

आजमगढ़ गजेटियर 1911.

गाजीपुर गजेटियर 1909.

बलिया गजेटियर 1907.

जनगणना रिपोर्ट (भारत) 1951.

रिपोर्ट ऑफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, रूट्स ऑफ कम्यूनल पॉलिटिक्स के रूप में प्रकाशित, संपा. बेरियर एन. जेराल्ड, नयी दिल्ली, 1976.

पत्र एवं पत्रिकायें —

आज	बनारस
लीडर	इलाहाबाद
प्रताप	कानपुर
अभ्युदय	इलाहाबाद
नेशनल हेराल्ड	लखनऊ
हंस	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
माधुरी	इलाहाबाद
विशाल भारत	कलकत्ता
आजकल	दिल्ली
चाँद	इलाहाबाद

पुस्तकें —

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *काव्योपवन*, बाँकीपरु, संगविलास प्रेस, 1909.

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *प्रियप्रवास*, वाराणसी, हिन्दी साहित्य कुटीर, 1941 (पुनर्मुद्रित)

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *पद्य प्रमोद*, बाँकीपुर, प्रकाशक ग्रन्थ माला, 1917.

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *पद्य प्रसून*, दरभंगा, हिन्दी पुस्तक भंडार, 1925.

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *चुभते चौपदे*, पटना, संगविलास प्रेस, 1924.

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *कल्पलता*, गंगा ग्रन्थागार, 1937.

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *पवित्र पर्व*, इलाहाबाद, प्रका. राम नारायण लाल, 1941.

निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, *परिमल*, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1917 (पुनरावृत्ति)

नवल, नन्द किशोर, *निराला रचनावली* भाग—1, 4—6, दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1983.

प्रेमचन्द, *मानसरोवर* भाग—5, इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1985.

प्रेमचन्द, *कर्मभूमि,* इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1981.

प्रेमचन्द, *गुप्तधन* भाग—1, 2, इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1962.

प्रेमचन्द, *सेवासदन,* इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1982.

प्रसाद, जयशंकर, *काव्य कला एवं अन्य निबन्ध,* गोरखपुर, गीता प्रेस, 1939.

प्रसाद, जयशंकर, *कामायनी,* नई दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, 1993.

प्रसाद, रत्नशंकर, संपादक, प्रसाद वाङ्मय खण्ड—1, 2, 3, 4 इलाहाबाद, लोकभारती, 1985.

पाण्डेय, श्याम नारायण, हल्दीघाटी, इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, संस्करण, 1998.

पाण्डेय, श्याम नारायण, जौहर, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1997 (तृतीय संस्करण)

राय, अमृत (संपा.), *प्रेमचन्द विविध प्रसंग* भाग—1, 2, 3 इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1962.

शर्मा, हेमन्त (सम्पा.) , भारतेन्दु समग्र, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1989 (तृतीय संस्करण)

द्वितीयक स्रोत : (प्रकाशित)

अगवानी, एम.एस., *इस्लामिक फण्डामेंटलिज्म इन इंडिया,* चंडीगढ़, ट्रवेन्टी फर्स्ट सेन्चुरी, 1986.

अहमद, अजीज, *इस्लामिक माडर्निज्म इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान,* 1857—1964, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1967.

अहमद, इम्तियाज़ (संपा.), *कास्ट एण्ड सोशल स्ट्रैटीफिकेशन एमंग मुस्लिम इन इंडिया,* नई दिल्ली, साउथ एशिया बुक्स, 1978.

अन्सारी, इकबाल, ए. (संपा.), *द मुस्लिम सिचुएशन एन इण्डिया,* नई दिल्ली, स्टरलिंग, 1989.

अन्सारी, गौस, *मुस्लिम कास्ट इन उत्तर प्रदेश*, लखनऊ, द एथनोग्राफिक एण्ड फॉक कल्चर सोसाइटी यू.पी., 1960.

अग्रवाल, रीतेश मोहन, *हिन्दू–मुस्लिम्स रायट्स : दीयर काजेज एण्ड क्योर*, लखनऊ, इण्टरनेशनल सोशल लिट्रेचर पब्लिशिंग कम्पनी, 1943.

बेली, सी.ए., *द लोकल रूट्स ऑफ पालिटिक्स : इलाहाबाद*, 1880–1920, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1975.

बेनी, प्रसाद, *हिन्दू–मुस्लिम क्वेश्चन्स*, इलाहाबाद, 1941.

ब्रास, पाल आर., *लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया*, लन्दन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1974.

ब्रेनन, लान्स, *द इल्यूशन ऑफ सेक्यूरिटी : द बैकग्राउण्ड टु मुस्लिम, सेप्रेटिज्म इन द यूनाइटेड प्राविन्सेज*, मुशीरुल हसन (संपा.), *इंडियाज पार्टीशन, प्रोसेस, स्ट्रेटजी एण्ड मोबिलाइजेशन*, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1994.

चन्द्र, बिपन, *आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय*, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996.

चक्रवर्ती, विद्युत (संपा.), *सेक्यूलरिज्म एण्ड इण्डियन पालिटी*, नई दिल्ली, सेगमेन्ट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1990.

चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, नई दिल्ली, 1997.

चाँद, एस.एम., *नेशलन लीडर्स आन कम्यूनलिज्म*, जयपुर, 1985.

कूपलैंड, आर., *काँस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इण्डिया*, लंदन, 1944.

चतुर्वेदी, राम स्वरूप, *'प्रसाद, निराला, अज्ञेय'* इलाहाबाद, लोकभारती, 1997.

चेलिसेव, ये. पे., *सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला*, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1982.

चन्दर, सुनील, *कांग्रेस राज कान्फ्लिक्ट एण्ड राइज ऑफ द मुस्लिम लीग इन द मिनिस्ट्री पीरियड 1937–39 मार्डन एशियन स्टडीज*, 21.2, 1987.

दास, वीना (संपा.), *कम्युनिटीज, रायट्स एण्ड सर्वाइवर्स इन साउथ एशिया,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990.

दलवी, हामिद, *मुस्लिम पालिटिक्स इन इंडिया,* बाम्बे 1968.

दीक्षित, प्रभा, *कम्यूनलिज्म : ए. स्ट्रगल फार पावर,* दिल्ली, ओरियन्ट लांगमैन, 1974.

देसाई, ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, 1976.

दास, सुरंजन, *कम्यूनल चैलेन्ज इन बंगाल पालिटिक्स,* 1940–42, नई दिल्ली, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, 1993.

धुर्ये, जी.एस., *सोशल टेन्शन इन इंडिया,* बम्बई, पापुलर प्रकाशन, 1968.

दत्त, आर.पी., *इंडिया टुडे,* बम्बई, 1943.

देवी शिवरानी, *प्रेमचन्द घर में,* दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स, 1983.

इंजीनियर, असगर अली, *इण्डियन मुस्लिम्स : ए स्टडी ऑफ द माइनारिटी प्राब्लम्स् इन इंडिया,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1985.

इंजीनियर, असगर अली, *कम्यूनलिज्म एण्ड कम्यूनल वायलेन्स इन इंडिया : पोलिटिकल एप्रोच टु हिन्दू–मुस्लिम कन्फ्लिक्ट,* नई दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1989.

इंजीनियर, असगर अली, *कम्यूनलिज्म इट्स फैक्ट्स एण्ड रायट्स, मेनस्ट्रीम* (XXIV), जून, 1986.

इंजीनियर, असगर अली, *व्हाई एण्ड हाउ आफ कम्यूनल रायट्स, मेनस्ट्रीम* (XIX), अक्टूबर, 1980.

इंजीनियर, असगर अली (संपा.), *कम्यूनल रायट्स इन पोस्ट इंडिपेन्डेंस इण्डिया,* हैदराबाद, संगम बुक्स, 1984.

इंजीनियर असगर अली एण्ड शाकिर मोइन (संपा.), *कम्यूनलिज्म इन इंण्डिया,* दिल्ली अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1985.

एकराम, एस.एस., *मार्डन मुस्लिम इंडिया एण्ड द बर्थ ऑफ पाकिस्तान 1858–1951,* लाहौर, 1965 (द्वितीय संस्करण)

फ्रिटॉग, सान्ड्रिया, *कलेक्टिव एक्शन एण्ड कम्यूनिटी : पब्लिक एरेन्स एण्ड द इमर्जेन्स ऑफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1990.

घोष, एस. के., *कम्यूनल रायट्स इन इंडिया,* नई दिल्ली, आशीष पब्लिशिंग हाउस, 1987.

गोपाल, आर, *ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मुस्लिम्स* (1858—1947) न्यू क्रियेशन, 1988.

गोपाल, एस., *जवाहर लाल नेहरू : ए बॉयग्राफी,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983.

गोपाल, एस., *ब्रिटिश पालिसी इन इण्डिया (1858—1905),* नई दिल्ली, 1975.

गोपााल, एस. (संपा.), *एनाटमी ऑफ ए कन्फ्रन्टेशन : द बाबरी मस्जिद—राम जन्मभूमि इश्यू,* नई दिल्ली, पेंगुइन इंडिया लिमिटेड, 1991.

गार्डनर, एल. एण्ड इलियट, ए., *द हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकोलाजी,* खण्ड—IV, नई दिल्ली, एमेरिन्ड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1969.

गोलवरकर, एम.एस., *वी आर आवर नेशनहुड डिफाइंड,* नागपुर, 1947.

गोयल, डी. आर., *राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ,* दिल्ली, 1979.

गुप्ता, एन.एल. (संपा.), *नेहरू आन कम्यनूलिज्म,* नई दिल्ली, 1965.

गाँधी, एम. के., *कलेक्टेड वर्क्स,* (विभिन्न खण्ड) अहमदाबाद

हक, मुशीर अल, *इस्लाम इन सेकुलर इंडिया,* शिमला, इंडियन इन्स्टटीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, 1972.

हार्डी, पीटर, *मुस्लिम ऑफ ब्रिटिश इंडिया, लन्दन,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1972.

हसन, मुशीरुल, *नेशललिज्म एण्ड कम्यूनल पालिटिक्स इन इण्डिया,* 1916—1928, नई दिल्ली, मनोहर, 1979.

हसन मुशीरुल, *एडजेस्टमेंट एण्ड एकमोडेशन : इंडियन मुस्लिम्स आफ्टर पार्टीशन, सोशल साइंसिस्ट,* भाग—18, अगस्त—सितम्बर, अंक 8—9, 1990.

हसन, मुशीरुल (संपा.), *इण्डियाज पार्टीशन, प्रोसेस स्ट्रेट्जी एण्ड मोबिलाइजेशन,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1994.

हुसेन, एस. आबिद, *द डेस्टिनी ऑफ इण्डियन मुस्लिम,* बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1965.

इमाम, जफर (संपा.), *मुस्लिम्स इन इंडिया,* नई दिल्ली, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1975.

ईश्वरी प्रसाद एवं सूबेदार, एस.के., *हिन्दू–मुस्लिम प्राब्लम्स,* इलाहाबाद, गुहा पब्लिकेशन्स, 1974.

जैन, एम.एस., *अलीगढ़ मूवमेन्ट्स : वर्जिन एण्ड डेवलपमेंट,* 1858–1906, आगरा, 1965.

खलीकुज्जमाँ, चौधरी, *पाथवे टु पाकिस्तान,* लाहौर लांगमैन्स, 1961.

कुप्पूस्वामी, बी., *एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलाजी,* एशिया पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, 1980.

कबीर, हुमायूँ, *माइनारिटीज इन ए डेमोक्रेसी,* कलकत्ता, 1985.

कृष्ण, के.बी., *द प्राब्लम ऑफ माइनारिटीज,* लंदन, 1939.

कीर्तिलता, *भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य,* इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1967.

लॉडग्रीन हेनरी क्ले, *एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलाजी,* नई दिल्ली, विली इस्टर्न लिमिटेड

लैरी कालिन्स एण्ड लेपियर डॉमनीक, *फ्रीडम एट मिडनाइट,* नई दिल्ली, तरंग प्रकाशन, 1989.

मदन, टी.एन. (संपा.), *मुस्लिम कम्युनिटीज इन साउथ एशिया,* दिल्ली विकास, 1976.

मासलॉस, जिम (संपा.), *स्ट्रगलिंग एण्ड रूलिंग द इण्डियन नेशनल कांग्रेस (1885–1985),* लन्दन, ओरियन्टल युनिवर्सिटी प्रेस, 1987.

मोहन्ती, एम., *ए डेमोक्रेटिक राइट्स पर्सपेक्टिव,* लोकायन बुलेटिन, 1987.

मुकर्जी, आर.के., *फंडामेंटल युनिटी ऑफ इंडिया,* लन्दन, 1914.

मैन्शर्ट, सी., *हिन्दू–मुस्लिम प्राब्लम इन इंडिया,* लंदन, 1936.

मैकलेन, जे.आर., *इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड अर्ली कांग्रेस,* प्रिस्टिन, 1977.

मदान, इन्द्रनाथ (संपा.), *प्रसाद की प्रतिभा,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1971.

नगेन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* मयूर पेपर बैक्स, 1966.

नेहरू, जवाहर लाल, *सेलेक्टेड वर्क्स* (विभिन्न खण्ड) संपा. गोपाल, एस. दिल्ली

नेहरू, जवाहर लाल, *द डिस्कवरी ऑफ इंडिया,* लन्दन, 1951 (तृतीय संस्करण)

पार्थसारथी, जी. (संपा.), *जवाहर लाल नेहरू : लेटर्स टु चीफ मिनिस्टर,* 1947—64, दिल्ली, 1987.

पाण्डेय, बी.एन., *लीडरशिप इन साउथ एशिया,* नई दिल्ली, विकास, 1977.

पाण्डेय, ज्ञानेन्द, *एसेडेन्सी ऑफ, द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश 1926—34 : ए स्टडी इन इम्परफेक्ट मोबलाइजेशन,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस., 1978.

पाण्डेय, ज्ञानेन्द, *द कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इण्डिया,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990.

पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र, *रैलिंग राउण्ड द काऊ : सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन,* रंजीत गुहा के सब आल्टर्न स्टडीज 2 में, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983.

पाण्डेय, राजेन्द्र, *सोशियोलाजी ऑफ अण्डर डेवलपमेंट : थीसिस एण्ड क्रिटीक,* दिल्ली, मित्तल पब्लिकेशन

पीरजादा, एस.एस. (संपा.), *फाउण्डेशन ऑफ पाकिस्तान : आल इण्डिया मुस्लिम लीग डाक्यूमेंट्स,* खण्ड—2, करॉंची, 1970.

प्यारेलाल, *महात्मा गाँधी, लास्ट फेज,* द्वितीय भाग, अहमदाबाद, 1958.

प्रेमशंकर, *प्रसाद का काव्य,* दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1998.

पाण्डेय, गंगा प्रसाद, *महाप्राण निराला,* प्रयाग साहित्यकार संसद, सं. 2006.

फिलिप, सी.एच. एण्ड वेनराइट मेरी डोरेन (संपा.), *पार्टीशन ऑफ इडिया : पालिटिक्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स 1935—47,* लन्दन, एलन एण्ड अनविन, 1970.

राय आलोक, *हिन्दी नेशनलिज्म, दिल्ली, ओरियन्ट लांगमैन लिमिटेड,* नई दिल्ली, 2001.

राबिन्सन, फ्रांसिस, *सेप्रेटिज्म एमँग इण्डियन मुस्लिम्स : द पालिटिक्स ऑफ द यूनाइटेड प्राक्सिेज, मुस्लिम्स,* 1860—1923 लन्दन, कैम्ब्रिज युनिविर्सिटी प्रेस, 1974.

राजगोपाल, पी.आर., *कम्यूनल वायलेन्स इन इण्डिया,* उप्पल पब्लिशिंग हाउस, 1987.

रिजवी, सैयद मो. अकील, *इलाहाबाद की संस्कृति एवं शायरी,* इलाहाबाद संग्रहालय, 1996.

रब्बानी, तबन गुलाम, *न्यू डाइमेन्सन्स ऑफ कम्यूनलिज्म, मेनस्ट्रीम,* अगस्त, 1981.

सरकार, सुमित, *आधुनिक भारत,* 1885—1947, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, हिन्दी, संस्करण, 1992.

शाकिर, मोइन, *खिलाफत टु पार्टीशन : ए सर्वे आफ मेजर ट्रेन्डस एमँग इण्डियन मुस्लिम्स ड्यूरिंग 1919—1947,* नई दिल्ली, कलमकार प्रकाशन, 1972.

शाकिर, मोइन, *पालिटिक्स ऑफ मॉइनारिटीज : सम पर्सपेक्टिव्स,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1980.

शाकिर, मोइन, *इस्लाम इन इण्डियन पालिटिक्स,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1983.

शर्मा कमलेश, *रोल आफ मुस्लिम्स इन इंडियन पालिटिक्स,* 1857—1947 नई दिल्ली, इण्टर इण्डिया, 1985.

सिंह, वी.वी., *कम्यूनल वायलेन्स,* रावल पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1993.

स्मिथ, डब्ल्यू. सी., *मार्डन इस्लाम इन इण्डिया : ए सोशल एनालिसिस,* नई दिल्ली, 1979.

सावरकर, वी.डी., *हिन्दुत्व,* पुणे, 1949.

सावरकर, वी.डी., *हिन्दू राष्ट्रदर्शन : ए कलेक्शन ऑफ प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज,* बम्बई, 1949.

सिंह अनीता इन्दर, *द वर्जिन्स ऑफ द पार्टीशन ऑफ इण्डिया (1936—47),* आक्सफोर्ड, 1995.

शर्मा, हेमन्त, *भारतेन्दु समग्र,* वाराणसी, हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1989 (तृतीय संस्करण)

शंभूनाथ (संपा.), *भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, आनेवाला कल प्रकाशन,* 1986.

शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1956.

सीतारमैया, पी., *कांग्रेस का इतिहास, अनु. हरिभाऊ उपाध्याय,* दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1936.

सिंह, दूधनाथ, *निराला : आत्महन्ता आस्था,* इलाहाबाद, लोकभारती, 1972.

शर्मा, राम विलास, *निराला की साहित्य साधना,* भाग दो, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

व्यास, विनोद शंकर, *प्रसाद और उनके समकालीन,* वाराणसी, हिन्दी साहित्य कुटीर सं. 2017.

युगेश्वर डॉ., *सबके प्रेमचन्द,* वाराणसी, भारतीय साहित्य आस्थान, काशी विद्यापीठ, 1983.

जकारिया रफीक, *राइज ऑफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पालिटिक्स : एन एनालिसिस ऑफ डेवलपमेन्ट्स फ्राम 1885 टु 1906,* बम्बई, सोमैया पब्लिकेशन्स, 1970.

अप्रकाशित –

असलम, मोहम्मद, *एलीट वर्सेस अर्टजन लीडरशिप : मुस्लिम्स एण्ड पालिटिक्स इन उत्तर प्रदेश 1947–92, डी.फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध,* ला टोब्रे युनिवर्सिटी, बुन्डूरा विक्टोरिया, आस्ट्रेलिया, 1993.

कात्यायनी, *निराला की राष्ट्रीय चेतना,* सेमिनार 16–19 सितम्बर, 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी शिमला

नवल, नन्द किशोर, *स्वाधीनता आन्दोलन और निराला की कविता, सेमिनार* 16–19 सितम्बर, 1997 इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, शिमला

श्रीवास्तव, शिखा, *अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध की भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन,* (अप्रकाशित) डी.फिल, उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इ.वि.वि. 1982.

वर्मा, अर्चना, *निराला का अद्वैत और स्वाधीनता संघर्ष,* सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, शिमला